ममहि कारए ण तमेव समहि पडिलब्भई ।

—भगवती सूत्र ७/१

जो दूसरो के मुख एव कल्याण का प्रयत्न करता है वह स्वय भी सुख और कल्याग को प्राप्त होता है ।

१

अपरिग्रह : मानव-जीवन का भूषण

□ आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा०

हजारों धर्मोपदेशकों के उपदेश, प्रचारकों का प्रचार और राज्य के नवीन अपराध निरोधक नियमों के बावजूद भी जनता मे पाप क्यों नही कम हो रहे, लोभ को सब कोई बुरा कहते है फिर भी देखा जाता है—कहने वाले स्वय अपने संग्रह को बढाने की ओर ही दौड़ रहे है। ऐसा क्यो ? रोग को मिटाने के लिए उसके कारणो को जानना चाहिए।

पाप घटाने के लिये भी उसके कारणो को देखना आवश्यक है। शास्त्र मे आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि दस संज्ञाएँ बताई गई है। संसार के आबाल वृद्ध जीव मात्र इन सज्ञाओं से त्रस्त है। सामायिक के बाद, हम प्रतिदिन आलोचना करते है कि चार सज्ञाओं में से कोई संज्ञा की हो "तस्स मिच्छामि दुक्कड़" पर किसी सज्ञा में कमी नही आती। आहार, भय और मैथुन संज्ञा मे अवस्था पाकर फिर भी कमी आ सकती है, पर लोभ-परिग्रह संज्ञा अवस्था जर्जरित होने पर भी कम नहीं होती। इसके लिये सूत्रकार ने ठीक ही कहा है—

"जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ।"

लाभ वृद्धि के साथ लोभ भी बढ़ता है, इसीलिए तो अनुभवियों ने कहा है—"तृष्णैका तरुणायते", समय आने पर सब में जीर्णताजन्य दुर्बलता आती है, पर करोड़ों-अरबों वर्ष बीतने पर भी तृष्णा बूढी नही होती बल्कि वह तरुण ही बनी रहती है।

लोभेच्छा की वृद्धि के, शास्त्र में अन्तरंग और बहिरंग दो कारण बताये है। लोभ, मोह या रतिराग का उदय एव मूर्च्छा भाव आदि अन्तर के मूल कारण है। खान-पान, अच्छा रहन-सहन, यान-वाहन, भवन-भूषण आदि दूसरे के बढे-चढ़े परिग्रह को देखने-सुनने से लोभ भावना बढ़ती है। परिग्रह का चिन्तन भी लोभ वृद्धि का प्रमुख कारण है। मेरे पास कौडी नही, स्वर्ण-रत्न के आभूषण नही और अमुक के पास है, इस प्रकार अपनी कमी और दूसरों की बढती का चिन्तन करने से परिग्रह संज्ञा बढ़ती है।

परिग्रह घटाइये, सादगी बढ़ाइये

गाँव मे परिग्रह का प्रदर्शन कम है तो वहाँ वस्त्राभूषण आदि के संग्रह का नमूना भी अल्प दृष्टिगोचर होता है । शहर और महाजन जाति मे परिग्रह का प्रदर्शन अधिक है तो वहाँ पाप मानते हुए भी वस्त्राभूषण, धन-धान्य आदि का सग्रह अधिक दृष्टिगोचर होता है, क्योकि परिग्रह के उन साधनो से ही आदमी का मूल्याकन होता है । कितना ही व्रती, सेवाभावी, गुणी एव विद्वान् भी क्यो न हो, सादी वेश-भूपा मे हो तो आदर प्राप्त नही करता, यदि बढिया वेश और उच्च स्तरीय आकर्षक रहन-सहन हो तो दर्शकजनो की दृष्टि में बड़ा माना जाता है । यही दृष्टि-भेद सग्रह-वृत्ति और लोभ-वृद्धि का प्रमुख कारण है ।

अपरिग्रह भाव को बढाने के लिए सामाजिक व्यवस्था और बाह्य वातावरण सादा एव प्रदर्शन रहित होना चाहिए ।

आग्ल शासको की अधीनता से मुक्त होने को गाँधीजी ने सादा और बिना प्रदर्शन का अल्प परिग्रही जीवन अपनाया था । बडे-बडे धनी, उद्योगपति और अधिकारी भी उस समम सादा जीवन जीने लगे । फलस्वरूप उन दिनो सेवा और सेवावृत्ति को ऊँचा माना जाने लगा । लोगो मे न्यायनीति, सेवा और सदाचार चमकने लगा । आज फिर सामाजिक स्तर से देश को सादगी का विस्तार करना होगा, प्रदर्शन घटाना होगा । जब तक ऐसा नही किया जाय, तब तक परिग्रह का बढता रोग कम नही हो सकता ।

प्रदर्शन करने वाले के मन मे ईर्ष्या, मोह और अहकार उत्पन्न होता है और दूसरो के लिये उसका प्रदर्शन, ईर्ष्या, हरणबुद्धि, लालच एव आर्त्त-उत्पत्ति मे कारण होता है, अत. प्रदर्शन को पाप-वृद्धि का कारण समझ कर त्यागना परिग्रह सज्ञा घटाने का कारण है । आज ससार मे परिग्रह की होड लगी हुई है । ऐसी परिस्थिति मे परिग्रह भाव घटाने मे निम्न भावनाएं अत्यन्त उपयोगी हो सकती है—

१ परिग्रह भय, चिन्ता और चचलता का कारण एव क्षणभगुर है ।
२. परिग्रही वृत्ति के पशु-पक्षी मनुष्य की अपेक्षा सुखी और प्रसन्न रहते है ।
३ परिग्रह मानव को पराधीन बनाता है, परिग्रही बाह्य पदार्थों के अभाव मे चिन्तित रहता है ।
४ परिग्रह की उलझन मे उलझे जीव को शान्ति नही मिलती ।
५ सन्तोष ही सुख है । कहा भी है

'[illegible] [illegible] [illegible] धन, [illegible] खान सुखान ।
[illegible] [illegible] सब धन धूलि समान ॥'

६. जिसको चाह है वह अरबो की सम्पदा पाकर भी दु.खी है। चाह पर ही चिन्ता मिटती है। सन्तो ने ठीक ही कहा है—

"सन्तोषी सदा सुखी, दु.खी तृष्णावान्।"

संसार के अगणित पशु-पक्षी और कीट पतंगादि जीव, जो संग्रह नही करते, वे मानव से अधिक निश्चिन्त एवं शोक रहित है। सग्रहवान, आसक्त मानव से वह अधिक सुखी है जो अल्प संग्रही और आसक्ति रहित है। ससार की सारी संपदा किसी एक असंतोषी को मिल जाय तव भी उस लोभी की इच्छा पूर्ण नही हो सकती, क्योकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है। ज्ञानियों ने कहा है—मानव, इस नश्वर सम्पदा के पीछे भान भूलकर मत दौड़। यह तो पापी जीव को भी अनन्त बार मिल गई है। यदि सम्पदा ही मिलानी है तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आत्मिक सम्पदा मिला, जो शाश्वत आनन्द को देने वाली है, अन्यथा एक लोकोक्ति में कहा गया है—

"सुत दारा, अरु लक्ष्मी, पापी के भी होय।
सत समागम, प्रभु कथा, दुर्लभ जग मे दोय।।"

पैसे वाले वड़े नही, बडे है सद्गुणी, जिनकी इन्द्र भी सेवा करते है।

परिग्रह-मर्यादा का महत्त्व

परिग्रह-परिमाण पाँच अणुव्रतों मे अन्तिम है और चार व्रतों का संरक्षण करना एवं बढाना इसके आधीन है। परिग्रह को घटाने से हिंसा, असत्य, अस्तेय, कुशील, इन चारों पर रोक लगती है। अहिंसा आदि चार व्रत अपने आप पुष्ट होते रहते है। इस व्रत के परिणामस्वरूप जीवन मे शान्ति और सन्तोष प्रकट होने से सुख की वृद्धि होती है। निश्चितता और निराकुलता आती है। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने से धर्म-क्रिया की ओर मनुष्य का चित्त अधिकाधिक आकर्षित होता है। इस व्रत के ये वैयक्तिक लाभ है, किन्तु सामाजिक दृष्टि से भी यह व्रत अत्यन्त उपयोगी है। आज जो आर्थिक वैषम्य दृष्टिगोचर होता है, इस व्रत के पालन न करने का ही परिणाम है। आर्थिक वैषम्य इस युग की एक बहुत बड़ी समस्या है। पहले वडे-वडे भीमकाय यंत्रो का प्रचलन न होने के कारण कुछ व्यक्ति आज की तरह अत्यधिक पूंजी एकत्र नही कर पाते थे; मगर आज यह बात नही रही। आज कुछ लोग यन्त्रो की सहायता से प्रचुर धन एकत्र कर लेते है तो दूसरे लोग धनाभाव के कारण अपने जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्ति करने से भी वचित रहते है। उन्हे पेट भर रोटी, तन ढकने को वस्त्र और औषध जैसी चीजे भी उपलब्ध नही। इस स्थिति का सामना करने के लिए अनेक वादों का जन्म हुआ है। समाजवाद, साम्यवाद, सर्वोदयवाद आदि इसी के फल है। प्राचीन काल मे अपरिग्रहवाद के द्वारा इस समस्या का
किया जाता था। इस वाद की विशेपता यह है कि यह धार्मिक रूप

है । अतएव मनुष्य इसे वलात् नही, स्वेच्छा पूर्वक स्वीकार करता है । साथ ही धर्मशास्त्र महारभी यंत्रों के उपयोग पर पाबदी लगा कर आर्थिक वैषम्य को उत्पन्न नही होने देने की भी व्यवस्था करता है । अतएव अगर अपरिग्रह व्रत का व्यापक रूप मे प्रचार और अगीकार हो तो न अर्थ वैषम्य की समस्या विकराल रूप धारण करे और न वर्ग संघर्ष का अवसर उपस्थित हो । मगर आज की दुनिया धर्मशास्त्रो की बात सुनती कहाँ है । यही कारण है कि संसार अशान्ति और संघर्ष की क्रीड़ा भूमि बना हुआ है और जब तक धर्म का आशय नही लिया जायगा, तव तक इस विषम स्थिति का अन्त नही आएगा ।

देशविरति धर्म के साधक (श्रावक) को अपनी की हुई मर्यादा से अधिक परिग्रह नही बढाना चाहिए । उसे परिग्रह की मर्यादा भी ऐसी करनी चाहिए कि जिससे उसकी तृष्णा पर अकुश लगे, लोभ मे न्यूनता हो और दूसरे लोगो को कष्ट न पहुँचे ।

सर्वविरत साधक (श्रमण) का जीवन तो और भी अधिक उच्चकोटि का होता है । वह आकर्षक शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श पर राग और अनिष्ट शब्द आदि पर द्वेष भी नही करेगा । इस प्रकार के आचरण से जीवन मे निर्मलता वनी रहेगी । ऐसा साधनाशील व्यक्ति चाहे अकेला रहे या समूह मे रहे, जगल मे रहे, या समाज मे रहे, प्रत्येक स्थिति मे अपना व्रत निर्मल बना सकेगा ।

स्वाध्याय की भूमिका

परिग्रह वृत्ति को घटाने मे स्वाध्याय की असरकारी भूमिका होती है । स्वाध्याय वस्तुत: अन्तर मे अलौकिक प्रकाश प्रकट करने वाला है । स्वाध्याय आत्मा मे ज्योति जगाने का एक माध्यम है, एक प्रशस्त साधन है, जिससे प्रसुप्त आत्मा जागृत होती है, उसे स्व तथा पर के भेद का ज्ञान होता है । स्वाध्याय से आत्मा मे स्व-पर के भेद के ज्ञान के साथ वह स्थिति उत्पन्न होती है, निरन्तर वह भूमिका बनती है, जिसमे आत्मा स्व तथा पर के भेद को समझने मे प्रतिक्षण जागरूक रहती है । सक्षेप मे कहा जाय तो स्वाध्याय के द्वारा स्व-पर के भेद का ज्ञान प्राप्त होता है । जिस प्रबुद्ध आत्मा को स्व तथा पर के भेद का ज्ञान प्राप्त हो गया, उसकी पौद्गलिक माया मे ममता स्वत: ही कम हो जायगी ।

ममता घटने पर दान की प्रवृत्ति

स्व-पर के भेद का बोध हो जाने की स्थिति मे ही अपने शरीर पर [illegible] की ममता कम होगी । शरीर एव भोज्योपभोज्यादि पर ममता कम होने पर वह दान करने को उद्यत होगा । भौतिक सामग्री पर ममता घटेगी, त्यों त्यों मानव के अन्तर्मन मे दान देने की प्रवृत्ति बलवती होगी । ममता घटेगी

तभी सेवा की वृत्ति उत्पन्न होगी, क्योंकि ये सारी चीजे ममता से सम्बन्धित है। आलोचना का व्यक्ति के स्वयं के जीवन-निर्माण से सम्बन्ध है। आलोचना वस्तुतः व्यक्ति के स्वयं के जीवन निर्माण का प्रमुख साधन है, जबकि दान स्व और पर दोनों के जीवन-निर्माण का साधन है। दान का सम्बन्ध दूसरे लोगों के साथ स्वधर्मी बन्धुओं के साथ आता है और इसमें स्व-कल्याण के साथ पर-कल्याण का दृष्टिकोण अधिक होता है। इसका मतलब यह नही है कि दान देते समय दानदाता द्वारा स्व-कल्याण को पूर्णतः ठुकरा दिया जाता है। क्योंकि पर-कल्याण के साथ स्व-कल्याण का अविनाभाव सम्बन्ध है। पर-कल्याण की भावना जितनी उत्कृष्ट होगी, उतना ही अधिक स्व-कल्याण स्वतः ही हो जायगा। जो स्व-कल्याण से विपरीत होगा, वह कार्य व्यावहारिक एव धार्मिक, किसी पक्ष में स्थान पाने लायक नही है।

तो दान की यह विशेषता है कि वह स्व और पर दोनों का कल्याण करता है। दान देने की प्रवृत्ति तभी जागृत होगी जब कि मानव के मन में अपने स्वत्व की, अपने अधिकार की वस्तु पर से ममता हटेगी। ममत्व हटने पर जब उसके अन्तर में सामने वाले के प्रति प्रमोद बढेगा, प्रीति बढेगी और उसे विश्वास होगा कि इस कार्य मे मेरी सम्पदा का उपयोग करना लाभकारी है, कल्याणकारी है, तभी वह अपनी सम्पदा का दान करेगा।

किसान अपने घर में सचित अच्छे बीज के दानों को खेत की मिट्टी मे क्यों फैंक देता है? इसीलिये कि उसे यह विश्वास है कि यह बढ़ने-बढाने का रास्ता है। अपने कण को बढ़ाने का यही माध्यम है कि उसे खेत में डाले। जब तक बीज को खेत मे नही डालेगा, तब तक वह बढ़ेगा नही। पेट में डाला हुआ कण तो खत्म हो जायगा, जठराग्नि से जल जायगा किन्तु, खेत में, भूमि मे डाला हुआ बीज फलेगा, बढेगा। ठीक यही स्थिति दान की भी है। थोडा सा अन्तर अवश्य है।

बीज को खेत मे डालने की अवस्था मे किसान की बीज पर से ममता छूटी नही है। बीज को खेत मे फैंकने में अधिक लाभ मानता है, इसलिये फैंकता है। पर हमारे धर्म पक्ष मे दान की इस तरह की स्थिति नही है। दान की प्रवृत्ति मे जो अपने द्रव्य का दान करता है, वह केवल इस भावना से ही दान नही करता कि उससे उसको अधिक लाभ होगा, बल्कि उसके साथ यह भावना भी है कि—यह परिग्रह दुःखदायी है, इससे जितना अधिक स्नेह रखूँगा, मोह रखूँगा, यह उतना ही अधिक क्लेशवर्द्धक तथा आर्त्त एवं रौद्र-ध्यान का कारण बनेगा।

'स्थानांग' सूत्र मे श्रावक के जो तीन मनोरथ बताये गये है, उनमे पहले मनोरथ मे परिग्रह-त्याग को महती निर्जरा का महान् कारण बताते हुए उल्लेख किया गया है—

"तिहि ठाणेहि समणोवासए महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ त जहा-कया णं अहं अप्पं वा बहुअं वा परिग्गह परिचइस्सामि,....एवं समणसा सवयसा सकायसा जागरमाणे समणोवासए महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ।"

अर्थात्—तीन प्रकार के मनोरथो की मन, वचन और क्रिया से भावना भाता हुआ श्रावक पूर्वोपार्जित कर्मों को बहुत बड़ी मात्रा में नष्ट और भवाटवी के बहुत बड़े पथ को पार कर लेता है। परिग्रह घटाने सम्बन्धी मनोरथ इस प्रकार है—अरे ! वह दिन कब होगा, जब मैं अल्प अथवा अधिकाधिक परिग्रह का परित्याग कर सकूँगा।

'स्थानाग' सूत्र में जिस प्रकार श्रावक के तीन मनोरथों का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार साधु के तीन मनोरथों का भी उल्लेख है। गृहस्थ का जीवन व्रत-प्रधान नही, शील प्रधान और दान-प्रधान है। साधु का जीवन सयम-प्रधान एवं तप-प्रधान है। गृहस्थ के जीवन की शील और दान ये—विशेषताएँ है। गृहस्थ यदि शीलवान् नही है तो उसके जीवन की शोभा नही। जिस प्रकार शीलवान् होना गृहस्थ जीवन का एक आवश्यक अग है, उसी तरह अपनी सचित सम्पदा में से उचित क्षेत्र मे दान देना, अपनी सम्पदा का विनिमय करना और परिग्रह का सत्पात्र मे व्यय करना, यह भी गृहस्थ-जीवन का एक प्रमुख भूषण और कर्तव्य है।

धर्मस्थान में अपरिग्रही बनकर आना चाहिए

धर्मस्थान मे आने वाले भाई-बहिनो से यह कहना है कि सबसे पहले ध्यान यह रखा जाय कि अपरिग्रहियो के पास जाते है तो वे ज्यादा-से-ज्यादा अपरिग्रहियो का रूप धारण करके जाये। हम लोग क्या है? अपरिग्रही। हमारे पास सोने का कन्दोरा है क्या? नही, बढिया सूट है क्या? नही। हमारे पास पैसा होने की शंका है क्या? नही, हमारे पास सिंहासन भी रजत का, सोने का, हीरा-मोती जटित है क्या? नही। जैन साधु अपने पास एक फूटी कौड़ी भी नहीं रख सकता यहाँ तक कि चश्मे की डण्डी मे किसी धातु की कील भी हो तो हमारे काम नही आयेगा। जब तक दूसरा नही मिले, तब तक भले ही रखें।

हमारे रूप इतने अपरिग्रही और आप धर्मस्थान मे आवे तो सोचे कि बढ़िया सूट पहन कर चलें। बाई सोचती है कि सोने के गोखरू हाथो मे पहन ले, सोने का हार गले मे डाल ले, सोने की जजीर कमर मे बाध ले, यहाँ तक कि माला के मनके भी चाहे चन्दन के क्यो हो, चादी के दानो की माला बना ले।

इस प्रकार जब धर्मस्थान मे परिग्रह रूप धारण करेगे, जरा-जरा सी [illegible] से नुकसान होगा तो चिन्ता पैदा होगी या

नही ? चोरी होगी तो आप कितनों को लपेटे में लेंगे ? वेतन पर काम करने वाले कार्यकर्ता भी लपेटे मे आयेगे, कमेटी के व्यवस्थापक भी लपेटे में आयेंगे ।

दूसरे लोग कहें न कहे लेकिन हम अपरिग्रही है, इसलिए कहता हूँ कि अपरिग्रह के स्थान पर तो ज्यादा से ज्यादा अपरिग्रह रखने की ही भावना आनी चाहिए ।

अपरिग्रह : मानव-जीवन का भूषण

परिग्रह की ममता कब कम होगी ? जबकि स्व का अध्ययन करोगे । अपने आप को समझ लोगे तो जान लोगे कि सोने से आदमी की कीमत नही है । आप समझते है कि गले में सोने की लड़ होगी तो लोग सेठ समझेगे । कई युवक और बुजुर्ग बैठे है जिनके गले में सोने की लड नही है, कुर्ता या कमीज पहन कर चले आते है तो क्या उनका सेठाइपना खत्म हो जायेगा ? सेठ नहीं समझकर यह समझेंगे कि कोई मुनीम है ? चार अगुलियो मे चार सोने की बीटिया पहन रखी है और सन्तो की अगुलियो मे एक भी बीटी नही है तो क्या सतो मे सन्तपना नहीं होगा ? होगा ।

एक बाई की भावना अठाई करने की है । इस चातुर्मास में नही होगी तो कब होगी ? लेकिन घरवाला कहता है कि अभी मत कर । अभी मेरी हैसियत खर्चा करने की नही है ।

एक बाई से यह पूछा कि आप व्याख्यान मे क्यों नही आती ? वह कहने लगी—"बापजी ! जी तो घणो ही टूटे है कि व्याख्यान मे आऊँ पण काई करूँ, अकेली हूँ पैरण ने जेवर नही है । बिना दागीना पहने जाऊँ तो घर की इज्जत जावे ।" आपने इस तरह का वातावरण समाज मे बना रखा है । इस वातावरण के कारण व्याख्यान मे आने से वचित रहना पड़ता है । यह गलत रूप है । सोने के आभूषणो से कीमत नही, लेकिन आत्मा की कीमत है सदाचार से, प्रामाणिकता से, सद्गुणो से । सत्य और क्रियावादी होना भूषण है । दान चाहे देने के लिए पास मे कुछ भी नही हो, जो भी आवे उसका योग्यता के कारण सम्मान करना चाहिए । तिरस्कार करके नही निकालना यह हाथ का भूषण है । गुणवान को नमस्कार करना यह सिर का भूषण है । परिग्रह को घटाकर सत्सग मे जाना, कही किसी की सहायता के लिए जाना यह पैरो का भूषण है । सत्सग मे ज्ञान की प्राप्ति होगी ।

मनुष्य का शरीर यदि सोने से लदा हुआ है लेकिन वह सद्गुणी नही तो निन्दनीय है ।*

□ □ □

---

* आचार्य श्री के प्रवचन से श्री सजीव भानावत द्वारा सम्पादित ।

२ | इच्छा-सरोवर और परिमाण की पाल

□ आचार्य श्री नानालालजी म० सा०

पाप और साँप दोनों ही जगत् मे भयंकर माने जाते है। दोनों से बचकर रहना विवेकी मनुष्य के लिये अनिवार्य है। प्रभु महावीर ने जिन महापापों से बचने के लिये व्रतों का विधान किया है, उनमे पाँचवां व्रत परिग्रह से विरत होना बताया है। परिग्रह एक प्रकार का पाप है, क्योंकि वह मानव को पतन के गहरे गर्त मे डाल देता है। परिग्रह वह भयकर ग्राह है, जिसने समस्त संसार को बुरी तरह पकड़ रखा है। यह वह बन्धन है, जिससे सारी दुनिया बंधकर परेशान हो रही है। आत्मिक शान्ति और विश्व शान्ति के लिये यह अत्यन्त बाधक और घातक है। इसीलिये जैन धर्म ने आध्यात्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण से परिग्रह को पाप बताकर अपरिग्रह को व्रतो मे स्थान दिया है।

परिग्रह पाप के दो रूप है—इच्छा और मूर्च्छा। इच्छा मे अप्राप्त को प्राप्त करने की कामना होती है और मूर्च्छा मे जो प्राप्त है उस पर तीव्र ममत्व भाव या आसक्ति होती है। जगत् मे इच्छा रूप परिग्रह का विस्तार बहुत अधिक है। क्योकि इच्छाएँ आकाश की तरह अनन्त और असीम है। इच्छाओ का कभी अन्त नही आता। मनुष्य की आयु का तो एक दिन अन्त आ जाता है परन्तु इच्छाओ का सहसा अन्त नही होता। मनुष्य की देह बूढी हो जाती है, परन्तु इच्छा, तृष्णा और आशा कभी बूढी नही होती। इच्छाएँ पानी मे उठने वाली तरगो के समान है। एक इच्छा पूरी नहीं होती कि सौ दूसरी इच्छाएं पैदा हो जाती है।

जिस प्रकार स्थिर शान्त सरोवर में कोई व्यक्ति ककर या मिट्टी के ढेले फेंकता है तो तुरन्त उसमें लहरे उठने लगती है। उस ककर या मिट्टी के ढेले के वजन और उसे फेंकने की गति के अनुरूप ही तीव्र-मद लहरे उठा करती है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य के मन मे ज्योही कोई इच्छा प्रविष्ट होती है त्योही उसकी तीव्र-मन्द गति और प्रबलता-निर्बलता के अनुरूप मानस मे लहरे उठने लगती है। अर्थात् वह मूल इच्छा अनेक छोटी-मोटी तरगो को जन्म देती है। इस प्रकार शान्त एव स्थिर मन-मस्तिष्क में तूफान उठने लगता है, हलचल मच जाती है, वह अशान्त और चचल हो जाता है।

मनुष्य की असीमित इच्छाएँ सदा से सघर्ष का कारण रही है। दुनिया मे होने वाले भीषण महायुद्धो के मूल मे ये ही उद्दाम इच्छाएँ रही हुई है। चाहे

वह महाभारत का युद्ध हो, चाहे वह कोणिक-चेड़ा का संग्राम हो, चाहे आज के युग मे लड़े गये विश्व युद्ध हों - सबके मूल में धन और सत्ता की उद्दाम लालसा, असीम अभिलाषा और अमर्यादित इच्छाएँ है। लाखों लोगों की हत्या, भीषण नर-संहार, लूटपाट, चोरी, डकैती, छल-कपट, बेईमानी आदि सब पापों के मूल में परिग्रह का पिशाच काम कर रहा है। अनियन्त्रित इच्छाओं की बदौलत ही ससार मे सारे पाप हो रहे है। 'प्रश्न व्याकरण' में इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—

"परिग्रह के कारण लोग हिसा करते है, असत्य भाषण करते है, बडी-बड़ी चोरियाँ, डकैतियाँ, परिग्रह के कारण होती है, मिलावट, तोल-माप की गड़बड़ी, जालसाजी, व्यभिचार, अपहरण, बलात्कार आदि पाप परिग्रह के कारण होते है।"

इस प्रकार शास्त्रकारो ने समस्त पापो का उत्पत्ति स्थान परिग्रह को बताया है। कोई भी ऐसा पाप कर्म नही है जो परिग्रह के निमित्त से न होता हो।

पापों का केन्द्र : परिग्रह

परिग्रह पाप-बन्ध का कारण है। 'भगवती' के दूसरे शतक में गणधर इन्द्रभूति गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में, श्रमण भगवान महावीर ने कहा— गौतम! इच्छा, मूर्च्छा और गृद्धि से क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषायों का तादात्म्य सम्बन्ध है। जहाँ परिग्रह होता है वहाँ क्रोधादि चार कषाय अवश्य होते है और जहाँ क्रोधादि चार कषाय होते है, वहाँ परिग्रह आदि पाप अवश्य होते है। इस प्रकार परिग्रह, क्रोध, मान, माया और लोभ इन पापानुबन्ध-चतुष्टय का जनक है। परिग्रह समस्त पापो का केन्द्र है। समस्त पाप परिग्रह से उत्पन्न होते है।

अपनी निकृष्ट इच्छाओ, गलत महत्त्वाकाक्षाओं एवं वस्तु के प्रति आसक्ति तथा मोह-ममता को लेकर संसार के बड़े-बड़े पाप होते है। जहाँ इच्छा-मूर्च्छा नही होती या सीमित होती है, वहाँ प्राय. पाप कर्म नही होता।

संग्रह-बुद्धि : विषमता का कारण

पदार्थो के प्रति इच्छा और मूर्च्छा होती है, तब उनको सग्रह करने की बुद्धि होती है। इच्छा-मूर्च्छा होने से उस पदार्थ की ओर से संतुष्टि नही होती, भले ही वह पदार्थ उसे चाहे जितनी संख्या में या चाहे जितनी मात्रा में मिल जाए, तृप्ति उसे नही होती। संसार में आज जो दु:ख की प्रचुरता है वह प्राय: संग्रह-बुद्धि का फल है।

२

इच्छा-सरोवर और परिमाण की पाल

□ आचार्य श्री नानालालजी म० सा०

पाप और सॉप दोनों ही जगत् मे भयंकर माने जाते है। दोनों से बचकर रहना विवेकी मनुष्य के लिये अनिवार्य है। प्रभु महावीर ने जिन महापापों से बचने के लिये व्रतो का विधान किया है, उनमें पॉचवां व्रत परिग्रह से विरत होना बताया है। परिग्रह एक प्रकार का पाप है, क्योंकि वह मानव को पतन के गहरे गर्त मे डाल देता है। परिग्रह वह भयकर ग्राह है, जिसने समस्त संसार को बुरी तरह पकड़ रखा है। यह वह बन्धन है, जिससे सारी दुनिया बधकर परेशान हो रही है। आत्मिक शान्ति और विश्व शान्ति के लिये यह अत्यन्त बाधक और घातक है। इसीलिये जैन धर्म ने आध्यात्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण से परिग्रह को पाप बताकर अपरिग्रह को व्रतो मे स्थान दिया है।

परिग्रह पाप के दो रूप है—इच्छा और मूर्च्छा। इच्छा मे अप्राप्त को प्राप्त करने की कामना होती है और मूर्च्छा मे जो प्राप्त है उस पर तीव्र ममत्व भाव या आसक्ति होती है। जगत् मे इच्छा रूप परिग्रह का विस्तार बहुत अधिक है। क्योकि इच्छाएँ आकाश की तरह अनन्त और असीम है। इच्छाओ का कभी अन्त नही आता। मनुष्य की आयु का तो एक दिन अन्त आ जाता है परन्तु इच्छाओ का सहसा अन्त नही होता। मनुष्य की देह बूढी हो जाती है, परन्तु इच्छा, तृष्णा और आशा कभी बूढी नही होती। इच्छाएँ पानी मे उठने वाली तरगो के समान है। एक इच्छा पूरी नहीं होती कि सौ दूसरी इच्छाएँ पैदा हो जाती है।

जिस प्रकार स्थिर शान्त सरोवर मे कोई व्यक्ति ककर या मिट्टी के ढेले फैंकता है तो तुरन्त उसमे लहरे उठने लगती है। उस ककर या मिट्टी के ढेले के वजन और उसे फैंकने की गति के अनुरूप ही तीव्र-मद लहरे उठा करती है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य के मन मे ज्योही कोई इच्छा प्रविष्ट होती है त्योही उसकी तीव्र-मन्द गति और प्रवलता-निर्वलता के अनुरूप मानस मे लहरे उठने लगती हैं। अर्थात् वह मूल इच्छा अनेक छोटी-मोटी तरगो को जन्म देती है। इस प्रकार शान्त एव स्थिर मन-मस्तिष्क मे तूफान उठने लगता है, हलचल मच जाती है, वह अशान्त और चचल हो जाता है।

मनुष्य की असीमित इच्छाएँ सदा से सघर्ष का कारण रही है। दुनिया मे होने वाले भीषण महायुद्धो के मूल मे ये ही उद्दाम इच्छाएँ रही हुई है। चाहे

वह महाभारत का युद्ध हो, चाहे वह कोणिक-चेड़ा का संग्राम हो, चाहे आज के युग मे लड़े गये विश्व युद्ध हो – सबके मूल में धन और सत्ता की उद्दाम लालसा, असीम अभिलाषा और अमर्यादित इच्छाएँ है। लाखो लोगों की हत्या, भीषण नर-सहार, लूटपाट, चोरी, डकैती, छल-कपट, बेईमानी आदि सब पापों के मूल मे परिग्रह का पिशाच काम कर रहा है। अनियन्त्रित इच्छाओं की बदौलत ही ससार मे सारे पाप हो रहे है। 'प्रश्न व्याकरण' में इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—

"परिग्रह के कारण लोग हिसा करते है, असत्य भाषण करते है, बड़ी-बड़ी चोरियाँ, डकैतियाँ, परिग्रह के कारण होती है, मिलावट, तोल-माप की गड़बड़ी, जालसाजी, व्यभिचार, अपहरण, बलात्कार आदि पाप परिग्रह के कारण होते है।"

इस प्रकार शास्त्रकारो ने समस्त पापों का उत्पत्ति स्थान परिग्रह को बताया है। कोई भी ऐसा पाप कर्म नही है जो परिग्रह के निमित्त से न होता हो।

पापों का केन्द्र : परिग्रह

परिग्रह पाप-बन्ध का कारण है। 'भगवती' के दूसरे शतक मे गणधर इन्द्रभूति गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर मे, श्रमण भगवान महावीर ने कहा— गौतम! इच्छा, मूर्च्छा और गृद्धि से क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषायों का तादात्म्य सम्बन्ध है। जहाँ परिग्रह होता है वहाँ क्रोधादि चार कषाय अवश्य होते है और जहाँ क्रोधादि चार कषाय होते है, वहाँ परिग्रह आदि पाप अवश्य होते है। इस प्रकार परिग्रह, क्रोध, मान, माया और लोभ इन पापानुबन्ध-चतुष्टय का जनक है। परिग्रह समस्त पापो का केन्द्र है। समस्त पाप परिग्रह से उत्पन्न होते है।

अपनी निकृष्ट इच्छाओ, गलत महत्त्वाकाक्षाओ एवं वस्तु के प्रति आसक्ति तथा मोह-ममता को लेकर ससार के बड़े-बड़े पाप होते है। जहाँ इच्छा-मूर्च्छा नही होती या सीमित होती है, वहाँ प्रायः पाप कर्म नही होता।

संग्रह-बुद्धि : विषमता का कारण

पदार्थों के प्रति इच्छा और मूर्च्छा होती है, तब उनको सग्रह करने की बुद्धि होती है। इच्छा-मूर्च्छा होने से उस पदार्थ की ओर से सतुष्टि नही होती, भले ही वह पदार्थ उसे चाहे जितनी सख्या में या चाहे जितनी मात्रा मे मिल जाए, तृप्ति उसे नही होती। संसार मे आज जो दु:ख की प्रचुरता है वह प्रायः संग्रह-बुद्धि का फल है।

मानव शरीर तब तक स्वस्थ रहता है जब तक उसके हर अवयव को रक्त का प्रवाह मिलता रहता है। जब शरीर के किसी भी भाग मे रक्त का प्रवाह रुक जाता है, तब शरीर मे दर्द होने लगता है। क्या आज के समाज का दर्द भी यही नही है ? जब तक गृहस्थ समाज के हर अवयव तक धन का प्रवाह पहुँचता है तब तक समाज पीड़ित नही होता। जब यह धन-प्रवाह कुछ लोगों तक पहुँच कर रुक जाता है या एक के पास जमा हो जाता है तो समाज मे पीडा का प्रारम्भ हो जाता है। आज के समाज की पीड़ा है – धन का कुछ हाथो मे एकत्रित हो जाना।

यह मानना पड़ेगा कि एक ओर पहाड़ होगा तो दूसरी ओर खाई होगी। सम्पत्ति जब कुछ ही स्थानों पर सग्रहीत होगी तो दूसरे लोगो को उससे वचित रहना पड़ेगा। सामाजिक विषमता का यही कारण है। एक ओर पदार्थो का अम्बार लगा है, इनको इतने पदार्थो की आवश्यकता नही, दूसरी ओर ऐसे लोग भी है, जिनके पास उन पदार्थो का अभाव है, वे उन पदार्थो के उपभोग से वचित हैं। कुछ लोगो के पास धन का अत्यधिक संग्रह है, जबकि दूसरे लोग एक-एक पैसे के लिये तरस रहे है। एक ओर अत्यधिक अन्न कोठारों में जमा है, जबकि दूसरी ओर अन्न के दाने के अभाव मे हाहाकार मचा हुआ है। एक ओर सन्दूको मे वस्त्र पडे सड रहे है, उन्हे दीमक खा रहे है, दूसरी ओर लोग सर्दी से ठिठुर रहे है। कुछ के पास सीमा से अधिक जमीन है, कुछ लोगो के पास जमीन ही नही है। इस प्रकार की विषमता सग्रहचोरी या जमाखोरी की देन है।

संग्रह से मुख्यतया दो बुराइयाँ जन्म लेती है—विलास और क्रूरता। जब सग्रह के रूप मे परिग्रह बढ जाता है तो आलस्य, अकर्मण्यता, दूसरे के श्रम पर गुलछर्रे उड़ाने की वृत्ति, विलासिता आदि दुर्गुण आ जाते है। परिग्रही व्यक्ति चाहता है कि उसके मार्ग मे कोई बाधक न बने। दूसरे चाहे मरे या जीये, उसे कोई मतलब नही होता। उसे दूसरो के सुख-दुःख की जरा भी परवाह नही होती। रोम का सम्राट नीरो इसी प्रकार का क्रूर व्यक्ति था। कहते है कि रोम जल रहा था तब भी वह अपने ही मौज-शौक मे लीन था।

सग्रह बुद्धि के पीछे मूल आशय यह रहता है कि वे सग्रहीत पदार्थ व्यक्ति को सुख देते है। परन्तु यह धारणा निर्मूल और भ्रान्तिपूर्ण है। तत्त्वदर्शी पुरुषो का चिन्तन और अनुभव इससे विपरीत है। वे तो कहते है कि परिग्रह अनर्थो का मूल है, अशान्ति का कारण है, दु.ख रूप है, बन्धन रूप है, पाप का कारण है, दुर्गति का हेतु है। उन्होने धन और परिग्रह को अभिशाप माना है। कहा है—

"दु खमेव धन-व्याल विप विध्वस्त चेतसाम्।
अर्जने रक्षणे नाशे पु सां तस्य परिक्षये॥"

धन रूपी विषधर के विष से जिनका चित्त खराब हो गया है, उन लोगो को सदैव दु.ख ही दुःख रहता है । उन्हें धनोपार्जन में दुःख होता है, रक्षा करने में भी दुःख होता है और धन के नाश या व्यय मे भी दुःख होता है । महाकवि शेक्सपियर ने कहा है—

"मनुष्यों की आत्मा के लिये सोना निकृष्टतम विष है। इस दु.खमय विश्व में धन का विष अन्य विषों की अपेक्षा अधिक मारक और सहारक होता है।"

महान् दार्शनिक लूथर ने कहा है कि— हे परमात्मा ! मै तेरा आभारी हूँ कि जो तूने मुझे निर्धन बनाने की कृपा की । ऐसा न करता तो मुझे तेरी उपस्थिति का भान न होता ।

संसार का धनकुबेर हेनरी फोर्ड ने अपनी डायरी में लिखा है—धन का अभिशाप तो मै इसी जीवन मे भोग रहा हूँ । धन की अधिकता के कारण सारा जीवन अनियन्त्रित वासनाओं और कामनाओं में बीतने से आज मेरी स्थिति ऐसी हो गई है कि विपुल सम्पत्ति के होते हुए भी मुझे चाय के अतिरिक्त और कुछ पी लेने के लिये डॉक्टरो ने मना कर दिया है ।

अत्यधिक संग्रह करने के कारण अनेक प्रसंगों में व्यक्ति को जन-आक्रोश का शिकार होना पडता है । उसकी जिन्दगी और धन-सम्पत्ति सदा सकट मे रहती है । किसी भी क्षण वह लूट ली जा सकती है, राज्य-शासन द्वारा छीन ली जा सकती है या अन्य तरीकों से उस व्यक्ति को उससे वचित होना पड़ता है । अतएव परिग्रह को, धन-सम्पदा को सुख का कारण समझना भ्रान्ति ही है । भगवान् महावीर तो स्पष्ट फरमाते है कि—

"वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते"

प्रमत्त व्यक्ति धन-सम्पदा को त्राण रूप, शरण रूप मानता है परन्तु वह धन उसके लिये त्राण रूप नही होता ।

इसलिये यह मानना कि धन या परिग्रह मनुष्य को सुखी बनाता है, बहुत बडी भ्रान्ति है । यदि ऐसा होता तो सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकर देव न राज्य-पाट, धन वैभवादि छोड़ते और न अपरिग्रह का उपदेश ही देते ।

इच्छा-सरोवर और परिमाण की पाल

बिना ओर-छोर वाले इच्छा के सरोवर की अनिष्टकारिता और अरमणीयता को दूर करने के लिये उसके चारो ओर परिमाण की पाल बाँध देनी चाहिये । ऐसा करने से उस सरोवर की अनिष्टकारिता भी दूर हो जाती है

और उसके स्वरूप में रमणीयता भी आ जाती है। इसीलिये भगवान् महावीर ने परिग्रह की अनिष्टता को दूर करने के लिये श्रावको को इच्छा विधि परिमाण करने का निर्देश और उपदेश दिया है।

प्रभु महावीर द्वारा श्रावको के लिये उपदिष्ट इच्छा परिणाम व्रत का आश्रय लेने से परिग्रह की विषाक्तता कम हो जाती है। यह वह मणि है जो परिग्रह के विष को दूर कर देती है। इस व्रत को स्वीकार करने से गृहस्थ श्रावक का कोई भी व्यावहारिक कार्य रुकता नही, न विकास कार्य मे रुकावट ही होती है, बल्कि आत्म-चिन्तन, भगवद्भक्ति, धर्म ध्यान आदि कार्य निश्चिन्तता-पूर्वक कर सकता है। वह निराकुलता के साथ गार्हस्थ्य जीवन सुख-शान्तिपूर्वक चला सकता है। इच्छाओ और तृष्णाओ के भार से आक्रान्त व्यक्ति का जीवन अशान्त, चिन्तातुर और मशीन की तरह व्यस्त बना रहता है परन्तु जिसने इच्छाओ और तृष्णाओं पर परिमाण की पाल द्वारा नियन्त्रण कर लिया हो, वह व्यक्ति उक्त सभी परेशानियो से बच जाता है और अत्यन्त सुख शान्तिपूर्ण निराकुलतामय जीवन आनन्दपूर्वक जीता है। अमर्यादित इच्छाओ वाला व्यक्ति न तो शान्ति से खा-पी सकता है, न निश्चिन्तता से जीवनयापन कर सकता है और न प्रभु भक्ति या आत्म कल्याण ही कर सकता है। उसके पास सारे ससार का वैभव आ जाए तो भी वह अशान्त ही बना रहेगा। इस अशान्ति को हटाने का एक ही मार्ग है और वह है—इच्छाओ का परिमाण करना। इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार कर लेने से सब प्रकार की अशान्ति दूर हो जाती है।

इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने वाला महा परिग्रह से बच जाता है। क्योकि उसने इच्छाओ को सीमित कर दिया है। इस कारण जितने अश में उसकी इच्छा शेष है, उतने अश के परिग्रह के सिवाय शेष समस्त परिग्रह से वह निवृत्त हो जाता है। उसे सम्पूर्ण परिग्रह की क्रिया नही लगती, अपितु जितने अंश मे परिग्रह रहा है उसकी ही क्रिया लगती है। इसलिये वह महापरिग्रही न रहकर अल्प परिग्रही हो जाता है। जितना परिग्रह शेष है, उसमे भी वह जल-कमलवत निर्लिप्त रहता है तो उसी भव मे, नही तो सात-आठ भवो मे मोक्ष प्राप्त कर सकता है। यद्यपि उसने पूर्णतया परिग्रह नही त्यागा है तथापि आंशिक रूप से परिग्रह त्याग एवं इच्छा परिमाण किया है, अत: उतने अशो मे वह जन्म-मरण के कष्टो से छूट जाता है, नीच गति का पथिक होने से बच जाता है, या तो वह सुगति मे जाता है या मुक्ति पथ का पथिक हो जाता है।

इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने वाला व्यक्ति कभी इस बात से चितित या दु:खी नहीं होता कि उसकी वस्तु कोई छीन लेगा, या नष्ट कर देगा। वस्तुओं के प्रति उसकी आसक्ति सहज रूप से कम हो जाती है अत: उसके लिये दु:ख का कोई कारण नहीं रहता। इसके विपरीत महापरिग्रही व्यक्ति मृत्यु के

समय या पुण्य की हीनता से उन वस्तुओं को छूटती हुई जानकर घोर कष्ट का अनुभव करता है। शास्त्र के कथनानुसार महापरिग्रही को मरते समय आर्त्त-रौद्र ध्यान आता है, जो दुर्गति का कारण है। इच्छा परिमाणव्रती श्रावक के पास ऐसा दु:ख कभी नही फटकता।

एक सघन वृक्ष है। उसका सहारा एक बन्दर भी लेता है और पक्षी भी। पक्षी अपने पखो के आश्रय पर रहता है, वृक्ष के साथ उसका लगाव नही होता, अतएव वृक्ष के गिर पड़ने पर पक्षी को दु:ख नही होता परन्तु वन्दर वृक्ष को अपना मानकर रहता है, अतएव वृक्ष के गिरने से बन्दर को बहुत दु:ख होता है। यही अतर इच्छा परिमाण व्रतधारी श्रावक मे और व्रत न लेने वाले परिग्रही में होता है। इच्छा परिमाण करने वाले को अपनी मर्यादा से गृहीत पदार्थो का आधार छूट जाने पर भी पक्षी की तरह दु:ख नही होता क्योकि वह उन पदार्थो पर भी उतनी ममता नही रखता जिससे दु.ख हो। इच्छा परिमाण न करने वाले को पदार्थो के छूट जाने पर बन्दर की तरह बहुत दु.ख होता है।

इच्छा परिमाण व्रत

इच्छा परिमाण व्रत का अर्थ है—धन-धान्यादि पदार्थो की इच्छा को मर्यादित करना, सीमित करना। सम्पूर्ण अपरिग्रह व्रत को अगीकार करने वाला तो संसार के समस्त पदार्थो पर से इच्छा और मूर्च्छा का त्याग करता है लेकिन इच्छा परिमाण व्रतधारी को संसार के समस्त पदार्थो पर से इच्छा-मूर्च्छा का त्याग नही करना पड़ता। उसे उन्ही पदार्थो पर से इच्छा-मूर्च्छा का त्याग करना पड़ता है जो पदार्थ महा परिग्रह में माने जाते है या जिन पदार्थो की इच्छा निकृष्ट है, दूसरो के लिये घातक है।

इच्छा परिमाण व्रत के ग्रहणकर्ता को इस बात का सकल्प करना होता है कि वह इन-इन पदार्थो से अधिक पदार्थो पर स्वामित्व का ममत्व नही रखेगा, न उन पदार्थो के अतिरिक्त किसी पदार्थ की इच्छा करेगा। आशिक रूप से परिग्रह से विरत होकर महापरिग्रही न होने की जो प्रतिज्ञा ली जाती है, उसे भी इच्छा परिमाण व्रत कहते है।

इच्छा परिमाण व्रत का उद्देश्य दुनिया भर के समस्त पदार्थो की विस्तृत इच्छाओं से अपने मन को खीचकर एक सीमित दायरे मे कर लेना है। इच्छा परिमाण मे मर्यादा जितनी कम होगी उतना ही दु ख और संसार-भ्रमण कम होगा। क्योंकि उसका ध्येय तो एक दिन परिग्रह या इच्छा का सर्वथा [illegible] करने का होता है। वह अपनी मंजिल तक तभी पहुँच सकता है, जब [illegible] मूर्च्छा को न्यून से न्यूनतम कर लेगा। श्रावक का उद्देश्य इच्छा और

के साथ-साथ आवश्यकताओ में भी कटौती करना है, तभी वह एक दिन निष्परि-ग्रही निर्ग्रन्थ की मजिल पर पहुँच सकेगा।

जो व्यक्ति ससार के समस्त पदार्थो से अपना ममत्व हटा लेता है और केवल आत्म-साधना के लिये जीवन-निर्वाह हेतु अपनी कल्प मर्यादा के अनुसार अल्प से अल्प, बाह्य साधन ग्रहण करता है वह अपरिग्रही है। अपरिग्रही के लिये मूर्च्छा का सर्वथा त्याग आवश्यक है। साधु वस्त्र, पात्र आदि रखते हुए भी उसमें मूर्च्छा न होने से अपरिग्रही कहे जाते है। जैन धर्म के अनगार साधुओं के लिये सर्वथा अपरिग्रही होना आवश्यक बताया है। गृहस्थो के लिये भी परिग्रह की मर्यादा करने और उत्तरोत्तर परिग्रह को कम करने का व्रत बताया है, यही परिग्रह परिमाण व्रत कहलाता है।

पाँच विक्षेप

आचार्य समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' मे इस परिग्रह परिमाण व्रत के पाँच विक्षेप बताये है—

"अतिवाहनाति संग्रह-विस्मय लोभातिभार वहनानि ।
परिमित परिग्रहस्य विक्षेपा पच लक्ष्यन्ते ॥

अर्थात्—अतिवाहन, अति सग्रह, विस्मय, लोभ और अतिभार वहन ये पाँच परिग्रह परिमाण के विक्षेप है—अन्तराय है।

जिस पुरुष के पास वाहन बहुत हो वह उन्हे छोडने या मर्यादित करने में हिचकिचाता है। इसी प्रकार अति संग्रह भी व्रत मे विक्षेप डालता है। अति संग्रह के कारण मनुष्य त्याग की ओर झुकने मे हिचकिचाता है। इसी प्रकार चक्रवर्ती, धनकुबेर या वैभव सम्पन्न की ऋद्धि और ठाठ-बाट देखकर विस्मय में पड़ा हुआ व्यक्ति सहसा परिग्रह की मर्यादा करने से कतराता है। जिसकी लोभ वृत्ति बढी हुई है, वह भी परिग्रह की सीमा करने मे झिझकता है, तथा जो आदमी अनेक प्रकार की जिम्मेदारियाँ ओढ लेता है या किसी प्रकार के एहसान के बोझ से दबा है, वह भी परिग्रह परिमाण करने मे आनाकानी करता है अथवा जिसका जीवन अत्यन्त खर्चीला है, वह उस खर्च की पूर्ति हेतु परिग्रह मे वृद्धि करेगा, घटाएगा नही अत: व्रतधारी का जीवन सरलता, सादगी और मितव्य-यिता से ओतप्रोत होना चाहिये। इन पाँच विक्षेपो से स्वय को बचाकर चलना चाहिये।

सच्चा गृहस्थ अल्प आरम्भी और अल्प परिग्रही होता है। उसकी धन

लोलुपता इतनी बढी हुई नही होती कि वह उसके पोछे न्याय-नीति और धर्म को हार जाय। इन सब बातो पर ध्यान रखते हुए श्रावक को परिग्रह का परिमाण करना चाहिये। कहा है—

"अमरा किकरायन्ते संतोषो यस्य भूषणम्"

संतोषी के लिये देव भी किकर तुल्य है।

यह गृहस्थ का पाँचवा अणुव्रत है। इसका निरतिचार पालन करने से उद्भूत शान्ति, निराकुलता और आनन्द की अनुभूति के साथ आत्मा का परम कल्याण होता है।

□ □ □

इच्छा रा दूहा

'भानावत' मन-लालसा, रसना तणो सभाव।
चावै कतरो रस चखै, रहै अभाव अभाव ॥ १ ॥

'भानावत' धापै नहीं, मन मापै आकास।
जतरो पाणी दां अनै, वतरी जागै प्यास ॥ २ ॥

ज्यूं ज्यूं इच्छा पूरवै, नव नव वधै अनेक।
एक बीज सूं रूख ज्यूं, धारै अगणित भेख ॥ ३ ॥

इच्छा कामण नित सजै, पिया मिलन रै काज।
नय-नव नखरा देख नै, साजन जावै भाज ॥ ४ ॥

नव गैणा नव वेस धर, इच्छा री गणगौर।
ईसर पूजै रात-दिन, पण न मिले सुख-कोर ॥ ५ ॥

इच्छा आंधी वावडी, पाणी ग्यो पाताल।
मन सन्तोषी नेज सूं, लोटा भरै, निहाल ॥ ६ ॥

□ डॉ० नरेन्द्र भानावत

३ अपरिग्रह-दर्शन

☐ आचार्य श्री जीतमलजी म० सा०

अपरिग्रहवाद का विपरीतार्थक शब्द है "परिग्रहवाद" जिसका अर्थ है आवश्यकता से अधिक संग्रह करना। मानव जीवन की सफलता क्रमशः "अपरिग्रह" और "परिग्रह" इन दोनो को भली-भाँति समझने में निहित है। एक मे जीवन का उत्थान है, कल्याण है और निर्माण है, तो दूसरे मे जीवन का पतन है, हानि है और विनाश है। जो विवेकशील है वह जीवन के उत्थान की ओर प्रवृत्त होता है और जो विवेकहीन है, वह जीवन के विनाश की ओर बढता है। संसार के प्रायः सभी महामानव, मनुष्य को सन्मार्ग की ओर उन्मुख होने की सदा सन्मति देते आये है। भगवान् महावीर ने लोक कल्याण की भावना से कहा था—

लोभ कलि-कसाय-महक्खधो।
चितासयनिचयविपुलसालो ॥ प्रश्न व्याकरण १/५

अर्थात्—परिग्रह रूप एक विशाल वृक्ष है जिसके स्कन्ध है लोभ, क्लेश और कषाय। उस परिग्रह के वृक्ष की बड़ी ही सघन एव विशाल शाखाएँ है अनेक प्रकार की चिन्ताएँ।

शास्त्रकार ने शब्दो की इस छोटी-सी गागर में महान् सागर भर दिया है। जीवन की निखिल समस्याओ का, उलझनो का, सतापो का, परितापो का, अन्तर्द्वन्द्वो का, आकस्मिक कर्मबन्धो का और जीवन के निर्मल क्षणो के परिस्पन्दनों का उक्त सूत्र रूप शास्त्र-वचन मे समाधान निहित है। जीवन की समस्याओ का समाधान, जीव अन्तर्जगत मे न खोजकर बहिर्जगत मे खोजता है। जिसके परिणामस्वरूप उसके दुःख की ग्रन्थियाँ सुलझने के स्थान पर और अधिक उलझती जाती है। उसका सारा जीवन उनको सुलझाने में ही व्यतीत हो जाता है। वह उन ग्रन्थियो की उलझन में स्वय उलझ कर अपना जीवन तो भार रूप बनाता ही है, किन्तु जिस परिवार मे, समाज मे और राष्ट्र मे वह रहता है, उसे भी महती हानि पहुँचाता है। यदि मानव अपनी दुःखद समस्याओं के मूल कारण को अन्तर्जगत् में ही खोजने का प्रयत्न करता, तो उसकी सारी विषम समस्याएँ स्वतः हल हो सकती थी। मनुष्य के दुःख का मूल कारण उसके बाहर नही अपितु उसी के अन्दर है। मात्र दृष्टि परिवर्तन की आवश्यकता है।

इच्छाएँ और आवश्यकताएँ

जीवन की आवश्यकताएँ तो जीव के गर्भ में आते ही आरम्भ हो जाया करती है। जन्म के पश्चात् उत्तरोत्तर उनकी वृद्धि होने लगती है। चाहे गृहस्थ हो, चाहे वैरागी हो, चाहे सन्त हो, कोई भी हो, भोजन की, वस्त्र की और निवास स्थान की आवश्यकता तो उसे रहेगी ही, वह इनकी उपेक्षा नही कर सकता। उपेक्षा करता है तो वह जीवित नही रह सकेगा। यही कारण है कि शास्त्रकारों ने अत्यावश्यक आवश्यकताओं पर नियत्रण रखने पर अधिक वल नही दिया है, आसक्ति न रखने की सन्मति अवश्य दी है। इच्छा के निरोध को और आसक्ति के निरोध को जीवन के लिये हितकर बताया है। आवश्यकताओ का क्षेत्र तो सीमित है, किन्तु इच्छाओं का क्षेत्र तो अनन्त है। जिस प्रकार जल में ढेला फैंकने से पहले एक लहर-चक्र, फिर दूसरा चक्र, तीसरा, चौथा आदि अनेक चक्र स्वतः उत्पन्न होते ही जाते है, उसी प्रकार एक इच्छा अनेक इच्छाओ का उपक्रम आरम्भ कर देती है। इस इच्छा के अतिरेक का ही दूसरा नाम तृष्णा है। इच्छा और तृष्णा का कही अन्त नही है। भगवान् महावीर का कथन है कि—

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।

—उत्तराध्ययन ९/४८

अर्थात् जिस प्रकार आकाश का कही अन्त नही उसी प्रकार इच्छाओं का भी अन्त नही है।

"कसिणं पि जो इमं लोय, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से ण संतुस्से, इह दुप्पूरए इमे आया॥"

—उत्तराध्ययन ८/१६

अर्थात् धन-धान्य से परिपूर्ण यह समग्र विश्व भी यदि किसी एक व्यक्ति को सौंप दिया जाये तव भी वह उससे सन्तुष्ट नही हो सकता। आत्मा की इच्छा का या तृष्णा का पूर्ण होना कदापि सभव नही है।

"जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
दो मासकयं कज्जं, कोडिए वि न निट्ठियं॥"

—उत्तराध्ययन ८/१७

अर्थात्—ज्यों-ज्यो मनुष्य को लाभ होता जाता है, त्यों-त्यों उसका लोभ अधिकाधिक के लिये बढ़ता ही जाता है। इस प्रकार लाभ से लोभ की वृद्धि होती जाती है। दो मासे सोने से सन्तुष्ट होने वाला व्यक्ति (कपिल) करोड़ो से भी सन्तुष्ट नही हो पाया।

लाभ और लोभ

अब प्रश्न हमारे सामने यह है कि लाभ और लोभ के परिणामस्वरूप अर्जित किया हुआ धन क्या मनुष्य को सुखी बनाने की सामर्थ्य रखता है ? इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक है । जीवन का सुख अर्जित धन में नही, वह तो त्याग मे है, त्याग लोभी व्यक्ति कर नही सकता । इसका परिणाम होता है, सामाजिक विषमता । वर्तमान युग मे हम प्रत्यक्ष रूप से देख रहे है कि कुछ लोगो के पास इतना धन सग्रह है कि उन्हे चिन्ता है कि इसे कहाँ खर्च करे, कहाँ लगावे, इसके विपरीत ऐसे लोग या परिवार तो बहुत बडी सख्या मे है जिनको यह चिन्ता है कि दो जून का अन्न जुटाने के लिये पैसा कहाँ से लावे ? धनाढ्य परिवारो के सदस्य अधिक पौष्टिक भोजन खाने के कारण बीमार और रोग ग्रस्त रहते है और अकिचन परिवारों के सदस्य सामान्य कोटि के खाद्यान्न के अभाव मे ही जीर्ण-शीर्ण होकर दम तोड़ देते है । नि:सन्देह शोषक और शोषित, दु खी दोनो है । परन्तु दोनों के दु.खों के मूल कारण सग्रह या परिग्रह के पोषक-शोपक ही है । शोषको ने अपनी सग्रह की प्रवृत्ति के कारण ही स्वय के और दूसरों के जीवन को भार बना दिया है । यदि कोई एक व्यक्ति देश का सारा धन, अन्न-वस्त्र अपने ही खजाने और भण्डार मे भर लेगा तो जन सामान्य के लिये उसका वितरण बन्द हो जाने से देश-वासियो का जीवन अर्थ और अन्न-वस्त्र के संकट से ग्रस्त होना स्वाभाविक है ।

बर्नार्डशा यूरोप के प्रख्यात नाटककार थे । बड़े ही दुबले-पतले शरीर के थे । चर्चिल ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री थे जो शरीर से मोटे-ताजे थे । ये दोनो महा-पुरुप वर्तमान युग में हुए है । एक बार किसी सभा मे दोनो की भेट हो गई । दुबले-पतले, सूखे-शरीर वाले बर्नार्डशा को देखकर चर्चिल साहब ने कहा— "आपको देखने से तो ऐसे लग रहा है जैसे आपको रोटी नसीब न होती हो और आप भूखे रहते हो ।" झट से बर्नार्डशा ने उत्तर दिया, "आपको देखने से लोग तुरन्त समझ जाते है कि मै दुबला-पतला क्यो हूँ और मुझे भूखा क्यो रहना पड़ता है ?"

बर्नार्डशा के व्यग्य ने तीर की तरह चर्चिल के चित्त को चित्त कर दिया । चर्चिल साहब बल खाकर रह गये, कुछ भी उत्तर नही बन पड़ा । शा की बात वास्तव मे सत्य थी । एक का मोटापा दूसरे की दुर्बलता का कारण होता है । एक की सम्पन्नता दूसरे की विपन्नता को जन्म देती है । एक की सग्रह की प्रवृत्ति, अनेक के संकटो का बीजारोपण करती है और एक की स्वार्थ प्रवृत्ति सहस्रो परिवारो को नारकीय यातनाओ मे धकेल देती है । हेमन्त ऋतु मे हमने अनेक बार देखा है, बडे-बडे नगरो मे, बड़े-बडे धनी तो बहुमूल्य ऊनी कपडो के बोझ से लदे फिरते है और बेचारे अकिचन, नगे बदन कापते हुए शरीर का भार

ढोते फिरते है, बड़े-बडे बंगलो में अमीर तो रेशम की रजाइयो में भी सर्दी का अनुभव करते हैं और बेचारे गरीब सडको के किनारे टाट के टुकड़ों में चिथड़ो मे लिपटे हुए कांप-कांप कर रात काटते है। मानव की मानव के प्रति इस प्रकार की उपेक्षा से यदि शोषित वर्ग मे विद्वेष की और घृणा की भावना उत्पन्न न होगी तो फिर और किस मे होगी ? इस गर्हणीय उपेक्षा की नीव में परिग्रह की भावना गढी हुई है। आज के युग में जो सम्पन्न देश हैं, जिनके पास अपार अन्न-धन की राशि है, वे भी दूसरे देशो पर आक्रमण इसलिये करते है कि उन्हें लूटें, वहाँ अधिक कमाने के लिये अपनी मण्डियाँ स्थापित करें। उनका यह लोभ जब भयानक-रूप धारण कर लेता है, तो युद्ध में परिणत हो जाता है। जन-सहार होता है, अत्याचार होता है और लूट का प्रसार होता है।

अतएव संसार यदि सुख की नीद सोना चाहता है—युद्धो की विभीषिका से बचना चाहता है, सर्वनाश से अपनी रक्षा करना चाहता है, जीवन की जटिल समस्याओ को सुलझाना चाहता है, विषमता के दुष्परिणामों से त्राण पाना चाहता है और मानव होकर मानवता को पहचानना चाहता है तो उसे भगवान् महावीर के अपरिग्रहवाद के सिद्धान्त को अपनाना होगा, जीवन मे उतारना होगा और उस पर निरन्तर अमल करना होगा। भगवान् महावीर के निम्नलिखित उपदेश को कभी नही भूलना चाहिये।

"सतोसपाहन्नरए स पूज्जो।"

—दशवैकालिक सूत्र, ९/३/५

अर्थात् जो सन्तोष के पथ पर चलता है, वही व्यक्ति पूजा, प्रतिष्ठा के योग्य है।

□ □ □

○ भाग्यवान वह है जिसका धन गुलाम है और अभागा वह है जो धन का गुलाम है। —वाल्तेयर

○ यदि तुम अपनी आय से कम में निर्वाह कर सकते हो तो निश्चय जानो कि पारस पत्थर तुम्हारे पास है।

—बेंजामिन फ्रैंकलिन

अपरिग्रही जीवन ही सुखी जीवन

□ पंडित रत्न श्री हीरा मुनि

भलीभाति विचार कर देखा जाये तो अपरिग्रही जीवन से वढकर दूसरा कोई जीवन सुखी नही है। कीट से लेकर कैठिभारि-विष्णु तक का जीवन इच्छाओं के वश मे है। अतृप्ति और तृष्णाधिकता के कारण उनको कभी सच्ची शान्ति और वास्तविक सुख नही मिल पाता। कीचड मे फंसे गज की तरह पुत्र, स्त्री और कुटुम्बादि मे आसक्त प्राणी सतत दु.ख उठाता रहता है।

पहले तो धनोपार्जन से ही अत्यन्त कठिनाई उत्पन्न होती है। एक से एक वढकर विघ्न वाधाये अर्थ-सग्रह के मार्ग मे सुरसा की तरह मुंह बाए खड़ी रहती है। उन सब विघ्नो को पार करके कठोर श्रम का पसीना बहा करके, सद्भाग्य से धन मिल भी गया तो उसमे अतृप्ति बनी रहती है। साथ ही प्राप्त द्रव्य के सरक्षण की चिन्ता भी सांसो मे समायी रहती है। दुर्योग से कदाचित् वह संगृहीत परिग्रह नष्ट हो जाये तो मरणान्तिक पीडा होने लगती है।

मनुष्य सोचता है कि वह परिग्रह प्राप्त कर सुख से जीवन व्यतीत कर सकेगा, मगर ऐसा उसको नसीव नही होता। धनवानो और परिग्रहियो पर लोग चारो ओर से नजर लगाये रहते है। कैसे इनका धन लिया जाये ? कैसे इनकी सम्पत्ति का अपहरण किया जाये ? आदि दुर्विचारशील व्यक्तियो की आक्रमणात्मक कार्यवाही से उनका जीवन अशान्त एवं व्यथित वना रहता है। जैसे मास के टुकडे को जल मे मछलियां, पृथ्वी पर कुत्ते आदि जानवर और आकाश मे पक्षिगण मिलकर खाते है, वैसे ही सर्वत्र धनवानो को भी सव खाना चाहते है।

मनुष्य के पास मे जव परिग्रह का वहु संग्रह हो जाता है तो उसका होश ठिकाने नही रहता। वह वेभान एवं हृदयहीन वन जाता है। उसकी इन्द्रिया भी ठीक से काम नही कर पाती। किसी के दु ख-दर्द को वह न तो सुन पाता है और न उसके मन पर उसका कुछ प्रभाव ही पडता है। दूसरो की तो वात ही क्या, परिग्रही अपने व्यक्तियों से भी वात करने मे कतराता है। कर्त्तव्य एव अकर्त्तव्य का मार्ग भी वह निश्चित् नही कर पाता। वास्तव मे धन एक प्रकार की अभिनव व्याधि है, जो सरक्षक को अन्धा, वहरा और गूंगा वना देती है। अतः परिग्रह कभी सुखद नही कहा जा सकता।

जो जन अपने जीवन में आसक्ति और तृष्णा का सर्वथा त्याग कर देता है, जिसकी दृष्टि मे स्वर्ण का मोल मिट्टी के ढेले से अधिक नही एव जो संग्रह के प्रति भी उदासीन बना रहता है, निश्चय उसका जीवन, सुखी जीवन है। जिस जीवन मे चिन्ता, ममता, आसक्ति और परवशताओं का जाल बिछा हो, उसे सुख कैसे मिल सकता है ?

जिसके मन में किसी वस्तु की चाह या कामना नही है, बडा से बड़ा परिग्रह भी जिसका मन ललचाने में समर्थ नही होता, जिसको स्वसुख की अपेक्षा पर-सुख दर्शन की लालसा लगी रहती है, जो परोपकार को ही जीवन का सर्वस्व समझता है, जो स्वय खाने के बनिस्पत किसी अन्य को खिलाने को भी कर्त्तव्य मानता है, ऐसे निस्पृही व्यक्ति का जीवन सुखी जीवन कहा जाता है।

भारतीय सस्कृति मे, आध्यात्मिक परम्परा मे, साधु और परिव्राजको का जीवन सुखी जीवन माना गया है। परिव्राट् बडे-बडे सम्राटों से भी बढ़कर सुखी होते है। जो आनन्द और खुशी एक फकीर को पेड़ की शीतल घनी छाया मे प्राप्त होती है, वह राजमहलो मे रहने वाले राजाओ को भी नसीब नही। अनेक चिन्ताओ के दुश्चिन्तन मे, विविध राजकीय उलझनो मे उलझा उनका मन क्षण पल भी चैन नही पाता। आनन्द की सच्ची अनुभूति वह कभी नही पा सकता जो परिग्रह-ग्रह-ग्रस्त है। चिन्ताओं से चिन्तित तथा इच्छाओ के वशीभूत जन को सच्चा सुख कहां से मिल सकता है ?

अपरिग्रहता ही शान्ति का मार्ग

ससार मे आज चारों ओर भय, घृणा, द्वेष, कलह, अशान्ति और विग्रह-मूलक जो हाहाकार मचा हुआ है, उसके मूल मे परिग्रह का ही हाथ है। परिग्रह ने सृष्टि रत्न मानव को आज दानव जैसा बना दिया है। धन के लोभ मे मनुष्य अशान्ति के दल-दल में फसकर प्राण गवाना चाहता है। अच्छे से अच्छे नर को भी परिग्रह के लालच ने कौडी का तीन बनाकर छोड दिया है।

मनुष्य की गुरुता और महानता तभी तक स्थिर रहती है जब तक कि वह परिग्रह के पीछे भाग दौड प्रारम्भ नही करता अथवा धनाशा से किसी के आगे हाथ नही फैलाता। ऐसी आदत अगर एक बार भी लग जाये तो वह सहसा छूट नहीं पाती। मनुष्य इसके लिये क्या-क्या नही करता ? मगर इससे हीनता और लघुता ही बढती है। 'रामसतसई' मे ठीक ही कहा है—

तौ लगि जोगी जगतगुरु, जौ लगि रहत निराश।
जब आशा मन मे जगी, जगगुरु जोगी दास॥

सचमुच मे अपनी आवश्यकताओ को कम कर जीवन निर्वाह करने वा व्यक्ति ही जगत का गुरु बनकर रह सकता है। ज्योंही उसके मन मे आशा

तृष्णा जगेगी त्योंही योगी दास बन जाता है। परिग्रही को शान्ति नही मिल सकती। ग्राम या नगर छोडकर वह जगल मे भी चला जाये फिर भी उसे चैन मिलना मुश्किल है। अतिशय सम्पन्न व्यक्ति भी लालसा के फेर मे पड़कर सुखी नही रह सकता। इस ससार मे प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति के लिए पर्याप्त से अधिक पदार्थ है, सुख के भरपूर साधन है, परन्तु सबकी तो बात अलग, एक की भी इच्छा भरने के लिए वह पर्याप्त नही कही जा सकती।

इच्छा कभी तृप्त नही होती। एक की पूर्ति होने पर दूसरी अनेक इच्छायें पुन. उठ खडी होती है। जैसे आग ईधन डालने से शान्त नही होती, वैसे इच्छाये पूरी नही होती, सतत अधूरी ही बनी रहती है। इच्छापूर्ति की कोशिश क्षितिज छूने जैसा असफल प्रयत्न है जिसमें आज तक कोई भी व्यक्ति सफल नही हो पाया और न आगे ही सफल होने की सम्भावना है।

शान्ति के प्रेमी स्वामी रामकृष्ण परमहस का कथन है कि अगर तुम वास्तविक शान्ति प्राप्त करना चाहते हो तो इच्छाओ की दासता से, गुलामी से मन को अलग करलो। जिस क्षण तुम इच्छाओ से ऊपर उठ जाओगे यानी इच्छा के सामने झुकना छोड दोगे, स्वतः इच्छित वस्तु तुम्हारी तलाश करने लग जायेगी। सच है कि "सुखी वह है, जिसकी इच्छाये कम है।"

"अगुत्तर निकाय" मे एक स्थान पर कहा है—ससार में दो व्यक्ति दुर्लभ है, एक वह जो स्वय तृप्त है—सन्तुष्ट है, परिग्रह की भूख जिसे नही सताती, और दूसरा वह जो दूसरों को, दीन-दु खियो को तृप्त-सन्तुष्ट करता है। अपरिग्रहता ही शान्ति का वास्तविक मार्ग है। इससे मनुष्य के मन की सारी हाय-हाय धाय-धायं मिट जाती है। जब तक अपरिग्रहता की भावना मन मे घर नही करेगी तब तक तृष्णा उछल-कूद मचाती ही रहेगी।

जो जरूरत से अधिक संग्रह की भावना नही रखता और न उपयोग की इच्छा ही करता है, सच्ची शान्ति उसे ही मिलती है। जिसने बड़े-बड़े महल बना लिये, बाग-बगीचे और खेत-खलिहान तैयार कर लिये, सोने-चांदी आदि द्रव्यों से खजाने भर लिये, उसको रात में नीद नही आती। वह सोना चाहता है, मगर पास का जमा सोना उसे सोने नही देता, वह करवटों पर करवटे बदलता रहता है, पर गाढी नीद नही आ पाती। कहते है कि अमेरिका के पूंजीपति नीद की गोलियां लिये बिना नीद नही ले सकते।

दूसरी ओर देखा जाता है कि मांगकर सूखी रोटी खाकर पानी पीने वाला भिखारी जहां चाहता है चैन से झोली अलग रखकर सो जाता तथा खर्राटे भरने लग जाता है। उसे इस बात की कोई भी चिन्ता नही है कि मेरी झोली कोई उठा ले जायेगा। एकान्त शान्त स्थान में अकेला सोया देखकर कोई घातक आक्रमण कर देगा। कैसे रात आयी और गयी, दिन कब निकला, इसका उसे पता ही नहीं चल पाता।

कहने का आशय इतना ही है कि जीवन मे परिग्रह की मात्रा जितनी कम होगी, सुख और शान्ति उतनी ही अधिक रहेगी। वस्तुत. सच्चा सुख चिन्ताओ का सर्वथा अभाव ही माना जाता है। अपरिग्रहता की दशा मे किसी से वैर-विरोध या ईर्ष्या-द्वेष का प्रश्न ही नही उठता। थोड़े मे निर्वाह करने वाले को किसी से द्वेष क्यो रहे ? लडाई-झगड़ा और तूतू-मैमै का सवाल तो वहां उठता है, छीना-झपटी तो वहां होती है, जहा दो की इच्छा किसी एक वस्तु पर टकरा जाती है। शान्ति भी वही भग होती है जहा परिग्रह का भाव जोर पकड लेता है। जहा इच्छाये, लालच और अहभाव अपना रंग नही जमाते वहां अशान्ति का कारण क्या ? अत मानना होगा कि अपरिग्रहता ही शान्ति का सच्चा मार्ग है।

अपरिग्रहता ही सुख की कुंजी

संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, शान्ति चाहता है मगर इसके वास्ते वास्तविक प्रयास नही करता। जाने क्यो, आज सब ने परिग्रह को ही सुख का मूल मान रखा है। उन सब की धारणा है कि अधिक से अधिक परिग्रही सग्रही अधिक से अधिक सुख का भागी हो सकता है। वह परिग्रह को एक उलझन एव दु:ख भरी समस्या नही मानता।

परिग्रह बढाने मे मनुष्य को अपना प्रिय जीवन और सुख शान्ति सब कुछ दाव पर लगा देना पडता है। कठिन से कठिन श्रम करके, बडी कठिनाई के बाद तब कही परिग्रह प्राप्त होता है। परिग्रह से मन मे एक प्रकार की उत्तेजनात्मक गर्मी बढ जाती, किन्तु थोडी भी शान्ति नही आती। परिग्रह के वश मे मनुष्य बुरे विचार और आचार का दास बन जाता है। और अन्त मे ऐसी स्थिति भी आ जाती है कि जिससे अपने ही रचे परिग्रह के जाल मे उलझ कर वह जीवन से हाथ धो बैठता है।

पूर्व मे भी लोग परिग्रह बढाने का प्रयास करते थे, किन्तु उनके इस प्रयास का अर्थ कुछ दूसरा होता था। वे अड़ी-बडी का काम निकालने, बीमारी, बेकारी के समय काम आने तथा सार्वजनिक या सामाजिक किसी काम को करने तथा दुष्काल आदि के समय मे लोक सेवा का काम रुके नही, एंव द्वार पर आने वाला रिक्त हाथ वापस नही लौटे, अतएव अर्थोपार्जन करते थे। उनके इस अर्जन की कुछ मर्यादाएँ थी, कुछ सीमाएँ थी। किससे अर्थ मिलाना, कैसे मिलाना एव किस प्रकार के धधो से मिलाना आदि कुछ बधी हुई व्यवस्थाएं थी। वे नियमो और व्यवस्थाओ का उल्लघन नही करते थे।

पहले के लोग इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि बडी से बडी भर सकती है, पेटी भर सकती है, किन्तु मन कभी नही भर सकता है विश्व की सारी सम्पदा ही क्यो न हाथ मे आ जाये, त्रिभवन के वैभव

के एकच्छत्र स्वामी क्यों न बन जाये, परन्तु उनसे भी इच्छा की पूर्ति संभव नही है। बड़वानल समुद्र मे रहकर भी जैसे शान्त नही होती, वैसे इच्छाएं भी अतुल सम्पत्ति के मध्य में भी अतृप्त ही रहती है।

परिग्रह की साधना में पशु-पक्षी भी रात-दिन अनियन्त्रित रूप से संलग्न रहते है। अगर मानव भी उन्ही की भाति हर क्षण उसी के पीछे लगा रहे तो मानव और पशु मे क्या अन्तर ? क्या मानव होकर भी मानव पशु तुल्य नही समझा जा सकता ? तिजोरी के भीतर पडा परिग्रह भी जब मानव का सब सुख चैन छीन लेता है, तो जो सिर पर चढा रहता है, उससे मुक्ति कैसे सम्भव हो सकती है ?

यह सच है कि धन के बिना आज के युग मे जीवन-यापन कठिन है। अत: गृहस्थ को धन का संग्रह तो करना पड़ेगा, मगर संग्रह करते हुए भी हमें इस पर विचार करते रहना पड़ेगा कि कही यह सग्रह हमारे लिये ग्रह रूप तो नही बन रहा है ? हम संग्रह करे किन्तु वह कर्तव्य भाव से ही करे, ममत्व और आसक्त रूप में नही। न्याय और नीति पूर्वक जो भी संग्रह होगा उससे जीवन का भी निर्वाह होगा, साथ ही उससे परोपकार भी किया जा सकता है। गृहस्थी का कार्य भी सुचारु रूप से चले और घर आये अतिथि देव के सत्कार मे भी कोई कसर नही हो। इस तरह के भावों से किया गया संग्रह अनर्थ का कारण नही बनता। पेट मे अन्न और तिजोरी में धन सीमित मात्रा मे ही लाभदायक होते है। जो इस भाव की अवहेलना करता है, उसका जीवन दु खद बनता है।

जीवन में कल्याण की कामना करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये कि वह परिग्रह से होने वाली हानि और अपरिग्रह की दशा में उपलब्ध सुख को अच्छी तरह निरखे, परखे और पुन: विवेक से काम ले। इस तरह वस्तु मात्र के प्रति अनासक्त और निर्मम जन ही सच्चा सुख पा सकता है। क्योंकि धन जितना दु:ख का कारण नही, उससे बढकर उसके प्रति किया जाने वाला ममत्व भाव दु:खदायी होता है।

अपरिग्रहवाद से ही विश्व का कल्याण

आज भौतिकता की चकाचौंध मे अर्थ की अनर्थकारी आधी के झोके मे, मानव इस बात को भूल सा गया है कि वह कौन है, कहां से आया है और कहा जायेगा ? उसका यह भौतिक शरीर ही सब कुछ नही है जिसके लिए कि वह रात-दिन हाय-हाय करता है। अपने मात्र साढे तीन हाथ के शरीर की सुविधा के लिए आलीशान कोठिया तैयार करता, शानदार बड़े बगले बनाता, बाग-बगीचे लगाता तथा दुनिया भर के परिग्रह को अपने घर मे जमा करता है। मुट्ठी भर दानो से भरे जाने वाले इस पेट के लिए वह अन्न का भण्डार भरता, और हीरे जवाहरातो से तिजोरियो को भर कर हर्ष एव आमोद मनाते रहता

है । वह धनार्जन के लिए तरह-तरह के अवैध उपायो को काम में लेता और सतत अतृप्त और धनाभिलाषी बना रहता है । वह चाहे जितना अर्जन करले, किन्तु उसकी चाह कभी पूरी नही हो सकती ।

ससार मे अपने ऊपर आने वाले कष्टों और पीड़ाओ के कारणों को ढू ढा जाये तो स्पष्ट मालूम होगा कि इनका मूल असन्तोष ही है । धन के वास्ते आज लोग जितने दु खी नही है, उससे अधिक असतोष के चलते रहने से दु खी है ! जीवन-निर्वाह के लिए किसको कितना चाहिये, उसके पेट के लिए कितना अन्न पर्याप्त समझा जा सकता है तथा तन के लिए कितने वस्त्र की अपेक्षा हो सकती है ? उत्तर स्पष्ट है कि इस सबके लिए अधिक उपलब्ध करने की आवश्यकता नही है । किसी के खाने और पहनने के लिए जितना अपेक्षित है, वह तो उस व्यक्ति के दैनिक श्रम से ही उपलब्ध किया जा सकता है । फिर भी उसके मन मे असन्तोष की आग भड़कती रहती है और जिसमे व्यक्ति की सारी शान्ति और निराकुलता भस्म होती रहती है ।

कण की आवश्यकता वाले प्राणी की मण की लालसा रहती है । इससे कितनी भी अपार सम्पत्ति हाथ मे आ जाये फिर भी अधिक के हेतु इच्छाये तड़फती रहती है, लालसाए लहराती है । हजारों है तो लाखों की और लाखो पर करोडो की कामना मन को कुलबुलाती रहती है । असलियत तो यह है कि जितना ही अधिक लाभ होता है, लोभ उससे भी अधिक बढने लग जाता है ।

आज देखा जाता है कि हर घर में, भाई-भाई मे, अडोसी-पड़ोसी तथा राष्ट्र-राष्ट्र के बीच तनाव और वैषम्य बना रहता है । सर्वत्र दंगे और फसाद होते ही रहते है । न्यायालयो मे अभी जितने भी अभियोग चल रहे है, उनका मूल परिग्रह से ही सम्बन्धित है । जीवन-यात्रा मे सुख का माप-दण्ड द्रव्य समझा जाता है । पैसे ने परमात्मा का रूप धारण कर लिया है । नगद को लोग नारायण कहने लग गये है । आज कोई भी ऐसी कल्पना नही कर पाता कि द्रव्य के बिना भी जीवन का निर्वाह हो सकता है ? सबको यह आश्चर्यजनक जान पडता है । क्योकि आज परिग्रह की धुरी पर ही जीवन-रथ का चक्र चलता है । परिग्रह की कोई सीमा या इयत्ता निर्धारित नही है । चाहे जैसे भी हो प्रचुर परिग्रहो से अपनी कोठी भर लेनी चाहिये । यही आज का प्रमुख लक्ष्य है ।

परिग्रह की होड मे कब क्या होगा, कुछ कहना कठिन है । आज इन्सान इसके लिए हैवान जैसा बन गया है । वह धन के वास्ते जीवन देने और लेने के लिए तत्पर दिखाई देता है । हम सब आज परिग्रह के नाम पर लड़ने और मारने-मरने तक को तैयार रहते है, किन्तु इससे क्या ? सोचना है कि उन नृशंसो ने, अत्याचारियों ने परिग्रह बटोर-बटोर कर आखिर क्या किया ? क्या उनके साथ मे कुछ जा सका ? लूट की, हिसा से प्राप्त की गई वे सारी वस्तुए यही की यही पर रह गयी ।

अतएव यह आवश्यक है कि हम अपरिग्रहवाद के प्रसार व प्रचार में जीवन लगा कर, जग मे इसका विस्तार करे। धन के माहात्म्य को आज का बच्चा-बच्चा जानता है। मगर विश्वकवि टैगोर के इन उद्‌गारो से उसे परिचित कराना आवश्यक है। उन्होने कहा—"हमारा देश आज आत्मदान का ऐश्वर्य चाहता है, विपुल धन की महिमा और प्रतियोगिता नही। धन अब मनुष्य को अर्घ्य नही चढाता वरन् उसे अपमानित करता है और प्रतियोगिता विस्मित करती है, आनन्दित नही, इससे ईर्ष्या होती है—प्रशसा नही।"

निश्चय ही आज के इस सतृष्ण विश्व का कल्याण अगर किसी साधन के द्वारा हो सकता है तो वह अपरिग्रहवाद ही है। अपरिग्रह का प्रयोग सदा ही जन-कल्याण मे सहायक बनेगा, ऐसा सोच कर जीवन-यात्रा मे कदम आगे बढाना चाहिये।

आत्म-संतोष

नगर सेठ सागरमल भगवती महालक्ष्मी के स्वर्ण छत्र पर नये मणिमुक्ता अर्पित करके लौट रहे थे। मार्ग मे एक छोटा-सा देवालय था। उन्होने देखा, एक उपासक दरिद्र वेश मे खडा कृतज्ञता भरे स्वर से कह रहा था—"हे शिवशकर, आपकी कृपा पाकर मै धन्य हुआ। कितना सौभाग्यशाली हूँ मै। न मै किसी से ईर्ष्या-द्वेष करता हूँ और न कोई अन्य मुझ से ईर्ष्या-द्वेष करता है।"

नगर सेठ ने उसे रोक कर पूछा—"उपासक, तुम ने प्रभु के सामने यथार्थ निवेदन नही किया। यह तुम कैसे कह सकते हो कि कोई तुम से ईर्ष्या नही करता। मै ही तुम से ईर्ष्या करता हूँ।"

"मुझ से ईर्ष्या ?" दरिद्र उपासक का कौतूहल जगा।

"हाँ, तुम से ईर्ष्या ? लक्ष्मी का वरदान पाकर भी मेरे मन मे सुख-चैन नही और तुम इतने सुखी हो इसका क्या कारण है ?

समाधान पाने के लिए दोनो मन्दिर के मुख्य पुजारी के पास गये। पुजारी ने 'दया ते पुण्या लक्ष्मीमरियन्तु' इस शास्त्र वाक्य की व्याख्या करते हुए कहा—हे नगर सेठ ! भगवती की कृपा से आपके पास इतना धन है कि आप उसमें मनमाना खेलते है, किन्तु इस दरिद्र के पास इतना आत्म-सतोष है कि स्वयं भगवती इसके हृदय मे रमण करने को लालायित रहती है। आपके दुख और इस परित्यागी व्यक्ति के सुख मे यह अन्तर है।

नगर सेठ को ज्ञात हो गया कि आत्म-सतोष लक्ष्मी की कृपा से भी श्रेष्ठ है।

—डॉ. भेरूलाल गर्ग

५ अपरिग्रह-साधना

☐ मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'

प्रत्येक प्राणधारी प्राणियो मे शरीर, आयु, आहार, निद्रा, भय आदि की प्रवृत्तियॉ समान रूप से होते हुए भी अन्य प्राणियो से मानव के श्रेष्ठ कहलाने का एकमात्र कारण है 'वृत्तियॉ'। मनुष्य में मानवीय वृत्तियॉ भी है और दानवीय भी। जब मानव अपने अन्तस् में बसे हुए काम, क्रोध आदि विकारों को जीतने के लिए अग्रसर होता है तो वह मानव कहलाने लगता है और जब क्रोधादि विकारो का दास बनकर संहार करने पर तुल जाता है तो अपने दानवीय रूप में प्रकट होता है। अन्तर्वृत्तियॉ ही नर को नरदेव या नरोत्तम बनाती है तथा वे ही नर-पिशाच भी बनाती है। इन वृत्तियो की श्रेष्ठता तथा निकृष्टता का आधार बनती है—मनुष्य की तृष्णा और इच्छाएँ। आवश्यकताएँ मर्यादित है, सीमित है, परिमित है और तृष्णा अमर्यादित। मनुष्य अपनी इच्छाओ को ही आवश्यकता मानकर उनकी पूर्ति मे अपनी शक्ति को समर्पित कर देता है। परिणामत: एक इच्छा पूरी हुई कि सैकडो इच्छाएँ पैदा हो जाती है और उसका अन्तिम परिणाम यह होता है कि जीवन समाप्त हो जाने पर भी इच्छाओ का प्रवाह चलता रहता है और अन्त मे वह कह उठता है—"तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा"—तृष्णा तो बूढी नही हुई, लेकिन हम जरूर बूढे हो गए। इच्छाओ की अनियन्त्रित वृद्धि से समाज मे विषमता फैलती है, वर्ग-सघर्ष को बढावा मिलता है। अत. इस स्थिति का निराकरण करने, आवश्यकताओं को नियन्त्रित रखने और मनुष्य ही नही, प्राणिमात्र को सुख-शातिपूर्वक जीवन बिताने की मूल भूमिका को सबल बनाने के लिए भगवान् महावीर ने अहिसा, अनेकान्त के साथ "अपरिग्रह" का उपदेश-सदेश दिया है।

इस विश्व मे अपरिग्रह के समान शुभ और परिग्रह के समान अशुभ वृत्ति अन्य कोई नही है। जहाँ लोभ है, वही परिग्रह है, मूर्च्छाभाव है और ससार का सबसे कठोर बन्धन है, पीडाएँ-विषमताएँ है। भगवान महावीर ने "प्रश्न-व्याकरण सूत्र" मे भी कहा है:—

"नत्थि एरिसो पासो पडिबधो अत्थि सव्व जीवाणं सव्वलोए ।।"

—संसार में परिग्रह के समान प्राणियो के लिए दूसरा कोई जाल बधन रूप नही है।

वस्तु व पदार्थ के प्रति हृदय की आसक्ति—मेरापन की भावना ही परिग्रह है अर्थात् किसी भी वस्तु को अपनी मानकर उसकी ममता में लिप्त हो जाना और ममत्व के वश होकर आत्म-विवेक को खो बैठना परिग्रह है। वस्तुतः प्रभु महावीर ने मानव की प्रकृति को भली-भाँति समझ लिया था और परिग्रह के दुष्परिणामो का वृहद् अवलोकन किया था। इसीलिए उन्होने सग्रहवृत्ति का घोर निषेध करते हुए मुमुक्षु को इस वृत्ति से बचने का आदेश दिया। उन्होने कहा—"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो" मूर्च्छा ही परिग्रह है।

परिग्रह महापाप है जो कि आत्मा को कर्म बधनो से जकड कर उसका अगला लोक तो मिट्टी मे मिलाता ही है, इस लोक मे भी चैन नही लेने देता। आजकल समाचार पत्र इन्ही समाचारो से रगे रहते है कि सरकार ने अमुक व्यक्ति के यहा छापा मारकर इतना सोना, चांदी या रुपया अपने कब्जे में किया या कि अमुक सेठ के गोदामो की तलाशी लेकर हजारो ही नही लाखो की कीमत की भिन्न-भिन्न वस्तुएँ निकाली जो बाजार मे अप्राप्य हो रही है। इन बातो से स्पष्ट है कि परिग्रह आदि पाप भले ही कुछ दिन मनुष्य को कृत्रिम सुख, सतोष का अनुभव करा दे, किन्तु अन्त मे वे अपना फल प्रदान किये बिना नही रह सकते। इसलिए सन्त-महापुरुष या आत्म-मुक्ति के इच्छुक, परिग्रह रूपी महापाप से दूर रहने के प्रयत्न मे लगे रहते है। वे भगवान के वचनो पर विश्वास रखते हुए सदा यही भावना रखते है कि—"अप्पगाहा समुद्द सलिले अचेल-अत्थेण" अर्थात् ग्राह्य वस्तु मे से भी अल्प ही ग्रहण करना चाहिए। जिस प्रकार सागर के अथाह जल मे से अपने वस्त्र धोने के योग्य अल्प जल ही ग्रहण किया जाता है।

वस्तुतः अल्प परिग्रह भी किस प्रकार मोक्ष मार्ग की साधना मे विघ्न डालता है, इसे महापुरुष ही वारीकी से समझ सकते है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस के जीवन का एक प्रसग है —

स्वामीजी ससार से विरक्त होने के कारण सदा आत्म-साधना मे जुटे रहते थे। अपने अमूल्य जीवन के एक-एक क्षण को विना व्यर्थ खोये सदुपयोग करते थे।

एक वार उनके किसी भक्त ने उन्हे एक वड़ा कीमती वस्त्र भेट मे दिया। स्वामीजी ने उसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया क्योकि ऐसा वहुमूल्य वस्त्र उन्हे पहली वार ही मिला था।

किन्तु उस कीमती वस्त्र का प्रभाव उन्हे शीघ्र ही दिखाई दे गया। वह इस प्रकार कि जव वे ध्यान करने वैठे तो ध्यान के वीच मे ही उस वस्त्र का विचार वार-वार आने लगा। स्वामीजी ने सोचा—"कोई वात नही, अभी वस्त्र

नया है और अभी-अभी मिला है अतः इसका विचार आ रहा है। कुछ समय बाद मैं स्वयं ही इसे भूल जाऊँगा।"

पर ऐसा हुआ नही। कई दिन तक वस्त्र शरीर पर रहा और उनकी दृष्टि पुन. पुनः उसकी ओर जाती रही। एक दिन उस नये वस्त्र को धारण किये हुए वे अपनी आराध्या महाकाली के दर्शनार्थ भी गये, किन्तु वहाँ भी उस वस्त्र का ही दिमाग मे ध्यान बना रहा और देवी की भक्ति मे पूरा मन नही लगा। यहाँ तक कि जब वे देवी की प्रतिमा के सम्मुख साष्टाग प्रणाम करने लगे तो यह ख्याल आया—"जमीन पर लेटकर प्रणाम करने से यह सुन्दर वस्त्र खराब हो जाएगा।"

स्वामी परमहस विचारो की ऐसी लीला देखकर हैरान हो गये और अगले ही क्षण उस वस्त्र को शरीर से उतार कर दूर फैंकते हुए बोले—"जो भी वस्तु आत्म साधना मे, मन की शान्ति प्राप्त करने मे और भगवान से मिलन में व्यवधान डालती है, उसकी मुझे तनिक भी आवश्यकता नही, चाहे वह कितनी भी मूल्यवान क्यो न हो।"

उदाहरण पर गहराई से विचार करें तो ज्ञात होता है कि जब एक ही वस्त्र को अत्यल्प काल के लिये ही अपने पास रखने पर स्वामी रामकृष्ण परम-हंस को साधना मे बाधा महसूस होने लगी, तब फिर जो लोग अपने शरीर पर अनेक वस्त्राभूषण रखते है या लाखो का धन सचय कर लेते है और तिजोरियो को ठसाठस भर लेते है, उनका चित्त आत्म-साधना मे कैसे लगता होगा ? स्पष्ट है कि नही लग सकता। ऐसे व्यक्तियो की तृष्णा तो बढती ही जाती है। लाभ मिलने पर मन मे सतोष और तृप्ति होनी चाहिये, पर बजाय सन्तोष के लोभ अधिक तीव्र हो जाता है। अग्नि मे जैसे घी डालने से उसकी ज्वाला अधिक भडकती है, वैसे ही इच्छा की पूर्ति रूप लाभ मिलने पर लोभ अधिक बढता है और फिर मनुष्य मकडी के जाल की तरह लाभ और लोभ के जाल में फंस जाता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए भगवान ने कहा भी है—"जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ।" अर्थात् ज्यो ज्यो लाभ होता जाता है, त्यो त्यो लोभ भी बढता जाता है। इस प्रकार अनुचित सग्रह या परिग्रह मानव के लिए अभिशाप है और जन्म-जन्मान्तर तक के लिए दु ख का कारण है। परिग्रह की वृद्धि करके वह कभी सच्चा सुख हासिल नही कर सकता। सच्चा सुख उसे तभी महसूस होता है, जबकि वह परिग्रह को कम से कम कर लेता है। जैसा कि कहा गया है—"Happy is he, whose wants are few" सुखी वही है जिसकी आवश्यकताएँ कम से कम है।

□□□

६ अपरिग्रह की पाँच भावनाएँ

□ श्री राजेन्द्र मुनि शास्त्री

अपरिग्रह भावना की साधना मनुष्य के लिए परिग्रह के घातक प्रहारों के विरुद्ध एक समर्थ कवच सिद्ध होती है। जगत् है तो इसमें भौतिक आकर्षण भी रहेंगे अवश्य पर कोई इन तीव्र आकर्षणों मे रहकर भी इनसे अप्रभावित रहना चाहे तो अपरिग्रह उसकी सहायता कर सकता है। शास्त्रो मे ऐसी पाँच भावनाओ का वर्णन मिलता है जो अपरिग्रह महाव्रत को रक्षित और पुष्ट करती है, विकसित करती है। इन भावनाओ का आराधक कभी परिग्रह-प्रपच का शिकार नही बन सकता, उसका आत्मिक उत्थान अवरुद्ध नही होता और वह सतोष-सागर में अवगाहन करता हुआ शान्ति की लहरो का आनन्द लेता रहता है। उसका मन स्ववश मे हो जाता है, चित्त स्थिर हो जाता है, विवेक जागृत हो जाता है और सन्मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा और शक्ति से वह सम्पन्न हो जाता है। एक अकेला अपरिग्रह ही अपने आप मे मानव-कल्याण की अपरिमित शक्ति रखता है।

अपरिग्रह की ५ भावनाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय सवर भावना।
(२) चक्षुरिन्द्रिय सवर भावना।
(३) घ्राणेन्द्रिय सवर भावना।
(४) रसनेन्द्रिय सवर भावना।
(५) स्पर्शनेन्द्रिय सवर भावना।

स्पष्ट है कि उपर्युक्त भावनाओ का सीधा सम्बन्ध मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों से है। ये ऐन्द्रिक अनुभव ही भौतिक पदार्थों के प्रति आकर्षण को उत्पन्न करते है, उसे तीव्र बनाते है और मनुष्य के मन मे उसे प्राप्त करने की ललक उठने लगती है। इस प्रकार वह परिग्रह के फेर मे पड जाता है। इन्द्रियो की प्रवृत्ति पर नियामक और नियन्ता बन कर ये भावनाएँ परिग्रह के घातक प्रहारो से मनुष्य की रक्षा करती है। इन्द्रियो के ये विषय सुन्दर-असुन्दर, मधुर-कटु दृश्य, शब्द, गध, स्वादादि जगत् मे सर्वत्र और राशि-राशि बिखरे हुए है। मनुष्य के लिए इन विभिन्न अनुभूतियो मे सर्वथा दूर रहना कठिन है किन्तु इनके मध्य रहकर

भी इनसे राग-द्वेप न करना—ये भावनाएँ सिखाती है। इस प्रकार अपरिग्रह महाव्रत के पालन मे ये समर्थ सहायक सिद्ध होती है। आवश्यकता इन भावनाओ के माहात्म्य को स्वीकार करते हुए इन पर चिन्तन-मनन करने की है। यह वह मार्ग है जिससे मनुष्य के मन मे इन भावनाओ के प्रति आस्था भी जागृत होती है और इनके अनुपालना की सशक्त प्रेरणा भी मिलती है।

(१) श्रोत्रेन्द्रि संवर : शब्द निःस्पृह भावना

इस भावना का सम्बन्ध श्रुति से, कर्णेन्द्रिय अनुभूति से है। कर्णेन्द्रिय की प्रवृत्ति है–सुनना। कान जगत् मे उत्पन्न और सुलभ शब्द, स्वर, ध्वनि को ग्रहण करते हैं और उसकी प्रतिक्रिया होने लगती है—मन मे। मनुष्य की मनोवृत्ति के अनुरूप ये शब्द या स्वर मधुर और प्रिय भी हो सकते है और कटु तथा अप्रिय भी। जब व्यक्ति की खुशामद की जा रही हो, उसका कारण-अकारण प्रशस्ति गान किया जा रहा हो—सम्बन्धित शब्द उसे बडे मधुर लगते है। एक कामना उसके मन मे उठने लगती है कि यह प्रसग जितना अभिवर्धित होता चला जाय उतना ही अच्छा है। वह विभिन्न प्रश्नादि पूछ कर भी वाचक के लिए ऐसी स्थिति बनाता रहता है कि यह तथाकथित मधुर प्रसग और आगे बढता चला जाय, उसके अनेक प्रिय अशों की पुनरावृत्ति होती चली जाय। अपनी प्रशसा सुनने मे भी व्यक्ति को एक अद्भुत सुख मिलता है और इस सुख के लिए उसके मन का चप्पा-चप्पा लालायित होकर सजग हो उठता है। अपनी रुचि के अनुरूप सगीत की स्वर लहरियाँ, वाद्यो की झणकार, पक्षियो का कलरव, नदी का कल-कल, पवन की मर्मर ध्वनि आदि भी मनुष्य को रसानुभूति प्रदान करती है।

जैसे मधुर शब्द आनन्दप्रद होते है—वैसे ही कटु और अप्रिय शब्द मनुष्य के लिए दु.खद भी होते है और वह इनसे दूर रहने की चेष्टा करता है। इनका प्रतिकार करता है। पर निन्दा तो मिष्ठान्न से भी अधिक मधुर होती है। व्यक्ति इसमे बडा रस लेता है। खोद-खोद कर पूछता और सविस्तार सुनने की कामना रखता है। इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के अपवाद कदाचित कुछ ही सयमीजन हो सकते है।

जगत् में अनेकानेक मधुर-कटु, प्रियाप्रिय स्वर है—शब्द है और श्रवणेन्द्रिय का उनके सम्पर्क मे आना भी अति स्वाभाविक है। शब्द का त्याग किया जाना सहज सभाव्य चाहे न हो; किन्तु प्रतिक्रिया स्वरूप शब्दो के प्रति उपजने वाले राग-द्वेष का त्याग अवश्य किया जा सकता है। हम तटस्थ भाव का निर्वाह कर सकते है। यह मुनिजन के लिए तो एक आवश्यक सयम है। प्रिय स्वर पर रीझना अथवा अप्रिय शब्द पर रोप करना साधु का स्वभाव नही

उपेक्षापूर्वक, तटस्थ और अप्रभावित रहना ही श्रोत्रेद्रिय सवर भावना का मूल मत्र है। साधक को चाहिये कि वह शब्दो मे अपने बुद्धि व मति को लगाए ही नही, उन प्रिय-अप्रिय शब्दो मे मन न रमाए। राग-द्वेप जागरण की सभावना ही इससे समाप्त हो जायगी। साधक शब्दो को सुने, पर सुनकर—

"न तेसु रज्जियव्वं, न सज्जियव्व, न रुसियव्वं, न हीलियव्वं।"[1]

अर्थात् न उनसे राग उत्पन्न होने दे, न रोष करे, न किसी को डाँटे-टफकारे, अथवा निन्दा करे। जो इस प्रकार राग-द्वेष रहित होकर 'सम' बना रहता है—वही वीतराग है। सवर भावना का अभिप्राय यही है कि मनुष्य अपने मन को इस प्रकार की तटस्थता की शिक्षा दे।

(२) चक्षुरिन्द्रिय—रूप निःस्पृह भावना

नेत्र मानव-मन को अनेकानेक सुन्दर-असुन्दर स्थितियो के सम्पर्क में लाते है। चक्षु ही दृश्यमान जगत् से मनुष्य का परिचय कराते है। जगत् मे अनेक मन-भावन दृश्य, वस्तुएँ और व्यक्ति है जिन्हे देखकर मनुष्य आनन्दित होता है, उनमें अनुरक्त होता है। इसके विपरीत अनेक कुदर्शी वस्तुएँ ऐसी है जो रोष, घृणादि उपजाती है। दोनो ही परिणाम घातक है।

देखना मानव की सहज प्रवृत्ति है। यह न स्वाभाविक है न आवश्यक कि वह कुछ देखे ही नही। वह देखे, किन्तु किसी प्रिय या सुन्दर वस्तु के प्रति आकर्षित होकर उसके प्रति अनुरक्त होना अथवा असुन्दर के प्रति रोष करना अनुपयुक्त है। तटस्थ भाव से समस्त दृश्यमानो का अवलोकन करना ही साधक का धर्म है।

वस्तु कोई भी स्वय मे सुन्दर अथवा असुन्दर नही होती। जो वस्तु किसी एक के लिए अति सुन्दर है - वही किसी अन्य के लिए असुन्दर भी हो सकती है। जो हमे आज सुन्दर प्रतीत होती है, वही वस्तु कल सभव है कि हमे ही सुन्दर न लगे। यह सौन्दर्य वस्तु का गुण न होकर दर्शन की दृष्टि मे निवास करने वाला एक तत्त्व है। अत. रूपारूप आधारित प्रतिक्रिया सर्वथा मिथ्या है। साधक जन के लिए यह अपेक्षित है कि स्थितप्रज्ञ सा वह चक्षु के समक्ष आये दृश्यो को देखता रहे और मन को इस प्रकार प्रशिक्षित करे कि वस्तुओ को देखकर उसमे राग-द्वेप उत्पन्न न हो। यही चक्षुरिन्द्रिय सवर भावना का मूल मंतव्य है।

---

१ प्रश्न व्याकरण : सवर द्वार : ५

(३) घ्राणेन्द्रिय संवर भावना

'घ्राण', अर्थात्—नासिका द्वारा हमे वस्तु की गध से परिचित होने का अवसर मिलता है। सुगध हमारे मन को प्रफुल्लित कर देती है और उस सुगधित पदार्थ के प्रति एक अनुराग जागृत कर देती है। इसके विपरीत दुर्गंध हमारे मन को अप्रिय ही नही कष्टकर भी लगती है और वस्तु के प्रति घिन उपजाती है। यह सहज स्वाभाविक मानव वृत्ति है, किन्तु इस प्रवृत्ति पर नियत्रण स्थापित करना, सम-भाव के साथ सुगध और दुर्गंध के प्रति राग-द्वेप न करना साधक की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

वस्तुस्थिति यह है कि सुगध अथवा दुर्गंध वस्तु विशेष का स्थायी गुण धर्म नही है। सुगधित वस्तु कब दुर्गंध पूर्ण या गधहीन हो जाय, अथवा दुर्गंधित वस्तु मे कब सुगध आने लग जाय—कुछ कहा नही जा सकता। फिर गध के आधार पर वस्तु के प्रति राग-द्वेष या प्रीति-घृणा करना कैसे उचित कहा जा सकता है। तीर्थंकर भगवती मल्लि की स्वर्ण प्रतिमा मे सुगधित, सुस्वादु खाद्य पदार्थो का एक ग्रास प्रतिदिन डाला जाता था। विवाहोत्सुक अनेक नरेशों के एकत्रित होने पर जब प्रतिमा को खोला गया तो वह सचित सुगधित खाद्य पदार्थ विकृत होकर भयकर दुर्गंध व्याप्त करने लगा। यह नियति है सुगधपूर्ण अनुभव होने वाले पदार्थो की। ऐसी सुगध पर मुग्ध होना सर्वथा मिथ्या है।

'ज्ञाता सूत्र' का एक दृष्टान्त है जो यह सिद्ध करता है कि समस्त पुद्गल गुण धर्म मे परिवर्तन शील है और उनसे इन तात्कालिक गुणो के आधार पर राग-द्वेप करना व्यर्थ है। राजा जितशत्रु का मत्री सुबुद्धि इसी प्रकार का तटस्थ मनोवृत्ति वाला पुरुष था। नगर के समीप की खाई से पानी की सडाध से जब राजा एव अन्य राजपुरुप उद्विग्न हो उठे, तब भी सुबुद्धि सर्वथा सामान्य बना रहा। राजा को आश्चर्य हुआ और उसकी जिज्ञासा को तुष्ट करते हुए सुबुद्धि ने उत्तर दिया कि परिवर्तन पुद्गलो का स्वभाव है, अत जल की इस दुर्गंध पर मन मे घृणा लाना व्यर्थ है। यही जल कभी स्वच्छ और सुगंधित भी हो सकता है। राजा को सहसा कथन पर विश्वास नही हुआ। कालान्तर मे मत्री ने राजा को अपने यहाँ निमत्रित किया। भोजन के साथ जल भी राजा को रुचिकर लगा। मत्री ने स्पष्ट किया कि यह जल उसी खाई का दुर्गंधपूर्ण जल है जिससे कभी आपने नाक भौ सिकोड कर घृणा की थी। अमुक प्रक्रिया द्वारा मत्री ने उस जल को शुद्ध कर दिया था। अस्तु, गध के आधार पर वस्तु को हेय या प्रेय मानना; उसके प्रति राग अथवा द्वेष विकसित करना समीचीन नही है। साधक को चाहिये कि वह पुद्गलो के पूरण-गलन धर्म का ध्यान रखते हुए तटस्थ वृत्ति के साथ समत्व योग की साधना मे रत रहे और आत्मा को

प्रत्येक परिस्थिति में आनन्दित ही रखे। सुगध और दुर्गंध—दोनो ही स्थितियो मे समभाव बनाये रखे—जो स्थितप्रज्ञ का स्वभाव है।

(४) रसनेन्द्रिय संवर भावना

अन्य ज्ञानेन्द्रियो का एक-एक ही धर्म होता है (यथा—नेत्र का देखना, कान का सुनना आदि); किन्तु रसनेन्द्रिय, अर्थात्—जीभ के दो धर्म है—स्वाद लेना तथा बोलना। बोलने के सम्बन्ध मे सयम की भावना का विषय भाषा समिति के अन्तर्गत होता है। हम जिन खाद्य पदार्थो का सेवन करते है, उनके स्वाद से जीभ ही हमे परिचित कराती है। पदार्थ सरस, स्वादिष्ट भी हो सकते है और नीरस या अप्रिय स्वाद वाले भी। साधक को मन मे अच्छे स्वाद के प्रति अनुराग या आकर्षण भी नही उठना चाहिये और बुरे स्वाद के प्रति जुगुप्सा या विकर्पण भी नही।

यहाँ यह प्रश्न भी चिन्तनीय है कि आहार का मूल प्रयोजन क्या है? वस्तुस्थिति यह है कि साधक को अपनी साधना हेतु शरीर को पर्याप्त सशक्त रखने मात्र के लिए आहार ग्रहण करना चाहिये, सरसता से रसना को तुष्ट करने के प्रयोजन से नही। चाहे श्रेष्ठ व्यजन मिले और चाहे तुच्छ, स्वादहीन पदार्थ—दोनो ही स्थितियो मे साधक के लिए यह निष्कर्ष ही अनिवार्य है कि न तो वह काम्य पदार्थ है और न वह उपेक्षणीय है। मुझे तो जीवन-यात्रा चलाने के लिए कुछ आहार रूप मे चाहिये; अत जो भी प्राप्य है—उसे ग्रहण करना है। उदर-पूर्ति मात्र के लिए आहार करना है।

"अणासयमाणे लाघविय आगममाणे तवे से अचिरमन्नागए भवई।"

भोजन के समय जो उसका निग्रह कर अस्वाद भाव से आहार ग्रहण करता है, वह भोजन करते हुए भी कर्मो को क्षीण करता है और आहार करते हुए भी तपस्वी है। आवश्यकता इसी बात की है कि वह स्वादेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करले। यह 'रस-विजय' सभी विजय का मूलाधार है—'**सर्वजित जिते रसे**'। जिसने रसना पर विजय प्राप्त करली उसने सब कुछ जीत लिया।

(५) स्पर्शनेन्द्रिय संवर भावना

शीतल, उष्ण, सुकोमल, कठोर, सुखद-दु खद अनेक स्पर्श इस जगत् मे है जो हमारे कलेवर मे सम्पर्क मे आकर सुखात्मक और दु.खात्मक अनुभूतियाँ जागृत करते है—मन मे चाचल्य अथवा शैथिल्य का सचार करते है। कभी शीतल-मद पवन आकर प्रफुल्लित कर जाती है तो कभी झझावात आकर आतंकित कर जाती है। कभी लू की तप्त पवन आकर झुलसा जाती है। कठोर

चट्टानो का खुरदरा स्पर्श भी होता है तो निर्मल, शीतल जल का सुखद स्पर्श भी होता है। साधक इन सभी सुखद और दुःखद स्पर्श-स्थितियो में सदा सम बना रहे—यह आवश्यक है। शीत व ताप की अधिकता अथवा न्यूनता से उसे सदा अप्रभावित ही रहना चाहिये, अन्यथा प्रमाद में घिर कर वह साधना के पथ पर अग्रसर न हो सकेगा। सुखद स्पर्शो से मोह भी उतना ही घातक है, जितना दु.खद स्पर्शो से बचाव की प्रक्रिया। शरीर को सुखानुभव देने वाले स्पर्श आत्मा को कुंठित कर सकते है। भयंकर ताप, लू आदि के कष्टों से विचलित होकर शीतल पवन के आगमन की प्रतीक्षा से आतुर हो जाना भी अनुपयुक्त है। जैसी भी परिस्थिति हो समत्व भावना के साथ उसका स्वागत करते हुए उसमे जीना और साधना-यात्रा को शिथिल न होने देना—यही साधक का धर्म है। कर्कश, कठोर, उष्ण और दुःखद स्पर्श साधक को धैर्ययुक्त करते है, अचंचल बनाते है और सहिष्णुता की शान्ति प्रदान करते हैं।

□ □ □

अन्तर

एक शिष्य ने अपने गुरु से पूछा—"गुरुजी, आप तो कहते थे कि संसार के सभी दरिया समुद्र मे जा मिलते है? फिर समुद्र का पानी इतना खारा क्यों है? जब कि हर दरिया का पानी मीठा होता है।"

गुरु ने कहा—"वह समुद्र लेता ही लेता है, देता एक बूंद भी नही। जो केवल सचय करता है, उसमे कड़वाहट के अतिरिक्त और होगा ही क्या?"

शिष्य ने फिर पूछा—"कहते है कि समुद्र का पानी सूर्य सोखता रहता है, वही पानी बादल बनकर बरसता है, फिर आप यह कैसे कहते है, कि देता एक बूंद भी नही?"

गुरु ने समझाते हुए कहा—"छीने जाने और देने में पृथ्वी-आकाश का अन्तर है बेटे! तुम्हारे पैसे या सामान कोई छीन ले तो वह देना नही हुआ, देने की भावना से दिया गया ही देना होता है।"

—कमल जोग

ऐसा हो नही सकता कि हमारी सारी तमन्नाएँ सहज भाव से पूरी होती चली जायं, क्योंकि जैसे हमारी तमन्नाएँ है, वैसे औरो की भी तमन्नाएँ है। और बहुधा हमारी तमन्नाओ से टकराती है। यदि हमारी तमन्ना पूरी हो तो किसी अन्य की तमन्ना टूटती है। किसी अन्य की तमन्ना पूरी हो तो हमारी टूटती है। ऐसी अवस्था मे हमारी तमन्नाओ की पूर्ति के रास्ते मे जहा भी कोई अवरोध पैदा होता है, वही हमे झु झलाहट होती है, गुस्सा आता है, हमारा आन्तरिक तनाव कई गुना बढ जाता है। शरीर और मन की ग्रथिया और अधिक उलझ जाती है। हम अधिक चिडचिडे होने लगते हैं। हमारी शांति अधिक भग होती है। सच्चाई को जाने बिना हम अपने दु.खो का कारण औरो पर आरोपित करने लगते है। मन मे द्वेष, दौर्मनस्य भरते रहते है। रागरजित चित्त मे जो गाँठे बधती है और उनके द्वारा जो मानसिक व शारीरिक तनाव पैदा होता है, वह इस द्वेप दूपित अवस्था मे कई गुना अधिक बढ जाता है। मन का उत्तेजन और उत्तापन तीव्र हो उठता है। अशाति और बेचैनी ज्यादा बढने लगती है। प्रतिक्षण अपने मकसद की पूर्ति न हो सकने की आशकाए हमारी व्याकुलता बढाती रहती है और इस प्रकार हमारा मन और तन दोनो अस्वस्थ हो उठते है। जीवन का वास्तविक सुख हमसे कोसो दूर रहता है।

जीवन के सारे भौतिक सुख-साधन, वैभव-विलास, ऐश्वर्य-सम्पदा हमे फीकी लगने लगती है। क्योकि हम हमेशा जो है, उससे किसी अन्य ऊंची स्थिति की खोज मे पागल रहते है। जीवन सतत अभावग्रस्त बना रहता है। इस अभाव की पूर्ति मे बाधा स्वरूप आने वाले हर व्यक्ति, वस्तु, घटना व स्थिति के प्रति चित्त दुर्मन बना रहता है। मनचाही बात होती नही, इसकी पीडा तो होती ही है। दूसरी ओर अनचाही होती रहती है। यह उस पीडा की आग मे पैट्रोल छिडकने का काम करती है। मनचाही स्थिति को हम अपनी ओर खेंचने का प्रयास करते है और अनचाही स्थिति को दूर ढकेलने का। इस खिचाव और इस दुराव के कारण, इस राग और इस द्वेप के कारण जो आन्तरिक सघर्ष चलता रहता है, वही हमारा दु ख है। जहा यह सघर्प समाप्त हुआ, वही खिचाव-तनाव दूर हुए, दु ख-दर्द दूर हुए और सही सुख तथा सही शाति मिलने लगी।

जैसे द्वेप की उत्पत्ति राग से होती है, वैसे ही राग की उत्पत्ति मोह-मूढता से होती है। यह मोह मूढता क्या है ? यह हमारे चित्त की वह अज्ञान अवस्था है, जिसमे कि हम किसी भी व्यक्ति, वस्तु अथवा स्थिति को और साथ ही साथ अपने आपको चिरस्थायी मानकर उसके प्रति आसक्त हुए चले जाते है। विपश्यना साधना द्वारा जब चित्त एकाग्र होकर अपने इस बेचैन अन्तर्मन का स्वय दर्शन करता है तो उसे यह सारा खेल समझ मे आने लगता है। वह अपने ही समान सारी बाह्य वस्तुओ को, व्यक्तियो को और स्थितियो को अनित्य महसूस करने लगता है। उनके प्रति नित्यभाव की मिथ्या दृष्टि दूर होती है।

उनके नश्वर भंगुर और परिवर्तनशील स्वभाव को सही-सही समझने लगता है। इस प्रकार सही बात को सही रूप में देखने-समझने वाली जो प्रज्ञा जागती है, वह हमें उन भगुर आलम्बनों के प्रति आसक्त होने से, चिपकने से, बचाती है। राग के प्रति जहाँ वह चिपकाव टूटता है, वही राग से उत्पन्न होने वाले दु.ख दूर हो जाते है। और जब राग के प्रति चिपकाव टूटता है तो द्वेष दूषित होने का कोई कारण नही रह जाता। अतः द्वेष के कारण पैदा होने वाले दु.खो से छुटकारा मिल जाता है। इसी प्रकार राग और द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले भय, आशका, घृणा, दुर्भावना, क्रोध, दौर्मनस्यता, ईर्ष्या, मात्सर्य आदि-आदि सभी प्रकार के मनोविकारो से छुटकारा मिल जाता है और इनके कारण उत्पन्न होने वाले सभी दु खो से भी छुटकारा मिल जाता है। जहाँ दु खो की जड उखडी वही सारे दु ख उखडे। जहाँ दुष्प्रज्ञता उखड़ी, वहाँ उससे उत्पन्न होने वाले राग और द्वेप तथा तज्जनित अनेकानेक मनोविकारो का आवेश रुक गया। इसीलिए आवश्यक है कि दु ख से आत्यतिक विमुक्ति पाने के लिए हम उसकी जड को उखाड़ फैके। मोह-मूढता को समूल नप्ट करे। प्रतिक्षण विद्या जागती रहे, प्रज्ञा जागती रहे, वोधिधर्म जागता रहे। बेहोशी मे पडकर राग की आसक्तियो मे न उलझने पाये। इसी में हमारी वास्तविक सुख-शाति समायी हुई है। इसी मे हमारा मगल-कल्याण समाया हुआ है।□□□

समय का सदुपयोग

सन्त दाऊद को पिता की विरासत मे तीस दीनार मिले। उन्होने उसी से जिन्दगी के तीस वर्प काटे और उतने से ही अपना खर्च चलाया। लोगो ने सहायता करनी चाही तो उन्होने सदा इन्कार किया और कहा—गुजारे के लिए जो मिला हुआ मौजूद है तो ज्यादा की हविस क्यो करूँ ?

वे सत्तू घोलकर पीते थे। किसी ने पूछा—आप रोटी क्यों नही बना लेते ? जवाब दिया—जितनी देर मे रोटी बनाऊँ उतनी देर मे पचास आयतो का पाठ क्यो न करूँ ?

पीने का पानी धूप में रखा था। किसी ने कहा—इसे छाया में क्यो नही रख लेते ? दाऊद ने कहा—इतनी सुविधा के लिए भगवान के लिए लगने वाले समय को अपने लिए खर्च करूँ ?

—डॉ० [illegible] गर्ग

८ भोग और संग्रह की रुचि के त्याग से ही भगवत्प्राप्ति

□ स्वामी रामसुखदास

मनुष्य में जहाँ संसार की कामना हैं, वहाँ ही उसमें भगवान् की तरफ चलने की रुचि भी है। यदि भगवान को प्राप्त करने की रुचि जम जाय तो फिर कामना नष्ट होकर भगवत्प्राप्ति मे देरी नही है। यह मानव के विवेक की महिमा है। यह सत्य है कि प्राय· पापियो के ऐसा निश्चय हुआ नही करता, परन्तु ऐसा नही है कि पापी ऐसा निश्चय नही कर सकते। महान् से महान् पापी अपना उद्धार कर सकता है। जब तक मृत्यु काल नही आया हैं, तब तक इस मनुष्य मे यह शक्ति है कि वह भगवत्प्राप्ति का निश्चय कर सकता है। परन्तु भोगो का, धन का महत्त्व हृदय मे रखते हुए परमात्मा की प्राप्ति का निश्चय नही कर सकता।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि किये हुए पाप मनुष्य को भगवान् की ओर जाने में नहीं रोक रहे हैं। इसी तरह पदार्थ भगवान् की ओर जाने मे नही रोक सकते। परन्तु वर्तमान मे भोगो का महत्त्व जो है, वह बाधा दे रहा है। भोग उतना नही अटकाते, जितना भोगो का महत्त्व अटकाता है। आपकी रुचि नियत-प्रधान है। पापी ने पाप बहुत किये, परन्तु अब उसकी रुचि नियत पाप करने की नही रही, अब उसने निश्चय कर लिया कि एक परमात्मा की प्राप्ति ही करनी है। इसलिए उसे धर्मात्मा बनते देर नही लगती है। क्योकि मनुष्य स्वय परमात्मा का अश है। परमात्मा की प्राप्ति मे देरी नही है।

यदि भोग और सग्रह की रुचि को रखते हुए परमात्मा की प्राप्ति करना चाहे, तो परमात्मा की प्राप्ति तो दूर रही, उनकी प्राप्ति का एक निश्चय भी नही हो सकता। कारण कि जहाँ भोगो की रुचि नही है, वहाँ ही परमात्मा है। रुचि जब तक भोग सग्रह मे है, मान, बडाई, आराम मे है, तब तक कोई भी परमात्मा मे नही लग सकता। क्योकि उसका चित्त भोगो की रुचि द्वारा हरा गया। जो शक्ति थी, वह भोग और ऐश्वर्य मे लग गयी। भोग और सग्रह से मनुष्य को मिलेगा कुछ नही, बल्कि वह परमात्मा की प्राप्ति से वचित रह जायेगा। धोखा हो जायेगा। धोखा, मान, बडाई कितने दिन रहेगी? मान, बडाई मिलकर भी क्या निहाल करेगी? भोग कितने दिन भोगेगे? सग्रह कितने दिन रहेगा? माना, यहाँ खूब धन इकट्ठा किया, मर जाओगे तो धन यही रह जायेगा। आयु समाप्त हो जायेगी। परमात्मा की प्राप्ति मे वचित रह जाओगे।

इसलिए भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि यदि परमात्मा की प्राप्ति वास्तव मे चाहते हो, तो भोग और सग्रह को महत्त्व मत दो। आज तो खर्च के लिए ही रुपयों का महत्त्व नही, बल्कि उनकी सख्या को भी महत्त्व दे रहे है। हम लखपति हो जायं। हमारे इतना संग्रह हो जाय। रुपया है, उसको खाने में खर्च नही कर सकते, अच्छे काम में खर्च नही कर सकते। एक धुन धन जोड़ने की लगी हुई है। संख्या कम न हो जाय, मूलधन मे कम से कम एक लाख रुपया तो इस साल जमा हो जाय, ऐसी रुचि रहती है। लड़कों को उपदेश देते है कि "जोडो ! नही तो कमाओ उतना खाओ। मूल पूँजी खर्च करते हो, तुम मे अकल नही है।" मूल खर्च करते हुए दु.ख होता है। मूल मे क्या तूली लगाओगे ? नही खर्च करोगे तो क्या करोगे ?

सग्रह की यह वृत्ति नरकों में ले जाने वाली है। माँ-बाप बूढे हो जाते है, वे लड़कों को समझाते है कि 'तुम लोग बेअकल हो। मूलधन खर्च करते हो। इस मूलधन को मत छेड़ो। जितना कमाओ उतना खर्च कर लो। मूल धन मत कम करो।' ऐसे पुरुष परमात्मा की प्राप्ति क्या करेंगे ? वे कर ही नही सकते। साधु हो, गृहस्थ हो, पढा-लिखा हो, चाहे मूर्ख हो, चाहे पण्डित हो, भाई हो अथवा बहिन हो, इस प्रकार संग्रह करने की, तथा सग्रह बना रहे, यह रुचि रहेगी, तब तक आप परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग मे नही चल सकते। आपको ऐसे सग्रह की रुचि नही है, तो चाहे आपके पास लाखो, करोड़ो रुपये है, आपको अटका नही सकते। बैंको में बहुत धन पडा है, शहर में बहुत मकान है। वे हमको नही अटकाते। क्यों नही अटकाते ? क्योकि उनमें हमारी ममता नहीं है। उनकी प्राप्ति की इच्छा नही है। हमारी इच्छा हो जायेगी तो हम फँस जायेंगे। ससार में बहुत धन है। हमारा बन्धन कहाँ है ? जितने धन मे हमने ममता की है, वही तो बाँधनेवाला है। ससार मात्र से हमारी मुक्ति स्वतः है। १०-१२ आदमियो को, जिनको अपना मान रखा है, वही ही बन्धन है। लाख दो लाख रुपया अपना मान रखा है, मकान अपना मान रखा है, वे मनुष्य मर जायें, उनको कुछ भी हो जाय, हमारे चित्त पर कुछ असर नही पड़ता। जिन मकानो को अपना नही माना, वे सबके सब धराशायी हो जायं, तो हम पर कोई असर नही पडता। जिन रुपयों को हमने अपना नही माना, वे चले जायं, लाखों-करोडो की उथल-पुथल हो जाय तो हम बँधे हुए नही है।

जब सारे ससार से बन्धन नहीं है, यदि इन थोड़ों को (जिन्हे अपना मान रखा है) भी त्याग कर दो, तो निहाल हो जाओगे। थोड़ी सी मुक्ति बाकी है, ज्यादा बंधन नही है। ज्यादा सा बन्धन तो छूटा हुआ है ही। जिनमें आप ममता करते हो, उनमे आप बँध जाते हो। मनुष्यों में ऐसी ही चाल है। वे ज्यादा व्यक्तियों-पदार्थो मे ममता करना चाहते है। वक्ता भी चाहता है, श्रोता ज्यादा आ जायं। ऐसी इच्छा नहीं रखेंगे तो फँसेंगे कैसे ? फँसने की तैयारी

है। इसलिए भोग मिल जाय, संग्रह हो जाय। अधिक मिल जाय पर और चाहने से मिलता नही। यदि मिल जाय तो टिकेगा नही और टिकेगा तो आप नही टिक सकेंगे। बन्धन जायेगा नही, बन्धन तो आपके छूटने से छूटेगा। इस तरह आप फँसे ही रहोगे। मरने के बाद आप छूट सकोगे नही—

"मैं मैं बुरी बलाय है, सको तो निकलो भाग ।
कब तक निबहे रामजी, रूई लपेटी आग ।।"

रुई मे लपेटी आग कितने दिन ठहरेगी ? वह जलायेगी ही। जिन पदार्थो मे 'मैं मैं' करते हो, वे कितने दिन ठहरेगे ? आप सम्बन्ध रखोगे, तो जल ही जाओगे। इसलिए प्रत्येक भाई-बहिन के लिए बहुत आवश्यक है कि ससार के भोगों को और उनके सग्रह की इच्छा को भीतर से त्याग दे।

भीतर से पदार्थो की इच्छा छोड़ देने पर पदार्थ प्रारब्धानुसार स्वत: आते है। चाहना से पदार्थो के मिलने में आड लगती है। अपनी चाहना का त्याग होने से आपकी आवश्यकता फैलती है। स्वत: लोगों के मन मे आपकी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए प्रेरणा होती है। हमारे चाहना रखते हुए, हमारी इच्छा हममे सीमित हो जाती है। आड़ लग जाती है। जब कामना रखते हुए हमे धन-मकान मिलता है, हम अपने को सफल मानते है। चाहना का त्याग होने पर वस्तुएँ हमारे काम मे आकर सफल होगी। आपके हृदय से पदार्थो-प्राणियो की गुलामी निकल जायेगी।

परमात्म तत्त्व मे नित्य निरन्तर स्थिति चाहते हो तो उत्पत्ति-विनाश वाली वस्तुओ का आकर्षण सर्वथा मिटाओ। उत्पन्न और नष्ट होने वाली वस्तुओ मे फँसे रहोगे, तो अनुत्पन्न तत्त्व नही मिलेगा। सदा साथ मे रहता हुआ परमात्मा नही मिलेगा। उससे वचित रह जाओगे। भोग और सग्रह रखोगे तो परमात्मा से वचित रहने के सिवाय अन्य कुछ लाभ नही होगा। धन भी नही मिलेगा, यदि मिलेगा तो रहेगा नही। न भोग मिलेगे, यदि मिलेगे तो रहेगे नही। और न आप रहोगे। केवल आपको जन्म-मरण मे डालने वाला, नरको में ले जाने वाला बन्धन रहेगा। इसलिये भोग और सग्रह की इच्छा सर्वथा त्याग दो।

आपके पास धन रहने से मेरा विरोध नही है। आप जो उसके गुलाम बनते हो, उससे मेरा विरोध है। न्याययुक्त कमाते हुए, लाख रुपया आ जाय तो मौज, लाख चला जाय तो मौज। वास्तव मे धनपति आप तब हो। लाखो-करोडों आ जाय तो वही प्रसन्नता, चले जायं तो भी आपको वही प्रसन्नता। तब तो आप धनपति हो। पर धन आने से हो जाओ प्रसन्न और चले जाने पर रोने लग जाओ, तो आप धनदास हुए, धनपति नही हुए। रुपये जाने से रोना ही रोना आ रहा है। हमारा मालिक धन चला गया, अब कैसे रहे ? उससे पूछा

जाय कि क्या चला गया भाई ? अरे, जिसने कमाया था, वह तो मौजूद है। परन्तु बात अकल में आती नहीं। धन को हमने अपना इष्टदेव मान रखा है, उनको झूठ, कपट, बेईमानी, धोखेबाजी का आश्रय लेना पड़ता है। उनके मन में दृढता से यह भाव जम गया है कि झूठ, कपट, जालसाजी, बेईमानी, ठगी, ब्लेक-मार्केट किये बिना पैसा पैदा नही हो सकता। धन को चाहने वाले की झूठ, कपट, ब्लेक आदि के प्रति भक्ति पैदा होगी। जैसे, रामजी का भक्त रामजी को याद करता है, ऐसे ही धन के भक्त को झूठ, कपट, छल, ठगी आदि की भक्ति करनी पड़ती है। कोई कितना कहे उनको यही बात जँची हुई है कि झूठ, कपट, चोरी बिना पैसा पैदा नही हो सकता। ब्रह्माजी की भी ताकत नही, जो उन्हें समझा दे। कोई उन्हें ठीक बात समझाये, तो उसको वे मूर्ख समझते है। आज के जमाने में झूठ, कपट, बेईमानी, अन्याय बिना काम कैसे चल सकता है ? यह दृढ़ धारणा उनके मन में बैठ गयी है। इसलिए यदि परमात्म तत्त्व की प्राप्ति करनी है, तो धनादि पदार्थ के भोग और संग्रह की आशा का कतई त्याग करना ही पड़ेगा।

भोग और संग्रह की रुचि छोड़ते नही और सच्चे हृदय से इस रुचि को छोड़ना चाहते नहीं। इस रुचि को त्यागे बिना परमात्म तत्त्व की बाते समझ में आती नही।

□ □ □

भ्रमर-वृत्ति

जिस प्रकार भ्रमर द्रुम-पुष्पो से रस ग्रहण करके अपना जीवन-निर्वाह करता है, पर किसी भी पुष्प का विनाश नही करता और अपने को भी तृप्त कर लेता है, उसी प्रकार लोक में जो अपरिग्रही श्रेयार्थी मानव है, उन्हे दाता द्वारा दिये जाने वाले विविध आलम्बनों से उतना ही लाभ उठाना चाहिये, जितने से अपना निर्वाह ठीक से हो जाये, उनका शोषण और विनाश न हो।

—दशवैकालिक १/२-

९

मालकियत : बाहर की, भीतर की

☐ आचार्य रजनीश

अपरिग्रह को समझने के लिए परिग्रह को समझ लेना आवश्यक है। परिग्रह का अर्थ है वस्तुओं पर मालकियत की भावना—पजेसिवनेस। वस्तुओं के प्रति ही नही, हम व्यक्तियो के प्रति भी परिग्रही होते है।

परिग्रह हिसा का ही एक आयाम है। सिर्फ हिसक व्यक्ति ही परिग्रही होता है। जैसे ही हम किसी व्यक्ति या वस्तु पर मालकियत की घोषणा करते है वैसे ही हम गहरी हिसा मे उतर आते है। बिना हिसक हुए मालिक होना असम्भव है। मालकियत हिसा है। पति मालिक है पत्नी का। पति शब्द का अर्थ ही मालिक होता है। स्त्रियां पति को स्वामी भी कहती है। स्वामी भी पर्याय है मालिक का। परिग्रह का अर्थ है स्वामित्व की आकाक्षा। पिता बेटे का मालिक बन जाता है, गुरु शिष्य का। जहाँ भी मालकियत है वहाँ परिग्रह है, हिसा है। बिना किसी को गुलाम बनाये मालिक नही हुआ जा सकता। बिना परतन्त्रता थोपे स्वामी होना असम्भव है।

मनुष्य के मन मे मालिक बनने की आकाक्षा क्यो है ? इसका कारण है कि हम अपने स्वामी नही है, हमे अपने ऊपर भी अधिकार नही है। जो व्यक्ति अपना मालिक हो जाता है, उसकी मालकियत की धारणा खो जाती है। चूँकि हम अपने मालिक नही है, इसलिए हम इस अभाव की पूर्ति आजीवन दूसरो के मालिक होकर करना चाहते है। लेकिन कोई सारी पृथ्वी का मालिक हो जाय तो भी यह कमी पूरी नही हो सकती। अपना मालिक होना एक आनन्द है, दूसरे का मालिक होना सदा दुख है। इसलिए जितनी बड़ी मालकियत होती है, उतना बड़ा दुख पैदा होता है। पर याद रहे कि दूसरे का मालिक बनकर अपनी मालकियत नही पाई जा सकती है। असल में मालकियत दोहरी परतन्त्रता है। जिसके हम स्वामी बनते हैं वह तो हमारा गुलाम बनता ही है, हमे भी उसका गुलाम बनना पडता है। मालिक अपने गुलाम का गुलाम होता है। सम्राट जहाँ अपने साम्राज्य का मालिक होता है, वहाँ वह भय का गुलाम भी होता है, क्योंकि जिन्हे हम परतन्त्र करते है वे हमारे प्रति विद्रोह और बगावत शुरु करते हैं, वे भी हमे परतन्त्र करना चाहते है। मालिक और गुलाम में इतना ही फर्क होता है कि एक की गुलामी दृश्य होती है और दूसरे की अदृश्य। हम जिसे गुलाम बनाते हैं वह हमे भी गुलाम बना लेता है। बड़े गुलाम वे है जिन्हे

दूसरो के सम्राट होने का भ्रम पैदा होता है और बड़े गरीब वे है जो बाहर की सम्पत्ति से भीतर की गरीबी मिटाना चाहते है। इसी तरह बड़े परतन्त्र वे ही है जो दूसरों को परतन्त्र करके स्वयं स्वतन्त्र होने के खयाल में भटकते है। कोई भी आदमी किसी को परतन्त्र करके स्वतन्त्र नहीं हो सकता। जेलखाने के बाहर खड़ा सन्तरी भी उतना ही कैद है जितना जेलखाने मे बन्द कैदी। एक दीवाल के भीतर बन्धा है, दूसरा दीवाल के बाहर। न दीवाल के भीतर वाला भाग सकता है, न दीवाल के बाहर वाला। मजे की बात तो यह है कि दीवाल के भीतर वाला भागने का उपाय भी करता है, बाहर वाला भागने का उपाय भी नही करता। वह इस खयाल मे होता है कि वह स्वतन्त्र है। जिन्दगी के अनूठे रहस्यो मे एक रहस्य यह भी है कि हम जिसे बांधते है उससे ही हमें बध जाना पडता है।

परिग्रह की पहली कोशिश यह होती है कि मुझे यह खयाल भूल जाय कि मै अपना मालिक नही हूँ। जितना ही पता चलता हैं कि मैं अपना मालिक नही हूँ उतना ही बाहर की मालकियत को फैलाता चला जाता हूँ। मै भीतर मालिक क्यो नही हूँ ? जो भीतर है उसे मै जानता ही नही, इसलिए उसका मालिक होना असम्भव है। बादशाहत इस बात से शुरू होती है कि जितना हूँ उतना ही पर्याप्त हूँ। कोई कमी नही है जिसे मुझे पूरी करनी पड़े, कोई कमी नही है जिसकी वजह से मै खाली रहूँ। बादशाहत एक भीतरी आप्तता है। सब है, इसलिए कोई कमी नही है। लेकिन सम्राट् के पास कुछ भी नही है। हम सब भीतर रिक्त है। इस रिक्तता को हम फर्नीचर से, मकान से, यश और पद से भरने की चेष्टा करते है। धन का ढेर लगा देते है, फिर भी भीतर की रिक्तता ज्यों की त्यों रहती है।

मैं कहता हूँ कि परिग्रह का सम्वन्ध वस्तुओ से नही है, उसका सम्वन्ध वस्तुओ पर मालकियत कायम करने से है। जिस दिन इसका ज्ञान होता है कि मै अपना मालिक हूँ, उसी दिन भीतर की रिक्तता भर जाती है, अन्यथा नहीं। यह जो अपनी मालकियत है, वह एक विधायक उपलब्धि है। ऐसी मालकियत आते ही बाहर की पकड नही होती।

असल में जो पाना है वह है दिशा "वीइग" की, और जो हम पा रहे है, वह है दिशा "हैविग" की। जो हम पा रहे है वे है चीजे और जो हमें पाना है, वह है आत्मा। ये चीजें कभी भी आत्मा नही वन सकती। अनेक जन्मो का अनुभव भी हमे इस वात से रोक नही पाता कि हम वस्तु को आत्मा न वना सकेंगे—"हैविग" कभी "वीइग" नही वन सकता। कभी नही। इसलिए महावीर या वुद्ध या जीसस उन लोगों को पागल कहते है जो परिग्रह में पड़े है।

सुना है मैंने कि डायोजनिज ने सिकन्दर से एक वार पूछा कि अगर तू पूरी दुनिया पा लेगा तो फिर क्या करेगा ? यह मुनकर सिकन्दर उदास हो

गया। उसने कहा—ठीक कहते है आप, क्योंकि दूसरी तो कोई दुनिया नहीं है। अगर मै एक पा लूँगा तो फिर क्या करूँगा ?

आपने कभी सोचा कि आप जो चाहते है, वह आपको मिल जाय तो क्या होगा ? अगर हम कभी इस दुनिया मे कल्पवृक्ष बना सके तो प्रत्येक आदमी को महावीर हो जाना पड़ेगा और सारी दुनिया अपरिग्रही हो जायगी। जैसे ही कोई चीज आपको तत्काल मिल गई, वैसे ही वह बेकार हो गई। आप फिर पुरानी जगह खड़े हो गये। आप एक भूख है, एक खालीपन, एक रिक्तता, जो हर चीज के बाद फिर आगे आकर खड़ी हो जाती है। मनुष्य की वासनाएँ सर्कुलर है, गोल है, इसलिए आशा उपलब्ध बनती हुई दिखाई पड़ती है, बनती कभी नही। हम अपने को धोखा दिए चले जाते है।

हम सोचते है कि एक रुपया हमे मिल जाय तो हम आनन्दित हो जायेगे। रुपया हमें मिल जाता है, पर हम आनन्दित नही होते। सोचते है, दूसरा मिल जाय। वह भी मिल जाता है, तीसरा भी मिल जाता है, परन्तु आनन्द नही मिलता। हम भूल जाते है कि दूसरा रुपया भी पहले रुपये की प्रतिलिपि है, कापी है, तीसरा दूसरे की प्रतिलिपि है, वह भी उसी का चेहरा है। ये मिलते चले जाते है और हम इनमें खोते जाते है। करोड़ रुपये एकत्र हो गये फिर भी आशा ज्यों की त्यों है। इसलिए कभी-कभी हमे हैरानी होती है कि करोड़पति भी एक रुपये के लिए इतना पागल क्यों होता है ? करोड़पति भी एक रुपये के लिए उतना ही दीवाना होता है जितना वह होता है जिसके पास एक भी नही है। आपके पास, वह दौडता चला जाता है। और कई बार करोडपति तो और भी कृपण हो जाता है, क्योकि उसका अनुभव बताता है कि करोड़ रुपये हो गये, फिर भी अभी उपलब्धि नही हुई। अब एक-एक रुपये को जितना जोर से पकडा जा सके उतना ही ठीक है, क्योकि जीवन चुक रहा है। वह भूल जाता है कि दुनिया मे कोई कभी वहाँ नही पहुँचता जहाँ वह पहुँचना चाहता है। फासला सदा वही रहता है जो शुरू करते वक्त होता है। जन्म के दिन जितना फासला होता है, मृत्यु के दिन उतना ही फासला होता है। सिर्फ एक फर्क पड़ता है। जन्म के दिन सूरज निकलता है, मृत्यु के दिन सूरज ढलता है और अन्धेरा होता है। जन्म के दिन आशाएँ होती है, मृत्यु के दिन विषाद होता है, हार होती है। जन्म के दिन आकाक्षाएँ होती है, अभीप्साएँ होती है, दौडने का बल होता है, मृत्यु के दिन थका मन होता है, हार होती है, हम टूट गये होते है। लेकिन फिर भी ऐसा समझने की भूल न करे कि मरता हुआ आदमी परिग्रही हो जाता हो। मरता हुआ आदमी भी यही सोचता है कि काश, थोडा वक्त और होता तो दौड़ लेता और पहुँच जाता।

□ □ □

१० अपरिग्रह का स्वरूप

□ श्री जी० एस० नरवानी

ईश्वर के मार्ग मे चलने वाले संस्कारी पुरुष सत्कर्मो के द्वारा नाम जप व चितन के द्वारा, गीता के निष्काम कर्मयोग के सिद्धांतों का अध्ययन कर सोच लेते है कि व्यवहार मे यदि हम संतोषी है, लोभ-लालच नही करते, व्यर्थ धन एवं वस्तु सग्रह के पीछे नही दौडते, तो हम अपरिग्रह का पालन कर रहे है। साधारण मनुष्य की बुद्धि इससे आगे कम सोच पाती है।

पातजलि योग दर्शन मे ईश्वर की मजिल तय करने के लिए ५ यम अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह तथा ५ नियम शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान वताये गये है। यम-नियम का अर्थ ग्रहण व त्याग के है। ये सभी चरित्र-निर्माण मे सहायक होते है। यदि हम केवल ग्रहण ही करते चले जाएँ, त्याग नही करे तो कष्ट होगा। मनुष्य भोजन करता है, अच्छा लगता है परन्तु दूसरे दिन यदि मल-त्याग न करे, अनुग्रहण की इच्छा नही होगी। जलवायु वरावर लेते है, त्यागते रहते है तभी जीवन आनन्द से है। धन, विद्या, वैभव, पुत्र सब सुन्दर वस्तुएँ है, समय पर इन्हे ग्रहण करना उचित है पर कभी इनका त्याग भी करें अथवा अपना नही समझे तो ही आतरिक आनन्द मिलेगा। रुपया, पैसा, धन का सग्रह, विद्या, बल सभी आत्मा पर बड़ा बोझा है। यदि इनका विचार त्याग दे फिर भले भौतिक दृष्टि से पास में रहे, भोग करते रहे पर आसक्ति नही हो, लिप्त नही हो तो कोई बोझ नही। आनन्द ही आनन्द है। ऐसी त्याग की भावना, दूसरो से अधिक सहायता न लेना, इकट्ठा न करना यही अपरिग्रह है।

ऐसी अपरिग्रह की भावना, त्याग की भावना कैसे आए? सामान्यत: प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन मे कुछ सचय करना चाहता है। कोई पैसे, कोई रत्न, कोई विद्या, तो कोई उससे भी आगे आत्म तत्त्व भी खोजते हैं। यह सव जीवन के लिए है। परन्तु आत्म विद्या पाने पर फिर और कुछ प्राप्त करने की इच्छा नही रहती। जव मनुष्य आगे वढते-वढते सत्य ज्ञान अर्थात् विवेक को पा जाता है तो उसको पता लगता है कि मुझे क्या संग्रह करना है और क्या त्याग? विवेकमय ग्रहण व त्याग ही अपरिग्रह है। उसके उपरांत वह जीवन के भार से हल्का हो जाता है।

संसार की वस्तुएँ ग्रहण न करने तक ही अपरिग्रह सीमित नही है, मन के संकल्प भी त्यागने होंगे जिनमें वस्तुओं के ग्रहण करने की वासना है। यह ईश्वर-ध्यान के द्वारा ही संभव है। ईश्वर के प्रकाश से जब विवेक उदय होगा तो स्वतः ग्रहण की वासना से मुक्ति मिलेगी। जैसे ससार को रोजाना देखते-देखते संसार हमारे मन में बस गया है, वैसे ही ईश्वर का ध्यान करते-करते संसार की जगह भगवान् बसता जाएगा। फिर ग्रहण की तरफ ध्यान जाएगा ही नही।

परन्तु त्यागी में जो त्याग का अहंकार उदय होता है, वह भी त्यागना होगा, तभी सच्चा अपरिग्रह होगा। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी इस त्याग के अहंकार के शिकार हो जाते हैं। यह सूक्ष्म अहकार त्यागना सहज काम नहीं। अपनी बड़ाई सुनना और प्रसन्न होना, अपने अंतर्मन में अपने त्याग की भावना को छुपाए रखना भी एक बोझा है जिसके बिना अध्यात्म की सुन्दर पहाडी की चोटी पर चढ़ाई करना मुश्किल है। ऐसे सूक्ष्म त्याग का भी त्याग केवल ईश्वर प्राणिधान, समर्पण और सतों की कृपा से ही सभव है। सच्चे संतो के समक्ष बैठकर, विवेक जागृत कर, मन में ईश्वर को बसाकर, अपना हर कर्म यंत्रवत् हो जाने के बाद ही सच्चे अर्थों में अपरिग्रह सम्भव है।

○ ○ ○

काबिल नहीं... !

असार संसार से विरक्त एक इसान पारसी सत आजर कैवान के पास आया और बोला—"हजरत, मैने कसम खायी है कि फानी दुनिया के सारे ऐशो–इशरत छोड़ दूँगा, इस फंदे को तोड़ दूँगा।"

सत ने गभीर स्वर मे कहा—"तुमने ठीक सोचा है।" वही व्यक्ति कुछ दिन वाद फिर आया और कहने लगा—"मै अभी गुदड़ी और फकीरी पोशाक वनवा रहा हूँ। सारे सामान तैयार होते ही मै फकीर हो जाऊँगा।"

सत जोर से हँस पड़े—"भाई, सरोसामान छोड़ने के लिए ही कोई दरवेश होता है और तू उसी को जुटाने के लिए परेशान है। अपनी दुनिया मे लौट जा। तू अभी फकीरी के काविल नही है।"

—कल्पना आंचलिया

११

घर से बेघर : मोक्खस्स सोवाणं

□ डॉ. महेन्द्र सागर प्रचंडिया

विश्व की तमाम धार्मिक मान्यताए जन्म-मरण के निरर्थक झझट-मोचन की चर्चा करती है। भारतीय धार्मिक मान्यताओ द्वारा इस दिशा मे पहल हुई है। वैदिक, बौद्ध और जैन प्राचीन भारतीय मान्यताओं में आवागमन के चक्रमण से मुक्त होना जीव की उत्तम परिणति कही गयी है। चार पुरुषार्थो—काम, अर्थ, धर्म तथा मोक्ष मे इसे उत्तम माना गया है। मुक्ति प्राप्ति मे अनेक व्यवधान उल्लिखित है जिनमे परिग्रह का स्थान शीर्षस्थ है। यहाँ परिग्रह पर सक्षेप मे चर्चा करना हमें मुख्यत: अभिप्रेत है।

परिग्रह का अर्थ है– ग्रहण करना। 'परिगृह्यते इति परिग्रहः' अर्थात् जो ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह है। 'परिगृह्यते अनेने ति परिग्रहः' अर्थात् जिसके द्वारा ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह है। यहाँ बाह्य पदार्थ के ग्रहण मे कारणभूत परिणाम परिग्रह कहा जाता है। इस प्रकार ग्रहण करने की इच्छा ही परिग्रह है—इच्छा परिग्रह.।

परिग्रह का मूल केन्द्र घर है। घर शब्द का गठन वस्तुत. दो अक्षरो की ध्वनियो के समीकरण से हुआ है। 'घ' ध्वनि और 'र' ध्वनि मिलकर 'घर' शब्द का संगठन करती है। अब विचार करे कि इन ध्वनियों का अर्थ—अभिप्राय क्या है ? ये अभिप्राय सार्थ है। 'घ' ध्वनि का अर्थ है घेरा, घिराव, एक जगह को घेरना अथवा घिरी हुई जगह और 'र' ध्वनि का अभिप्राय है एकत्र करना, सग्रह करना अथवा इकट्ठा करना। इस प्रकार जो सामग्री अथवा पदार्थ बाहर बिखरा पड़ा है, उसे एकत्र कर एक सुनिश्चित घेरे मे बाधना। घिरे हुए स्थान का नाम घर है। जो पदार्थ-वस्तु परकीय है, विकीर्ण है, उसे सकीर्ण तथा किसी स्वामित्व के अधीन एकत्र करना वस्तुत: परिग्रह है। इस प्रकार घेरे मे घिरी—घर की सामग्री परिग्रह है, जिस पर किसी व्यक्ति का स्वामित्व है।

विचार करने योग्य बात है कि परिग्रह का मूलाधार क्या है ? परिग्रह का मेरुदण्ड है—मोह। मोह की अनेकानेक प्रकृतियाँ कही गई है। समग्र विभावो का विवेचन और विनिमय मोहजन्य विभिन्न प्रकृतियों के अधीन होता है। परिग्रह पाप है तो मोहवृत्ति महापाप है। सारे पाप की जड़ मोह है। अन्तरंग और बहिरग नामक दो भेदो मे परिग्रह की चर्चा की गई है। अन्तरंग परिग्रह मुख्य है। उसी की प्रेरणा से बहिरंग परिग्रह भी पुष्ट होता है। पदार्थ के परिग्रह मे

विचार का परिग्रह अधिक सूक्ष्म और सशक्त होता है। विचारो की सूक्ष्म परिणति का नाम वस्तुतः मन है। मन की महिमा अनन्त है। मन की परिधि पर मोह का मनोराज्य चिरजीवी होता है। इन्द्रिय-भोग ससार का कारण है। भोग की लालसा अनन्तानुबन्धी बध का आधार है। पेट भरना व्यवहार—विश्व मे सर्वथा सार्थ है परन्तु पेटी भरना सर्वथा अनर्थ। पेटी भरना वस्तुत परिग्रह है। इससे प्राणी घिरता है। घिराव ही बधन है। बधन वेदना/कष्ट का कारण है। सुख, शाश्वत सुख के लिए बधन/घिराव से विमुक्त होना होता है। परिग्रह का पूर्ण समापन अनन्त आनन्द का कारण होता है। उत्तम अकिचय धर्म धार्मिक लक्षण के जगाने से परिग्रह परिमाण शनै शनै कम होने लगता है।

ठठ्ठा शहर का एक पुराना किस्सा है। वहा का बादशाह अपनी बेगम और एकमात्र रूपवती और गुणवती कन्या को पाकर सुख-शान्ति पूर्वक अपनी प्रजा का पालन करता है। अचानक दुर्दिन आते है। महामत्री बगावत करता है। बादशाह को बदी बनाया जाता है और महामत्री राज सिहासन पर आरूढ हो जाता है। बादशाह को देश निकाला कर दिया जाता है। बादशाह अपनी बेगम के साथ सलौनी कन्या को लेकर जगल-जगल भटकता है। जब असाता कर्मो का उदय होता है तब सकट चारो ओर से घिरा करते है। कन्या जब वयस्क हो जाती है तब मा-बाप को उसके विवाह की चिन्ता हो जाना स्वाभाविक है। बादशाह को इस चिन्ता के साथ अतिरिक्त चिन्ता इस बात की और है कि उसे ऐसी हालत में कन्या के लिए वर कहां से मिल सकता है ?

सयोग से एक दिन उसी सघन जगल मे एक युवक लकडहारा मिला। देखने मे हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर तथा श्रमी ? युवक को देखकर बादशाह का मन भर आया। उसने अपनी वेगम से परामर्श किया और तय हुआ कि राजकुमारी को कुछ क्षणो के लिये उसके साथ रहने की सुविधा जुटानी चाहिए ताकि बेटो अपने जीवन साथी के स्वभाव से परिचित हो सके। बादशाह ने ऐसा ही किया। एक दिन शाम को राजकुमारो उस लकडहारे के साथ उसके घर गई जहा उसने अपनी आँखो से देखा कि एक अत्यन्त साधारण सा घर लेकिन साफ-सुथरा। उसमे एक घडा, माटी का कटोरा और एक माटी की हाडी। यही उस घर की शोभा-सामग्री उसने पाई। लकडहारे ने तुरन्त खाना पकाया और मिलकर दोनो ने एक साथ भोजन किया। वडा आनन्द आया उन्हे। राजकुमारी ने कहा कि आप आराम कोजिये। मैं अभी वर्तन साफ किए देती हूँ। उसने एक रोटी सुवह के लिए बचाकर रखली। लकडहारे ने रोटी का वचाव देख लिया और विरोध व्यक्त करते हुए उसने कहा कि सुवह के लिए एक रोटी वचाना उपयोगी नही है। कल पुन परिश्रम करेगे और तव नया भोजन पकाया जाएगा। ताजा भोजन का स्वाद ही कुछ और होता है। एक रोटी रात भर हमे निश्चित सोने नही देगी। उसकी रक्षा हमे निरर्थक चिन्तित करेगी। खा डालिए उसे अभी

मिलकर। और उसने उस रोटी को भी मिल-बाट कर खा डाला। राजकुमारी अपने मां-बाप के पास लौटकर आई और वहां के सारे वृत्त सुना डाले। बादशाह को लकड़हारे का अपरिग्रही विचार बहुत अच्छा लगा। उसने विचारा—जिस आदमी मे अपने परिश्रम पर इतना अधिक भरोसा है वह जीवन मे कभी दु.खी नही रह सकता। अपनी पुत्री के लिए उसने लकड़हारे को स्वीकार किया।

इस किस्से से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि श्रमी कभी परिग्रही नहीं होता। वह जी भरकर परिश्रम करता है और निर्द्वन्द्व रहकर विश्राम करता है।

जिस चर्या मे श्रम के प्रति तलाक दे दिया गया है, विपन्नता वहां अनाहूत आ जाती है। श्रम जिन्दगी मे ताजगी पैदा करता है। श्रमहीन जीवन में उपयोग वल निर्बल हो जाता है। विचार करे कि अपरिग्रह भाव-जीवन में उपयोग बल वढ़ाता है, जगाता है। उपयोगहीन जीवन मरन की भांति व्यर्थ है। छोटे-छोटे सकल्पो से हम अपना जीवन परिग्रह परिमाण से संयमित कर उसे उपयोग बल से विभूषित कर सकते है।

एक वृत्त का स्मरण हुआ है। एक नगर के बहुत बड़े श्रेष्ठि है। अकूत धन है। पत्नी है, पुत्री है। उसे एक ही कष्ट है—पुत्र नही है। बहुत मनौतियां मनाई गई। देवी-देवताओं की पूजा-उपासनायें की गई। संतो की शरण में जाना हुआ और समय आने पर उसे एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। बड़े प्यार-दुलार के साथ उसका पालन-पोषण किया गया। वयस्क पर्यन्त उसे किसी प्रकार का कोई अभाव अनुभव नही कराया गया। ऐसी परिस्थिति मे उसकी शिक्षा भी साधारण स्तर की ही हो सकी। अन्ततोगत्वा सेठजी ने विचार किया कि परिवार का दीपक निठल्ला जीवन जिए इससे बड़ा और कष्ट क्या होगा? उसने अनेक विद्वानो और सतो की शरण ली। एक सीख के अनुसार उसने अपने प्रिय पुत्र मे सद्संस्कारो को जगाने हेतु प्रयोग किया।

एक दिन सेठजी ने पुत्र को बुलाकर कड़े शब्दों में कहा कि आप नित्य चार वजे दस रुपये लेकर दुकान पर हाजिर होंगे। आदेश पाकर वालक चिंतित हुआ। उदास देखकर उसकी वहिन ने पूछा कि क्या कारण है तुम्हारी उदासी का? वालक ने सारी घटना कह सुनाई। वहिन ने कहा कि लो दस रुपये और उदासीनता का त्याग कीजिए मेरे प्यारे भाई। नियत समय पर वह दुकान पर पहुँचा। सेठजी ने पूछा—कहिए वरखुरदार दस रुपये लाए हैं क्या? उसने दस रुपए दिखाते हुए कहा, लाया हूं। सेठजी ने कहा कि इन्हे अंगीठी मे जला दीजिए। बालक ने तुरन्त रुपये जला दिये। सेठजी ने विचार किया कि कदाचित

बहिन ने यह सहायता की होगी अतः उसने उसे माताजी के यहां पहुँचा दिया।

अब बालक के सामने समस्या आ खडी हुई। माताजी ने लाडले को उदासीन देखकर कारण पूछा, जिसे उत्तर देते हुए लाडले ने बताया कि पिताजी के पास दस रुपये लेकर पहुँचना है। माता ने नाहक परेशान होने की बात दुहराई और राजा बेटे को तुरन्त दस रुपये लाकर दे दिये। राजा बेटा निश्चित समय पर दस रुपये लेकर पिताजी के पास हाजिर हुआ। पूर्व की भाति उन्होने पूछा—रुपये लाये हो ? उसने कहा दस रुपये लाया हूँ। इन्हे भी अग्नि में जला दीजिए। उसने ऐसा ही किया। पड़ताल कर उसने माताजी को भी उसकी ननिहाल पहुँचा दिया। इस बार राजा बेटा के सामने बड़ी समस्या उठ खड़ी हुई। बहुत कुछ विचारने के बाद उसने सोचा कि अब उसे स्टेशन जाकर मजदूरी करना चाहिए। वह पूरे दिन मजदूरी करके कठिनाई पूर्वक केवल दो रुपये पैदा कर पाया। कुछ लेट वह पिताजी के सामने हाजिर हुआ। पिताजी ने सविलम्ब आते हुए राजा बेटा से पूछा, रुपये लाये है ? उसने कहा कि आज बडी मुश्किल से दो रुपये ही ला पाया हूँ। उसने कारण पूछे बिना उन्हें अंगीठी मे जलाने का आदेश दिया। उसे सुनकर अब की बार वह जरा गरम हो गया और झल्ला कर बोला कि बड़ी मुश्किल से सारे दिन परिश्रम करने के बाद दो रुपये कमा पाया हूँ और आपने कह दिया कि जला दीजिये। यह सुनकर सेठजी बहुत खुश हुए। उन्होंने कहा कि आज रुपये का सही मूल्य आका गया है। हर रोज दस रुपयों को अगीठी मे जलाने में कोई कष्ट नही होता था। आज रुपयो के उपयोग का ज्ञान उदय हुआ है। कारण स्पष्ट है कि आज परिश्रम किया गया है रुपयो के अर्जन करने मे। श्रम के साथ उपयोग शक्ति का संचार होने लगता है। उन्होंने कहा—मेरे बेटे, मुझे भारी प्रसन्नता है कि अब तुम मे श्रम के सस्कार पैदा होने लगे है।

परिग्रह पदार्थ के उपयोग का बल क्षीण करने लगता है। श्रम के अभाव मे विलासिता और विमूढता के संस्कार जागृत होने लगते है। और ऐसी परिस्थिति मे प्राणी मूर्छित जीवन जीने का अभ्यासी होने लगता है। जागृत जीवन जीने के लिए चर्या मे श्रम के सस्कार जगाने पड़ते है। विचार करे कि श्रमी सदा अपरिग्रही होता है। अपरिग्रही सदा सुखी रहता है।

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय है। कषाय जीवात्मा को प्रायः कसा करते हैं। कसी आत्मा पराधीन हो जाती है। पराधीन जीवनचर्या सदा परिग्रही होती है। कोई भी प्राणी काम और अर्थ-अर्जन मे पराधीन रह सकता है किन्तु धर्म और मोक्ष नामक पुरुषार्थों को प्राप्त करने के लिए उसे [illegible]धीन होना आवश्यक होता है। स्वाधीन हुए बिना कोई प्राणी कभी धार्मिक

और मोक्ष पुरुषार्थ को अपने अन्तरंग मे उजागर नही कर सकता है। अन्तरंग और बहिरंग अर्थात् सभी प्रकार के परिग्रह का परित्याग किये बिना कोई प्राणी कभी आत्मिक पवित्रता प्राप्त नही कर सकता। पवित्रता सदा स्वाधीन होती है। स्वाधीन आत्मा के सारे बंधन निर्बंध हो जाते है। निर्बंध अवस्था ही उसकी मुक्तावस्था होती है। इस प्रकार यह सहज मे कहा जा सकता है कि परिग्रह सासारिक परिधि का चक्रमण है जबकि अपरिग्रह मोक्ष केन्द्र तक पहुँचने का सोपान।

□ □ □

बहुमूल्य रत्न

मगधाधिपति अशोक आस-पास के राज्यो को जीतकर अपने भडार को रत्नो से भरता जाता था और मन को दर्द से। राजगृह का एक प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु पाटलिपुत्र पहुंचा, तो अशोक ने उसे भोजन के लिए आमंत्रित किया। भोजनोपरात अपना विशाल रत्न-भडार भिक्षु को दिखाते हुए अशोक ने एक बडा रत्न हाथ मे लेकर कहा—'भिक्षुराज ! ऐसा बहुमूल्य व विशाल रत्न भारतवर्ष मे दुर्लभ है।' भिक्षु बोला—'राजन् ! रत्न तो बहुमूल्य पत्थर ही है, या अन्य वस्तु ?'

'रत्न पत्थर ही है महाराज !'

भिक्षु बोला—'राजन् ! तुम्हारे ही राज्य मे मैने इससे भी कीमती रत्न-पत्थर देखे है। विश्वास न हो, तो मेरे साथ चलो, वे जहा है मै दिखा सकता हूँ।'

अशोक भिक्षु के साथ चल पडा। नगर के छोर एक कुटिया के पास भिक्षु रुका और उसमे रखी पत्थर की चक्की की ओर सकेत करके बोला—'यह रहा वह बहुमूल्य रत्न-पत्थर।'

'यह तो चक्की है।'

'हां ! इससे इस कुटिया मे रहने वाली वृद्धा को रोज भोजन मिलता है। क्या तुम्हारे कोई रत्न-पत्थर किसी को रोटी या रोजी देते हैं ? ऊपर से उनकी रक्षा के लिए तुम पहरेदारो पर बहुत धन खर्च करते हो। उन्हे पाने के लिए न जाने तुमने कितनो का रक्त बहाया है, और कौन कह सकता है कि भविष्य मे भी कितनो का रक्त बहेगा। ये पत्थर जीवन देते है, तुम्हारे पत्थर मृत्यु।'

कहते है, महल मे लौटकर सम्राट अशोक ने उसी दिन संपूर्ण रत्न-भण्डार दान कर दिये।

—डॉ. भैरूंलाल

१२

अपरिग्रह : स्वरूप और शर्त

☐ डॉ० दयानन्द भार्गव

परिग्रह-वृत्ति के मूल मे एक गहरी भूल है। हम मान रहे है कि हम दुःखी इसलिये है कि हमारे पास सुख-सामग्री कम है जबकि हमारे दु ख का वास्तविक कारण यह है कि हम अपने स्वरूप को विस्मृत किये हुए है। अनन्त सुख का सागर हम मे उपस्थित है। हमारी वेदना वस्तुतः यह है कि हम उस सुखसागर के सहज अधिकारी होकर भी उसके संस्पर्श से वचित है किन्तु प्रतीति मे यह आता है कि हम परिग्रह के अभाव से दु.खी है। आत्मानन्द के अभाव की पूर्ति हम भोगानन्द से करना चाहते है। भोगानन्द आत्मानन्द से गुणात्मक रूप (क्वालिटेटिवली) से भिन्न है। भोगानन्द का परिणाम (क्वान्टीटी) बढ जाने से यह गुणात्मक भेद की खाई नही पट सकती। अत. परिग्रह कितना भी क्यो न बढ़ जाये, हमारी वेदना शान्त नही होती।

परिग्रह के सचय से वेदना शान्त नही होती किन्तु हम उसकी व्याख्या सदा इस प्रकार कर लेते है कि परिग्रह की अल्पता के कारण वेदना शान्त नही हो रही है। अत. हमारा सारा प्रयत्न परिग्रह के परिमाण को बढाने मे लगा रहता है। हमारी इस भ्रमात्मक दृष्टि का भी एक कारण है। आपाततः हमें दु ख का कारण परिस्थिति की प्रतिकूलता प्रतीत होता है। परिग्रह परिस्थिति की प्रतिकूलता को अनुकूलता मे बदल देता है। फिर भी सुख नही हो पाता क्योंकि सुख परिस्थिति की अनुकूलता से नही, कर्मो की लघुता से उत्पन्न होता है। परिग्रह कर्मो के भार को हल्का नही करता वल्कि बढा देता है। अत. परिग्रह अन्ततोगत्वा दु.ख को ही जन्म देता है।

सुख की यात्रा का प्रारम्भ विन्दु सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन का अर्थ है—स्व तथा पर के स्वरूप का निश्चय। इस निश्चय के होते ही व्यक्ति की दिशा वदल जाती है। जो वाहर सुख ढूँढ रहा था वह आन्तरिक सुख की अभीप्सा करने लगता है। यही अपरिग्रह का प्रारम्भ विन्दु वन जाता है। दर्शन मोहनीय के टूटने पर चारित्र मोहनीय का टूटना प्रारम्भ हो जाता है। ज्यों-ज्यो अन्तर का मोह क्षीण होता है, वाह्य पदार्थों के प्रति आसक्ति भी क्षीण होने लगती है तथा ज्यो-ज्यो वाह्य पदार्थो का त्याग वढता है, त्यो-त्यो अन्तर का मोह क्षीण होने लगता है। यह मूर्च्छा से जागृति की ओर जाने की प्रक्रिया है।

परिग्रह मूर्च्छा है तो अपरिग्रह जागृति है। जागृति मायाजाल को छिन्न-भिन्न कर देती है। जागरण जैन संस्कृति का मूल मंत्र है। उत्तेजना का जीवन मूर्च्छा का जीवन है। जागरण का जीवन आत्मरमण का जीवन है। जो आत्मा के प्रति जागरूक है वह मानो सासारिक वैभव के प्रति सो जाता है। जो सांसारिक वैभव के प्रति जागरूक है वह आत्म वैभव के प्रति सुप्त है। चेतना स्वयं रसमय है, उसे आनन्द के लिये किसी बाह्य निमित्त की आवश्यकता नही—जो इस तथ्य को जान लेता है उसके लिये परिग्रह स्वतः ही त्याज्य हो जाता है। ऐसे अपरिग्रह फलित होने पर हिसा, झूठ, चोरी तथा मैथुन भी स्वय ही छूट जाते है। अत. परिग्रह ही समस्त पाप का मूल है।

अपरिग्रह की एक शर्त सशक्त होना है। परिग्रह एक सहारा है। सहारा उसे चाहिये जो स्वय समर्थ नही है। अत जो परिग्रह की खोज करते है, वे अपनी आन्तरिक निर्बलता को ही अभिव्यक्त करते है। जैसे अहिसा के लिये वलवान होना आवश्यक है उसी प्रकार अपरिग्रह के लिये भी अपने आप मे ही परिपूर्ण होना आवश्यक है। वस्तुस्थिति यह है कि प्रत्येक मनुष्य स्वयं मे परिपूर्ण है, उसे वाहरी सहारे की आवश्यकता ही नही तथा यदि कोई अज्ञानवश बाहरी सहारा चाहता भी है तो उसे निराशा ही हाथ लगती है। महावीर ने स्वावलम्बन का उपदेश दिया। आलम्बन तो परमात्मा का भी श्रेयस्कर नही फिर धन का आलम्वन लेना तो महामूर्खता है। महावीर का सन्देश है—अपनी शक्तियो को पहचानो, तुम्हे किसी वाहरी सहारे की आवश्यकता ही नही रहेगी।

अपरिग्रह की दूसरी शर्त श्रमशीलता है। हम परिग्रह का सचय इसलिये करते है कि श्रम से वचना चाहते है। पशु-पक्षी प्रतिदिन के श्रम का फल प्रतिदिन भोगते है। मनुष्य एक बार ही इतना सचय कर लेना चाहता है कि जीवन भर कुछ भी श्रम किये विना ही सब सुख मिलते रहे। जैन धर्म संग्रह में नही, श्रम मे विश्वास करता है। जैन धर्म का एक पुराना नाम 'श्रमण धर्म' है। जैन साधु का जीवन तो कठोर श्रम तथा स्वावलम्बन का उत्तम निदर्शन है।

अपरिग्रह की तीसरी शर्त अहिसा है। अहिसा जैन धर्म का पर्यायवाची वन चुकी है। दूसरे को—चाहे वह पदार्थ जड हो या चेतन—अपने अधीन वनाकर रखने की इच्छा हिसा है। अतः समस्त परिग्रह हिसा है। परिग्रह के साथ अहिसा का कोई तालमेल नही है। वस्तुत परिग्रह ही समस्त हिसा का कारण है। अपरिग्रह को अहिसा की अनिवार्य शर्त मानना जैन धर्म की अपनी विशेषता है। इसी तथ्य को कला के क्षेत्र मे इन शब्दो मे कहा जाता है कि त्याग प्रेम की अनिवार्य शर्त है। प्रेम देने मे सुख मिलता है, लेने मे नही। जहाँ लेने मे सुख है, वह वासना है, प्रेम नही।

अपरिग्रह की चौथी शर्त कुशलता है। जो अकुशल है वह सदा भयभीत रहता है कि न जाने उसे कव किस सकट का सामना करना पड़े। कुशल व्यक्ति

को सदा यह आत्म-विश्वास रहता है कि वह अपनी कार्यकुशलता से जहाँ चाहेगा वहाँ अपनी आवश्यकता के उपकरण जुटा लेगा। उसे भविष्य के लिये सग्रह करने की आवश्यकता अनुभव नही होती। बौद्ध परम्परा मे कुशल शब्द प्रसिद्ध है। जैन परम्परा मे उसके स्थान पर अप्रमत्त शब्द प्रचलित है। हिन्दू परम्परा मे कर्म कुशलता को ही योग कहा गया है। देखा जाये तो किसी भी कार्य की सफलता के पीछे चाहे वह कार्य लौकिक हो चाहे अलौकिक—अप्रमाद एव कर्म-कुशलता ही रहती है।

अप्रमाद अथवा जागरूकता की जैन परम्परा ने एक विशिष्ट व्याख्या की है। प्रत्येक क्रिया के दो पक्ष रहते है—एक द्रव्य, दूसरा भाव। द्रव्य क्रिया का अर्थ है यान्त्रिक रूप मे किया गया क्रिया का बाह्य रूप। भाव क्रिया का अर्थ है क्रिया के साथ कर्त्ता के भाव का तादात्म्य। द्रव्य क्रिया मे मन कही, तन कहीं होता है। भाव क्रिया में शारीरिक क्रिया के साथ पूर्ण मनोयोग रहता है। कुशलता अथवा जागरूकता का अर्थ है हमारी प्रत्येक क्रिया भाव क्रिया हो, द्रव्य क्रिया नही। यही अप्रमाद है। ऊँचे स्तर पर जहाँ भेद-विज्ञान बना है, वहाँ द्रष्टा-साक्षी भाव बनाये रखते हुए क्रिया करना भाव क्रिया है। यह भाव क्रिया ही अपरिग्रह का मूल है। इस भाव क्रिया के कारण ही साधु के उपकरण उसके परिग्रह नही बन पाते। जिसमे यह भाव क्रिया नही है वह लौकिक दृष्टि से भले ही अकिञ्चन भी क्यों न हो किन्तु अपरिग्रही नही है। यदि ऐसा न मानेगे तो समस्त पशु-पक्षी अपरिग्रह महाव्रती मानने होगे।

यदि तुम थोड़े ही में अपना काम अच्छी तरह चलाना चाहते हो तो किसी चीज मे पैसा लगाने से पहले स्वय अपने से दो प्रश्न पूछ लिया करो—

१. क्या मुझे सचमुच इस चीज की जरूरत है ?

२. क्या इसके विना भी मेरा काम चल सकता है ?

—**सिडनी स्मिथ**

• • •

तन और धन की ममता को छोडने की अपेक्षा मन की ममता को छोडना कहीं अधिक कठिन है। तन का परिग्रह, धन का परिग्रह ये दोनो बाह्य परिग्रह हैं। महिमा-पूजा की कामना से, नाम के लिए, किसी भी प्रकार की लोकैषणा के लिए तप, जप, दान आदि कोई भी कार्य करना मन का परिग्रह है।

—**आचार्य श्री हस्तीमल जी म० सा०**

१३

अपरिग्रह : मानसिक स्वास्थ्य एवं सामाजिक सुव्यवस्था की आधारशिला

◇ श्री हरिभाई कोठारी

भगवान महावीर की दृष्टि से तो निःस्पृहता का ही दूसरा नाम है अपरिग्रह। स्पृहा ही मनुष्य को परिग्रह करने के लिये लालायित करती है। "निःस्पृहस्य तृण जगत्"—नि.स्पृही मनुष्य के लिए जगत के सभी पदार्थ तृण के समान है। संत साहित्य में उचित ही कहा गया है कि—

"चाह गई चिंता मिटी, मनुवा बेपरवाह,
जिनको कछु न चाहिए, वे शाहन के शाह।"

सम्राट सिकन्दर ने एक बार किसी एक फकीर से कुछ मांगने को कहा। फकीर ने कहा, "मुझे किसी चीज की आवश्यकता ही नही है।" सिकन्दर ने जब अपने आग्रह को बार-बार दोहराया तो अन्त मे फकीर ने कहा, "ठीक है, तू अगर मुझे कुछ देना ही चाहता है तो जरा बाजू भर खिसक जा क्योंकि तू बीच मे खड़ा रहकर मुझे प्राप्त होने वाली सूर्य किरणों को रोक रहा है।" सिकन्दर यह सुनकर दंग रह गया, उसने उस फकीर के सामने अपने आप को कंगाल महसूस किया।

निःस्पृहता के मूर्तिमत स्वरूप मरीचि ऋषि का वर्णन करते हुए, महाकवि कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' मे लिखा है—

"प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्म रेणुकपिशे धर्माभिषेक क्रिया।
ध्यान रत्नशिलातलेषु विलुधस्त्रीसंनिधौ संयमो
यत्काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी ॥"

अर्थात् "कल्पवृक्षो के वन में रहकर भी ये लोग वायुसेवन ही करते है। जलक्रीडा के लिए उपयुक्त जल से ये मुनि धर्माभिषेक क्रिया ही करते है। रत्न जड़ित शिलाओ पर बैठकर ये लोग ध्यान करते है और सुन्दर अप्सराओ के समूह में भी ये संयमी रहते है। अन्य लोग जिन चीजों की प्राप्ति के लिए तप करते हैं, वे सारी चीजे उपलब्ध होते हुए भी ये मुनि तपश्चर्या कर रहे है।"

"Simple living and high thinking" को अपना आदर्श मानने वाले ये महानुभाव कल्पवृक्ष से कुछ मांगने में भी छोटापन महसूस करते है। कल्प याने इच्छा, इस दृष्टि से इच्छा पूर्ति करने वाले वृक्ष को कल्पवृक्ष कहते है। इच्छा पर ही जिन्होने विजय प्राप्त कर ली है, वे भला कल्पवृक्ष से क्या मागेंगे और क्यों मागेंगे ?

ऐसे अपरिग्रही मानव की बडाई करते हुए उम्मर खय्याम ने अपनी एक रुबाई मे कहा है—

"सिर्फ आधी रोटी पर ही जो गुजारे दिन तमाम,
जिसको दो गज से जियादा, हो नही धरती से काम।
इस जगत मे जो किसी का दास कि स्वामी न हो,
ऐसे महा नर के जीवन आदर्श को सौ-सौ सलाम ॥"

ज्ञानराणा शिव और भगवान महावीर का दिगम्बर स्वरूप इस बात का द्योतक है कि ज्ञानी को किसी भी बात की आवश्यकता नही रहती। सच्चा ज्ञानी तो अपरिग्रह के चरम शिखर पर विराजमान होता है। विभूति को वैभव समझने की हिम्मत रखने वाला ही परम ज्ञानी कहलाता है।

वैसे भी हमारा जीवन एक यात्रा ही है और यात्रा मे तो सामान जितना कम रहता है सुविधा ज्यादा रहती है। Travel light यह प्रवासियो को दी जाती सूचना जीवन-प्रवासियो के लिए भी उतनी ही उपयुक्त है।

'अति सर्वत्र वर्जयेत्' 'Excess in everything is bad.' परिग्रह का भी 'अति' हानिकारक सिद्ध होता है। कामना की तृप्ति कभी होती ही नही है। "It is the fundamental nature of craving not to be fully satisfied." राजर्षि मनु ने 'मनुस्मृति' में इसी बात का समर्थन करते हुए कहा है—

"न जातु काम कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविसा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥"

अर्थात् "कामनाओ के उपभोग से काम कभी शात होता नही है, उलटे वह ज्यादा प्रज्वलित होता है जैसे कि आहूति देने से अग्नि ज्यादा प्रज्वलित होती है।"

टॉलसटॉय ने इस बात को पुष्ट करते हुए एक बड़ी अच्छी कहानी लिखी है। एक आदमी को जमीन की बडी लालसा थी। वह लोभी अधिक से अधिक जमीन जुटाने मे लगा हुआ था। एक बार उसे एक फरिश्ता मिल गया।

फरिश्ते ने उससे पूछा, 'तुम्हें क्या चाहिये ?' उसने कहा, 'मुझे जितनी दे सको उतनी जमीन चाहिए।'

फरिश्ते ने कहा—'ठीक है ! अब सूर्य उदय हो रहा है, तुम दौड़ना शुरू करो। सूर्यास्त तक वापस लौट आना। जितनी जमीन पर तुम दौड़कर आओगे, वह सारी जमीन तुम्हारी हो जायेगी।' लोभवश उस आदमी ने तो जान की बाजी लगाकर दौडना शुरु कर दिया। अधिक से अधिक जमीन प्राप्त करने की लालसा में वह बहुत लम्बा निकल गया। सूर्यास्त के समय जब वह वापस लौटा तो फरिश्ता जहा खड़ा था, उससे एक दो फर्लांग दूर ही गिर पडा। उसे खून की उल्टी हुई और वही उसकी मृत्यु हो गई। ढेर सारी जमीन को माप कर आया हुआ वह मनुष्य दो गज जमीन को प्यारा हो गया। टॉलस्टॉय ने कहानी को शीर्षक दिया है— "How much land does a man need ?"

परिग्रह की तृष्णा कभी खत्म ही नही होती। इसी तृष्णा के आधार पर तो मनुष्य धनी या कंगाल कहलाता है। राजर्षि भर्तृहरि ने लिखा है—

"वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्व च लक्ष्म्या: ।
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला,
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान्को दरिद्रः ।।"

(अपरिग्रही मुनि राजा से कहता है) "हे राजन् ! हम वल्कल से सतुष्ट है और आप लक्ष्मी से तृप्त है। इस दृष्टि से देखने पर हममें कोई भेद नही हैं क्योकि दोनो का संतोष समान है। दरिद्र तो वही है जिसकी तृष्णा अधिक है। मन के संतुष्ट होने पर न कोई दरिद्री है, न कोई धनी।"

परिग्रह का एक अर्थ है, देह रक्षा के लिए जितना आवश्यक है उससे अधिक का सग्रह करना। इस विषय में आद्य शंकराचार्य ने लिखा है—

क्षुद् व्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिन भिक्षौषध भुज्यताम्,
स्वाद्वन्नं न तु याच्यतां विधिवशात्प्राप्तेन सतुष्यताम् ।"

अर्थात् "क्षुधा को व्याधि समझकर प्रतिदिन भिक्षा रूपी अन्न का औषध लेकर उसकी चिकित्सा करो। स्वादिष्ट अन्न की याचना मत करो और विधि-वशात् जो प्राप्त हो उसमें संतोष मानो।" औषधि की तरह अन्न का सेवन भी जरूरी मात्रा में ही करना चाहिये।

'भगवद् गीता' मे भी कहा है कि 'योगी पुरुष को 'त्यक्तसर्वपरिग्रह.' याने सर्व प्रकार के भोग पदार्थों का त्याग करके ही रहना चाहिए। आगे बढकर गीताकार ने कहा है कि योगी को 'यदृच्छालाभसतुष्टो' याने भगवदिच्छा से, बिना मागे जो कुछ मिले, उसी में संतोष मानना चाहिये। अपरिग्रही मनुष्य जब अयाचक व्रत का पालन करता है तब उसकी कड़ी कसौटी होती है और उससे पार उतरने पर ही वह महिमावान बनता है।

परिग्रह के मूल मे विश्वास का अभाव है। अनिश्चित भावी की फिकर मनुष्य को परिग्रह करने के लिए प्रेरित करती है। 'मेरे लिए जो चीज, जब भी आवश्यक होगी तब वह मुझे प्राप्त हो ही जायेगी' ऐसा दृढ विश्वास मनुष्य को अपरिग्रह व्रत का पालन करने की शक्ति प्रदान करता है। 'फिकर की फाकी करे, उसका नाम फकीर।'

अकबर बादशाह ने एक बार किसी एक फकीर से पूछा, 'क्यो फकीर जी ! तुम्हारी रात कैसे गुजरी ?' फकीर ने हसकर जवाब दिया, 'जहांपनाह ! कुछ तुम्हारे जैसी और कुछ तुमसे भी अच्छी गुजरी।' बादशाह ने पूछा, 'वो कैसे ?' फकीर ने कहा, 'जो रात नीद में गुजरी वो तुम जैसी ही गुजरी और जो जागृति मे बीती वह तुमसे अच्छी बीती, क्योंकि जागृति में तुम भोग मे रमण थे और मैं योग मे संलग्न था।'

भीतरी अनासक्ति ही मानव को सच्चा अपरिग्रही बनाती है। परिग्रह की लालसा मानव के सहज जीवन विकास में रुकावट पैदा करती है। बाह्य साधनो को जुटाने में व्यस्त मनुष्य अपने आतरिक सत्व को खो बैठता है। बाह्याडबर के नाद में पकड़कर वह अपने आत्म धन को नष्ट कर देता है। "The more you have, the less you are and the less you have, the more you are"

मानसिक स्वास्थ्य के लिए भी अपरिग्रह का पालन अत्यावश्यक है। भारतीय अर्थशास्त्र मे लिखा है,

"अकृत्वा परसताप, अगत्वा खलमदिरम्।
अक्लेशयित्वा चात्मानं, यदल्पमपि तद्बहुः ।।"

"दूसरे को सताप पहुँचाये विना, दुष्ट के द्वार पर गए बिना और अपने आत्मा को क्लेश पहुँचाये विना जो थोडा भी प्राप्त होता है, उसे बहुत समझो।"

अर्थोपार्जन करना कोई गुनाह नही है किन्तु उसकी मर्यादा को समझना चाहिए। अर्थ का विनियोग भी सही ढग से होना चाहिए। इस बारे मे लिखा है कि,

"अलब्धं चैव लिप्सेत, लब्धं रक्षेदवक्षयात् ।
रक्षित वर्धयेत् सम्यक वृद्धं तीर्थेषु निक्षिपेत् ।।"

अर्थात् "अनुपलब्ध को प्राप्त करने की इच्छा रखो, प्राप्त पदार्थो को नष्ट होने से बचाओ, रक्षित वैभव को अच्छी तरह बढाने की कोशिश करो और सवर्धित वित्त को तीर्थ क्षेत्र (अच्छे कामो) मे बहा दो ।" इस श्लोक के तीन पद मनभावन मालूम होते है, चौथे पद का पालन ही कष्टदायक है और सामाजिक सुव्यवस्था के लिए वही आवश्यक है । सत-साहित्य मे भी कहा है—

"पानी बाढै नाव मे, घर मे बाढै दाम ।
दोनों हाथ उलीचिए, यही सयानो काम ।"

वित्त, विद्या, कीर्ति, सत्ता हर चीज का परिग्रह हानि पैदा करता है । एक तरफ की विपुलता दूसरी तरफ न्यूनता निर्माण करती है । यही तो सहितो और रहितो (Haves and Have-nots) के सघर्ष की जड़ है । एक सुभाषित है –

"पिपीलिकार्जितं धान्य, मक्षिका सचितं मधु ।
लुब्धेनोपार्जित द्रव्य, समूलं च विनश्यति ।।"

"चीटी द्वारा इकट्ठा किया हुआ अनाज, मधुमक्षिका द्वारा संचित मधु और लोभी द्वारा जुटाया हुआ दाम, मूलसहित नष्ट होता है ।" नष्ट होने से पहले ही उसका सदुपयोग कर लेना चाहिए-यही तो है अपरिग्रह ।

विद्या के वारे मे भी कहा गया है कि,

"अपूर्व कोऽपि कोशोऽय, विद्यते तव भारति ।
व्ययतो वृद्धिमायाति, क्षयमायातिसचयात् ।।"

"हे भारति (सरस्वती) ! तुम्हारा यह कोश अपूर्व है, जिसका व्यय करने से वह वढता है और अतिसचय करने से उसका क्षय होता है ।"

कीर्ति का भी परिग्रह नही करना चाहिए । 'मैने किया' इसमे कीर्ति का परिग्रह है जवकि "हम सबने मिलकर किया" इस यज्ञीय भावना मे कीर्ति का अपरिग्रह है । सत्ता का अधिक परिग्रह सरमुखत्यारशाही को जन्म देता है जव कि अपरिग्रह सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर जोर देता है ।

अपरिग्रह के व्रत को महात्मा गांधी ने सामाजिक रूप दिया । उनका कहना था 'फड से वंड निर्माण होते है ।' सामाजिक सस्था यदि संचित निधि के

ब्याज पर चलने लगे तो उसके संचालक निश्चित और परिणामत: निष्क्रिय बन जाते है। निधि का अभाव संचालको को सदा क्रियाशील और सजग रखता है। उनका लोकसपर्क जारी रहता है और सस्था जीवन्त रहती है। कन्फ्युसियश का भी कहना है कि, "जहां वित्त केन्द्रित होता है वहा मानव बिखर जाते हैं और जहां वित्त विकेन्द्रित होता है, वहां मानव समूह महक उठता है।" वित्त से ऊपर व्यक्ति को जो महान् समझता है, वही समाज जीवन मे अपरिग्रह व्रत का आचरण कर सकता है।

अन्त मे एक चीनी कहावत का उल्लेख करना प्रासगिक होगा। 'नये मकान में पहले शैतान रहने को जाता है। पुराना मकान अगर ठीक है तो नया बनवाने की क्या जरूरत है?' कहने का तात्पर्य यह है कि, 'बिना जरूरत की हर चीज मानव को शैतानियत की ओर ले जाती है।'

शास्त्र मर्यादा को छोडकर निन्दायुक्त मार्ग से वित्त प्राप्त करना; बिना परिश्रम किये, दूसरे का हक छीनकर समृद्ध बनना, देह रक्षा के लिए आवश्यक चीजों से अधिक का संग्रह करना—परिग्रह है और इन बातो का त्याग ही अपरिग्रह है। हम वित्त के मालिक नही, किन्तु रक्षक है। समाज हित के लिए सर्वस्व का अर्पण करके फिर आवश्यकतानुसार ही स्वल्पमात्रा मे ग्रहण करना ही अपरिग्रह की भावना के साथ सुबद्ध है। अपरिग्रह का ऐसा निष्ठायुक्त आचरण ही हमे मानसिक स्वास्थ्य और समाज को सुव्यवस्था प्रदान कर सकता है।

○ ○ ○

जीवन का अर्थ

क्षण-क्षण पल-पल खुद को देना,
यह जीवन का अर्थ है।
जितना अधिक दे रहा है जो,
उतना अधिक समर्थ है।
जो जितना ज्यादा देता है,
उतना ज्यादा वह जीता है।
वर्षा मेघ न बरसे तो फिर,
भरा हुआ भी वह रीता है।

☐ भवानी प्रसाद मिश्र

१४ दु:ख–मुक्ति का उपाय : अपरिग्रह

☐ श्री धर्मचन्द जैन

भगवान् महावीर द्वारा महाव्रत एवं अणुव्रत के रूप में प्रतिपादित 'अपरिग्रह' का सिद्धान्त एक सर्वव्यापक, सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक सत्य है। परिग्रह सर्वत्र दु:ख का मूल माना गया है। इसीलिए 'आचारांग' सूत्र में कहा गया है—"परिग्गहाओ अप्पाण अवसक्केज्जा" अर्थात् परिग्रह से अपने को दूर रखो। परिग्रह शान्ति एव समता को भग कर अशान्ति एव विषमता उत्पन्न कर देता है। जीवन में आकुलता, विषाद और नीरसता का विष घोल देता है। यह हृदय को संकीर्ण, बुद्धि को भोगोन्मुख, मन को चपल और इन्द्रियो को अनियन्त्रित बना देता है। बाहर से सुख-सामग्रियों का अम्बार लगे होने पर भी भीतर से सुख को सोख लेता है। यह परिग्रह तृष्णा को उत्तरोत्तर बढाकर मनुष्य को अनन्त दु ख के भयानक जगल मे छोड देता है जहाँ पर भटकाव के अतिरिक्त कोई मार्ग दिखाई नही देता।

वस्तुत: यह परिग्रह क्या है ? 'परिग्रह' शब्द सस्कृत भाषा का शब्द है। इसकी व्युत्पत्ति 'परि' उपसर्गपूर्वक 'ग्रह' धातु 'घञ्' प्रत्यय लगकर होती है। 'ग्रह' धातु का अर्थ होता है ग्रहण करना या पकडना और परिग्रह का अर्थ है—भली-भांति पकड लेना अर्थात् जकड लेना। पर-पदार्थो को मानसिक रूप से पकड़े रखना या उनमे आसक्ति रखना ही परिग्रह है। पर-पदार्थो मे आत्मा के अतिरिक्त सृष्टि की सारी वस्तुएँ, व्यक्ति, धन-सम्पत्ति, शरीर आदि सभी पदार्थ सम्मिलित हो जाते है। यह पदार्थ मेरा है, यह मुझे चाहिए, इसका विनाश मेरा विनाश है, इसका विकास मेरा विकास है, यह तो बढते रहना चाहिए, इससे सुख भोगना है आदि समस्त मानसिक विकल्प परिग्रह रूपी वृक्ष की ही शाखाएँ हैं। इसीलिए कहा है—"नत्थि एरिसो पासो पडिबंधो सव्वजीवाण" अर्थात् परिग्रह के समान जगत् में जीव के लिए कोई बन्धन नही है। परिग्रह का यह आतरिक अथवा वास्तविक रूप है।

भाषा-विज्ञान के अनुसार यह आतरिक परिग्रह जो पदार्थो से सम्बन्ध रखने के कारण होता है, उपचार से पदार्थो पर ही आरोपित कर दिया गया अर्थात् पदार्थों को भी परिग्रह कहा जाने लगा। प्राचीन काल मे मोटे रूप से स्त्री के प्रति ही पुरुष की गहरी आसक्ति होती थी अत: उसे 'परिग्रह' नाम दिया

गया । संस्कृत साहित्य के मूर्धन्य कवि कालिदास ने अपनी प्रसिद्ध कृति "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" में 'परिग्रह' शब्द का प्रयोग 'स्त्री' के अर्थ में ही किया है ।[1] धीरे-धीरे आसक्ति के विस्तार के साथ-साथ परिग्रह के अर्थ का भी विस्तार होता गया । गाय, बैल, भैस आदि पशुओं को परिग्रह कहा जाने लगा । तदनन्तर भूमि, भवन एव अन्य भोग्य-पदार्थो को भी परिग्रह के परिसर मे समाविष्ट किया गया । आज वैज्ञानिक अनुसंधान के परिणामस्वरूप भोग्य-पदार्थो की अगणित वृद्धि हुई है । विविध प्रकार की सुख-सुविधाओ का विस्तार हुआ है । घड़ी, रेडियो, टेलीविजन, स्कूटर, कार, टेलीफोन, कूलर, रेफ्रीजिरेटर एवं एयरकंडीशनिंग तो साधारण सुविधाएँ है, जो प्रत्येक परिवार के लिए आवश्येक बन गई है । अन्य और भी पदार्थो का संग्रह करने की मनोवृत्ति मनुष्य में जन्म लेती जा रही है, किन्तु पदार्थ अनन्त है, उनका कोई पार नही तथापि वस्तुओं का संग्रह-रूप परिग्रह सीमित होता है । जिन पदार्थो के प्रति आसक्ति है वे ही परिग्रह की परिभाषा मे प्रवेश कर पाते है, अन्य पदार्थ नही । 'तत्त्वार्थ' सूत्र में इस आसक्ति को मूर्च्छा शब्द से अभिव्यक्त करते हुए कहा है—'मूर्च्छा-परिग्रह ' अर्थात् मूर्च्छा ही परिग्रह है ।

एक समय ऐसा आया जब परिग्रह शब्द के अर्थ का अत्यधिक ह्रास हो गया और कहा जाने लगा—आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का सग्रह करना ही परिग्रह है । यह परिभाषा निस्सदेह सदेहोत्पादक है । आवश्यकता को परि-भाषित करना दुस्तर सागर को तैरने से कम नही है । प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता के मानदण्ड भिन्न-भिन्न हो सकते है और होते है यही कारण है कि अमेरिका मे जो पदार्थ व्यक्ति की आवश्यकता के रूप मे गिने जाते है वे ही भारत मे विलासिता (Luxury) के रूप मे गिने जाते है । सारे अर्थशास्त्री मिलाकर भी आवश्यकता के विषय मे एकमत नही हो सकते है तो फिर उस पर आधारित परिग्रह की परिभाषा को कैसे निश्चित किया जाए ।

'न परिग्रह. इति अपरिग्रह· ।' अपरिग्रह शब्द मे नञ् समास है । न अर्थात् 'अ' का संस्कृत भाषा मे छह अर्थो मे प्रयोग होता है—सादृश्य, अभाव, भिन्नता, अल्पता, अप्राशस्त्य और विरोध । इन अर्थो मे से यहाँ पर अभाव अर्थ में प्रयोग हुआ है अत. अभाव अर्थ मे अपरिग्रह का अर्थ होगा—परिग्रह का न होना । परिग्रह का सर्वथा अभाव ही अपरिग्रह है ।

महावीर बाह्य एव आभ्यन्तर दोनो प्रकार से परिग्रह-मुक्त थे । उनके साथ शरीर था किन्तु उसका परिग्रह नही था क्योकि शरीर मे उनकी आसक्ति नही थी ।

---

१ परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे ।
समुद्रवसना चोर्वी सखी च युवयोरियम् ॥ (अभिज्ञानशाकुन्तलम्—३-१७)

पर पदार्थो के प्रति आसक्ति न हो—यही भगवान् महावीर के अपरिग्रह सिद्धान्त का मूल लक्ष्य है। इस सिद्धान्त को जीवन मे आत्मसात् करने पर शान्ति, समता एव प्रसन्नता प्राप्त होती है। दु.ख अपना झोली-झंडा समेट कर भाग जाता है। निराशा, असतोष एव नीरसता के बादल छॅट जाते है। सदैव प्रेम, दया एव करुणा की अजस्रधारा प्रवाहित होने लगती है। बन्धन का अत एव मुक्ति का उदय होता है। पराधीनता की बेड़ियाँ टूट जाती है। 'ईशावास्योपनिषद्' में भी आसक्ति को छोड़ने हेतु प्रेरित करते हुए कहा है—

"ईशावास्यमिदं सर्व यत्किञ्च जगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा, मा गृद्ध· कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

अर्थात् इस ससार के पदार्थो का त्याग भाव से भोग करो तथा किसी के धन के प्रति आसक्त मत होओ। त्याग भाव से भोग करने का अर्थ है—आसक्ति-त्याग अथवा अपरिग्रह। त्यागभाव के कारण भोग्य पदार्थो से सम्बन्ध स्थापित नही होता फलस्वरूप परिग्रह नही होता। यही भाव 'भगवद्गीता' में भी है। श्रीकृष्ण फल की कामना से रहित होकर कार्य करने की प्रेरणा देते है। फल की कामना ही आसक्ति को जन्म देती है और उससे रहित होने पर जो कार्य किया जाता है वह बाँधता अथवा जकडता नही है। प्राणी तनावग्रस्त नही होता। वह परिग्रह से परे रहता है।

'कठोपनिषद्' मे एक कथा आती है जिसमे यम से नचिकेता आत्मा की अमरता के विषय मे जिज्ञासा प्रकट करता है और जानना चाहता है कि आत्मा क्या है। यम नचिकेता की परीक्षा लेने हेतु उत्तर को टालते हुए धन-सम्पत्ति, भौतिक सुख-समृद्धि एवं ऐश्वर्य का प्रलोभन देता है। वह कहता है—हे नचिकेता! तुम सौ-सौ वर्षो तक जीने वाले पुत्र एवं पौत्रो को मांग लो। गाय, भेड, हाथी, स्वर्ण, घोडे और विशाल भू-मण्डल के साम्राज्य को मांग लो तथा इन सबको भोगने के लिए सैकडो वर्षो तक जीवित रहो।[1] किन्तु नचिकेता इनकी यथार्थता को जानता है और कहता है—'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य:', अर्थात् मनुष्य कभी भी धनादि द्वारा तृप्त नही किया जा सकता। वह कहता है मुझे मात्र आत्मा की अमरता के रहस्य को जानना है। ये सब धनादि तो विनश्वर है।

हम धन की अभिवृद्धि मे लगे रहते है किन्तु तृप्ति दूर भागती नजर आती है। धनाकाक्षा का कही अत नही है। यौवन से वृद्धावस्था तक पहुँचने

१ शतायुष· पुत्रपौत्रान् वृणीष्व, बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतन वृणीष्व स्वय च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥
(कठोपनिषद्–१-

पर भी धन की लालसा अर्थात् तृष्णा तरुण रहती है। तृष्णा की आग का शमन करने के लिए ही परिग्रह-परिमाण एव उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रतो की प्रेरणा दी गयी है। ये दोनो व्रत साधन है—अपरिग्रह एव अनासक्ति तक पहुँचने के लिए। क्षेत्र-वस्तु, हिरण्य-स्वर्ण, दोपद-चौपद, धन-धान्य, कुविय-धातु आदि का परिमाण एव कर्मादान की आजीविका का त्याग करने से तृष्णा एव परिग्रह पर नियन्त्रण प्रारम्भ होता है। परिग्रह के इस बाह्य नियन्त्रण के पश्चात् आतरिक नियन्त्रण भी सम्भव है। आंतरिक नियन्त्रण ही परिग्रह पर सच्चा नियन्त्रण है और वही परिग्रह जनित दु.ख को समाप्त कर सकता है। 'दशवैकालिक' सूत्र के चतुर्थ अध्ययन मे कहा है—

"जया चयइ संजोगं, सब्भितरबाहिरं।
तया मुण्डे भवित्ताणं, पव्वइए अणगारियं ॥

अर्थात् बाह्य एवं आभ्यन्तर संयोग (आसक्ति) को जो मनुष्य त्याग देता है वह मुण्डित होकर अणगार बनता है। वही अणगार दु ख से मुक्त होता है।

संक्षेप मे यदि कहा जाए तो पर पदार्थो से मानसिक सम्बन्ध जोड लेना ही उनका परिग्रह है पदार्थ, मनुष्य से, उसकी आत्मा से बाहर रहते है किन्तु मनुष्य उनमे अपनी आसक्ति स्थापित कर, दु:खी होता रहता है, उनमे ही अपनी आत्मा को समझने लगता है। यह भ्रम (मिथ्यात्व) है। और यह भ्रम अविवेकपूर्ण है। विवेक की बात तो यह है कि पर-पदार्थो से मानसिक सम्बन्ध केवल माना हुआ होता है। प्राणी चाहे तो उनमें सम्बन्ध न माने और सम्बन्ध न मानते ही वह अपरिग्रही हो जाता है। अपरिग्रही होने के पश्चात् दु.ख से मुक्ति मिल जाती है।

अपरिग्रह

प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी भी मनुष्य के पास व्यक्तिगत कोई वस्तु नही है, कारण कि जो शरीर प्राप्त है वह भी समष्टि भौतिक पदार्थो से निर्मित है। उस मिले हुए शरीर के सदुपयोग द्वारा आवश्यक वस्तुओ का उत्पादन होता है। कारण कि शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम के सहयोग से ही वस्तुएँ उत्पन्न होती है। यदि उनका संग्रह तथा उनसे ममता न की जाय और उनका दुरुपयोग भी न किया जाय तो मगलमय विधान के अनुसार आवश्यक वस्तुएँ मिलती है। अत. दरिद्रता का अत करने के लिए मिली हुई वस्तुओं का सदुपयोग अनिवार्य है।

१५

अपरिग्रह शाश्वत सुख पाने का द्वार है

☐ डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

इच्छाओं के अधीन रहकर कोई भी सुखी नही होता । 'अति सम्पदा अति आपदा' की उक्ति कितनी सार्थक है । आज का व्यक्ति सम्पदा के बढाने मे अन्धा हो रहा है । भौतिक सुख में अपना सुख समझ रहा है और उसी ओर भाग रहा है । वह अपने आगे पड़ौसी की भी नही सोचता । विचार भी आएगा तो खोटा । धन हथिया लो पड़ौसी का । प्रतिष्ठा भंग कर दो उसकी । वहका दो उसकी बहू-बेटी को । माहौल दूषित हो गया है, सर्वथा विष से लवालब । रिश्ते टूट रहे है, सम्बन्ध छूट रहे है, लोग दुःखी हो रहे हैं । अपरिग्रह भाव की ओर किसी का ध्यान ही नही जाता । असल में हम बहरे जो हो गए है ।

जरूरत से ज्यादा चीजे क्यो इकट्ठी की जा रही है ? यह समझ के दायरे से वाहर की वात है । चीजे हैं थोड़ी और इच्छाएँ है घनेरी । एक व्यक्ति ही चाहता है सारे लोक की सम्पदा । कैसे पूर पड़े ? सरकार नियंत्रण और नियमन की गुत्थी सुलझाना चाहती है । परन्तु विषमता और कठिनाई वढती जाती है । मुझे लगता है जब तक व्यक्ति का हृदय परिवर्तन नही होगा तव तक गुत्थी सुलझ पाना सम्भव नही दीखता ।

व्यक्ति का धन की ओर झुकाव हो गया है । धन ही उसका रक्षा कवच जो वन गया है । धन बुरा नहीं है, वुरी है उसकी आसक्ति । व्यामोह ही उसका परिग्रह है । परिग्रह है वस्तु के प्रति ममत्व । धन अभ्युदय का उपादान कारण हो सकता है' अध्यात्म का कदापि नही । व्यक्ति बाहर से स्वस्थ और जागरूक वनने का अभिनय कर रहा है परन्तु उसका अन्तर नाना रोगों से सड रहा है । भोगासक्त व्यक्ति ससार मे भ्रमण करता है और भोगों से विरक्त व्यक्ति निर्वन्ध होता है । इसमे जीवन का सौन्दर्य प्रच्छन्न है । परिग्रह से आसक्ति, आसक्ति से हिसा और हिसा से है दुःख-जन्म-मरण की परम्परा का चक्र । वड़ा हुआ परिग्रह-नदी का वेग क्या-क्या क्लेश नही करता ? प्राज्ञ पुरुष के लिए भी परिग्रह नाश का कारण कहा गया है । अपरिग्रह का सच्चा अर्थ है देहभाव नही सा होना, क्योंकि देह ही मुख्य परिग्रह है । अपरिग्रह की भावना स्थिर हो जाने से पूर्व जन्मों का ज्ञान हो जाता है । मूर्च्छा रहित पुरुषों के लिए तीनों लोकों का ऐश्वर्य भी अपरिग्रह है । अपरिग्रह अभ्युदय है । निर्मोह अवस्था है । केवल आत्मदर्शन । वस्तुतः अपरिग्रह शाश्वत सुख पाने का द्वार है ।

वैराग्य के बिना त्याग विडम्बना मात्र है । अणु मात्र परिग्रह के रखने से मोहकर्म की ग्रथि दृढ होती है और इससे तृष्णा की ऐसी वृद्धि हो जाती है कि उसकी शांति के लिए समस्त लोक की सम्पत्ति से भी पूरा नही पडता । इच्छा परिग्रह है । राग, लोभ और मोह जव मन मे उगते हैं तब बाह्य परिग्रह ग्रहण करने की बुद्धि होती है । बाह्य त्याग के बिना अन्तरग त्याग अशक्य है । आभ्यन्तर त्याग मे सर्व बाह्य त्याग अन्तर्भूत है । जो अन्तरग परिग्रह अर्थात् रागादि से युक्त है उसके बाह्य परिग्रह का त्याग निष्फल है । बाह्य परिग्रह से रहित दरिद्री व्यक्ति तो स्वभाव से ही होते है किन्तु अन्तरग परिग्रह को छोडने मे कोई भी समर्थ नही होता । आकिचन्य भावना से अपरिग्रह मुखर होता है ।

परिग्रह त्याग प्रतिमा का धारक है । जो लोभ कषाय को कम करके, सन्तोष रूपी रसायन से सतुष्ट होता हुआ सवको विनश्वर जानकर दुष्ट तृष्णा का घात करता है और अपनी आवश्यकता को जानकर धन-धान्य, सुवर्ण और क्षेत्र वगैरह का परिमाण करता है वह अपरिग्रही बन जाता है । विश्वविजेता सिकन्दर को कौन नही जानता ? जब वह बीमार पडा और मौत के आगोश मे पहुँचने को था तब उस समय उसके पास प्रमुख सेनापति, मंत्री व सैकडों सरदार और उमराव खडे थे । वैद्यो और हकीमो की कतारे लगी थी । किन्तु जब उसने देखा कि ये सभी लोग और धन के भण्डार मुझे मौत से नही बचा सकते तब उसके दुःख और विस्मय का पारावार न रहा । मन गहरे अवसाद से भर गया । लोगो को ससार की सही स्थिति का ज्ञान कराने हेतु उसने प्रधान सेनापति को आदेश दिया कि शवयात्रा के समय मेरे दोनो हाथ कफन से बाहर रखे जाएँ जिससे सबको यह जानकारी हो सके कि विशाल वैभव न मुझे मृत्यु से बचा सका और न मै एक तार भी साथ ले जा रहा हूँ । मै खाली हाथ ही आया था और खाली हाथ ही जा रहा हूँ । सोचिए, सिकन्दर की व्यथा मे अपरिग्रह की कथा निहित नही है क्या ?

चक्रवर्ती का सुख राग भाव को बढाने वाला तथा तृष्णा को बढाने वाला होता है । अतएव परिग्रह का त्याग करने पर राग-द्वेष रहित साधक को जो सुख मिलता है, चक्रवर्ती का सुख उसके अनन्त भाग की बराबरी नही कर सकता । समस्त परिग्रहो से जो रहित हो और इन्द्रियो को सवर रूप करने वाला हो ऐसा स्थिर चित्त सयमी साधक विभु वर्द्धमान की कही हुई ध्यान धुरी को धारण कर सकता है । अतीत उपभोग है, वह अतीत के कारण ही परिग्रह भाव को धारण नही करता । भविष्य का उपभोग यदि वाञ्छा मे आता है तो वह परिग्रह भाव को धारण करता है और वर्तमान का उपभोग रागबुद्धि से हो रहा है तो वह भी परिग्रह भाव की सीमा का स्पर्श करता है । प्रमाद परिग्रह है । उसके अभाव मे निजगुणो मे मूर्च्छा का भी अभाव होता है । निरपेक्ष भाव से किया गया त्याग ही अपरिग्रह है ।

इच्छा आकाश के समान अनन्त है। इच्छा की पूर्ति पर आकुलता मिटती है और सुख झलक उठता है। हमें इच्छा पिशाच को पछाड़ना होगा और करना होगा जीवनयापन के लिए सच्चाई से आजीविका अर्जन। लोभ और इच्छा का शिकार न होकर सत्पुरुषार्थ करना पड़ेगा। पुरुषार्थ वह है जिसमें अपनी आकुलता घटे और दूसरों की आकुलता न बढे। अपना-पराया सबका भला हो। सुख वाहर नही भीतर जो है। इसके लिए संग्रहवृत्ति से दूर होना होगा। विश्व के सभी प्राणियों के लिए परिग्रह के समान दूसरा कोई जाल बंधन नही। विचारो और कामनाओ के अन्त से सुख-सागर लहराएगा। अपरिग्रह आकाश में परिग्रह के वादल नही छाएँगे। संकल्प के सूरज से परिग्रह की कालिमा मिट जाएगी और अपरिग्रह की अरुणिमा आत्मा के आगन मे सर्वत्र बिखरी/छिटकी पड़ी होगी।

□ □ □

दान का अपरिग्रह

श्री भूदेव मुखोपाध्याय ने अपनी एक लाख साठ हजार रुपये की सम्पत्ति दान करके अपने पिता श्री विश्वनाथ तर्कभूपण की स्मृति में 'विश्वनाथ फंड' स्थापित किया था। इस फंड से देश के सदाचारी विद्वान् ब्राह्मणों को बिना माँगे प्रतिवर्ष पचास रुपये की सहायता मनिआर्डर से उनके घर भेजी जाती थी। पंडितों को न तो सहायता पाने के लिये प्रार्थना करने की आवश्यकता थी और न फंड के कार्यालय में आने की। इस फंड के प्रथम वर्ष की वृत्तियों का विवरण 'आनन्द वाजार पत्रिका' मे देने के लिये एक कर्मचारी ने सूची बनायी। उसमे लिखा था—"इस वर्ष में जिन-जिन अध्यापकों एवं विद्वानों को 'विश्वनाथ-वृत्ति' दी गयी, उनकी नामावली।" श्री भूदेव बाबू ने यह सूची देखी तो अप्रसन्न होकर बोले—"तुमने यह क्या लिखा ? इसे इस प्रकार लिखो। इस वर्ष जिन-जिन अध्यापको और विद्वानों ने 'विश्वनाथ वृत्ति' स्वीकार करने की कृपा की, उनकी नामावली।"

ऐसे थे प्रशसा एवं दान के अपरिग्रही भूदेव बाबू।

१६

अपरिग्रह साधना के प्रेरक सूत्र

□ श्री जशकरण डागा

(१) पर में कर्त्ता बुद्धि न रख दृष्टा बनने का अभ्यास करे। इससे कर्म-बंध भी नही होते। जैसाकि 'समयसार' मे कहा है—

> "कर्म करे सो ही करतारा, जो जाने जो जाननहारा।
> कर्त्ता सो जाने नही सोई, जाने सो कर्त्ता नही होई॥"

(२) आवश्यकता से अधिक सग्रह न करे।

(३) अपनी आवश्यकताओ और आकांक्षाओ को उत्तरोत्तर कम करे।

(४) जो सामग्री मिली है उसका स्वयं के लिए कम से कम उपयोग करे तथा अन्य जीवों के कल्याण के लिए उसका अधिक से अधिक उपयोग एवं वितरण करे।

(५) वस्तुओं को उनके तथ्य मे देखे, आशाओ मे नही। उन्हें कभी भी साध्य न समझना, साधन समझना।

(६) वस्तु को आत्मा से अधिक महत्त्व न दे। यदि वस्तु के लिए जीवन होगा तो वहाँ मूर्च्छा बढेगी और जहाँ मूर्च्छा बढेगी वहाँ परिग्रह निश्चित बढेगा। स्वय की मालकियत कभी वस्तुओ के मायाजाल मे न खो जाए, इसके लिए सचेत रहना।

(७) प्राप्त सामग्री का सदुपयोगार्थ विसर्जन करना सीखे। मात्र धन की पकड़ करने वाला धनी नही, वह तो धन का गुलाम होता है। धन का विसर्जन सच्ची मालकियत का लक्षण है। महान् तत्त्ववेत्ता रस्किन ने कहा है कि मनुष्य धनी तब होता है जब वह धन को दान कर पाता है, नही तो वह गरीब ही होता है। इस प्रसग में टुन्ड्रा निवासी एस्किमो की उदार वृत्ति उल्लेखनीय है। जब कभी कोई उनकी किसी वस्तु को अच्छी कहता है तो वे तत्काल उस वस्तु को प्रशंसक को सस्नेह भेट कर देते है। चाहे फिर उन्हे परेशानी उठानी पड़े। उनकी मान्यता है कि यह उनकी संस्कृति है और ऐसा करने मे उ[illegible] विशिष्ट आनन्द की अनुभूति होती है तथा जो प्रशंसक की, वस्तु के प्रति लाल[illegible] थी, वह भी उसे मिल जाने से शात हो जाती है।

(८) ब्रह्म भावना का अभ्यास करें। भावना चार प्रकार की होती है। प्रथम-दानवी—जिसमे दूसरे की वस्तु भी अपनी बनाली जाती है। दूसरी मानवी—जिसमें दूसरे की वस्तु को अपनी नही बनाई जाती पर अपनी वस्तु को अपनी मान दूसरे को नही देना। तीसरी दैवी भावना होती है जिसमें अपनी वस्तु भी दूसरे के लिए दे दी जाती है। चौथी ब्रह्म भावना सर्वोत्तम है। इसमें वस्तु न मेरी है न किसी अन्य की है। मेरा तो सिर्फ मेरा ज्ञानदर्शन है, ऐसा उत्तम चितन होता है जिससे वस्तु के प्रति रही मूर्च्छा सर्वथा समाप्त हो जाती है। चारों भावनाओं के चार उदाहरण प्रस्तुत है। दानवी भावना के कौरव, मानवी भावना के पाण्डव, दैवी भावना के मर्यादा पुरुषोत्तम राम और ब्रह्म भावना के भगवान् महावीर आदर्श उदाहरण है। ब्रह्म भावना परिग्रह के लिए ब्रह्म अस्त्र समान है।

(९) तीन मनोरथ का चिन्तन करे। श्रावक की जीवनचर्या का यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है। इसमे कुछ भी करना नही पडता। मात्र नित्य चितवन करना होता है और भाव सहित चितवन से महान कर्मो की सहज निर्जरा होती है व इसके प्रभाव से अपरिग्रह की साधना को विशेष बल एवं गति मिलती है। तीन मनोरथ इस प्रकार है।

(i) वह शुभ दिन मेरे परम कल्याण का होगा जब मै नव प्रकार के बाह्य एव चौदह प्रकार के आभ्यन्तर परिग्रह से निवृत्त होऊँगा।

(ii) वह शुभ दिन मेरे परम कल्याण का होगा जब मै ६ काया का आरम्भ त्याग कर द्रव्य से मस्तक व भाव से मन को मुंडित कर पच महाव्रत एव पाँच समिति, तीन गुप्ति का शुद्ध आराधक निर्ग्रथ साधु बनूँगा।

(iii) वह शुभ दिन मेरे परम कल्याण का होगा जब मैं आलोयणा निन्दा करके, अठारह पाप तथा चारों आहार का त्याग करके सलेखना सथारा सहित समाधि मरण को प्राप्त करूँगा।

(१०) अनासक्त होने हेतु इस सूत्र को सदा ध्यान में रखे—आता है जो आने दे, जाता है जो जाने दे, और होता है जो होने दे।

अपरिग्रह साधना के लाभ

(१) सुख, शान्ति व धर्म की सिद्धि—'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा है 'सो ही उज्जुय भूयस्स, धम्मो सुद्दस्स चिट्ठइ' धर्म वही टिकता है जहाँ [illegible]होती है। सरलता भाव परिग्रह के त्याग से आती है। परिग्रह ज्यों-ज्यों [illegible]ता है, प्राणी को सुख, शान्ति व धर्म की त्यो-त्यो उपलब्धि एवं उसकी

होती है। द्रव्य एवं भाव परिग्रह में सबका मूल लोभ परिग्रह है। लोभ वृत्ति ज्यो-ज्यो साधना के द्वारा कम होती है, आरम्भ-परिग्रह स्वभावतः कम होकर छूटते जाते है। इनके कम होने पर सुख, शान्ति व धर्म की उपलब्धि जीवन में बढती जाती है।

(२) **स्व-पर कल्याण का हेतु**—अपरिग्रह की साधना में स्व-पर व समग्र विश्व का हित सन्निहित है। जैन धर्म अपरिग्रह प्रधान होने से ही इसे आचार्य समन्त भद्र ने 'सर्वोदय तीर्थ' कहा है। किन्तु यह विशेषता तभी सार्थक है, जब जैन धर्मानुयायी अपरिग्रह को कथनी के साथ जीवन मे लाते है।

(३) **मुक्ति का द्वार**—परिग्रह नरक और अपरिग्रह मुक्ति का द्वार है। 'ठाणाग सूत्र' के ठाणा ४ में नरक के चार कारणो मे एक कारण परिग्रह को भी बताया है। जबकि 'कषाय मुक्ति किल एव मुक्ति' कह-कहकर कषाय जो आन्तरिक परिग्रह है, के त्याग से मुक्ति की प्राप्ति होना बताया है। इसके विपरीत परिग्रही कभी मुक्ति का अधिकारी नही हो सकता।

(४) **सद्गुणों की सहज उपलब्धि**—अपरिग्रह साधना से अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और सभी गुण सहज मे उपलब्ध हो जाते है। कारण अपरिग्रह साधना से आसक्ति छूट जाती है और आसक्ति छूट जाने से मोक्ष मार्ग मे गति करने में सहायीभूत सभी आत्मिक गुण स्वतः प्रगट होने लगते है।

(५) **सच्ची स्वाधीनता की प्राप्ति**—परिग्रह बडा बधन है। ससार मे जीव को कैद कर रखने वाला परिग्रह ही है। उर्दू कवि असगर ने परिग्रह को फंदे मे फसना बताते हुए कहा है—

"फदे मे फसना चाहे तो जा दाम की तरफ।
आराम अगर चाहे तो आ राम की तरफ॥"

अपरिग्रह साधना से ही इस महाफदे से मुक्त हुआ जा सकता है और मुक्त होने पर जो सच्ची स्वाधीनता की अनुभूति होती है, इसके सुख के आगे ससार का सभी सुख तुच्छ और नगण्य है।

(६) **सर्व दुःखो से छुटकारा**—'सूत्रकृताग सूत्र' मे कहा है—जो मनुष्य सजीव या निर्जीव या थोडी या अधिक वस्तु को परिग्रह बुद्धि से रखता है या पर को रखने की आज्ञा देता है, वह दु.ख से छुटकारा नही पाता। इसके विपरीत अपरिग्रह साधना से, मूर्च्छा भाव न रहने से सजीव या निर्जीव, थोडी या अधिक वस्तु का सयोग या वियोग दु.ख उत्पन्न नही कर सकता। क्योकि सुख-दु.ख वस्तु मे नही, मूर्च्छा-अमूर्च्छा भाव से सम्बन्धित होते है। वस्तुत सुख पर-पदार्थो मे है भी नही। यदि पर-पदार्थो मे सुख होता तो एक पदार्थ एक समय सुख का

और दूसरे समय वही दु.ख का कारण क्यो बन जाता है ? इस पर एक उदाहरण प्रस्तुत है ।

एक बार एक योगी के पास चार व्यक्ति पहुँचे । उनकी सेवा से प्रसन्न हो योगी ने पूछा—तुम्हे क्या चाहिए ? एक ने कहा— मुझे धन चाहिए ! दूसरे ने कहा—मुझे सुन्दर स्त्री चाहिए ! तीसरे ने कहा—मुझे पुत्र चाहिए ! चौथे ने कहा—मुझे यश चाहिए ! योगी ने चारों को तथास्तु कह कर आश्वस्त किया । योगी कुछ वर्षो बाद पुनः उसी नगर मे आया । चारों व्यक्ति योगी की सेवा मे पुनः पहुँचे । योगी ने पूछा—आप लोग अब तो सुखी है ? पहिला बोला—आपकी कृपा से धन तो बहुत मिल गया पर उसकी रक्षा की चिन्ता में रात-दिन दुःखी हूँ । नीद नही आती । दूसरे ने कहा—सुन्दर स्त्री तो मिल गई पर उसके संसर्ग से ऐसा रोग लगा कि जिन्दा रहना दूभर हो गया । तीसरे ने कहा—पुत्र तो हो गया, पर आज्ञाकारी नहीं और उसके दुराचारी होने से दुःखी हूँ । चौथे ने कहा—यश तो बहुत मिल गया पर ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा से बहुत परेशान हूँ । योगी ने समझाया—सुख पर पदार्थो मे नही । उनसे कभी सच्चा सुख नही मिल सकता । सच्चा सुख आत्मा मे है जो सन्तोष धारण करने से मिलता है । योगी अकिंचन होकर भी बड़े सुखी होते हैं, क्यों ? कहा है—

"तीन टुक कोपीन के, बिन भाजी विन लूण ।
जो मन मे सन्तोष है, इन्द्र बिचारा कूण ?"

(७) **सबको अभय और निर्भीकता मिलती है** - परिग्रह समस्त चिताओ की जड और अशरणभूत है । प्रमादी पुरुष धन संग्रह से इस लोक या परलोक मे (त्राण) रक्षण नही पाता । धन को 'सूत्रकृताग सूत्र' में मास के टुकड़े की उपमा दी है । जैसे मांस को स्थल पर सूअर, कुत्ते, विल्ली आदि का, जल मे मगरमच्छ, घड़ियाल आदि का और नभ मे गिद्ध, चील, वाज आदि पक्षियो का भय बना रहता है और सर्वत्र असुरक्षित रहने से चिन्ता पैदा करता है, वैसे ही परिग्रह सर्वत्र भय, असुरक्षा और चिन्ता का कारण है । परिग्रही को सुरक्षा की पूरी व्यवस्था कोट, किले, अग रक्षक आदि होने पर भी चैन नही मिलता है । जवकि अपरिग्रही जंगल मे अकेला होने पर भी निश्चित और निर्भय रहता है । कवि की भाषा में उसे—

"न च चोर भय, न च राज भय, न च लोक भय न च काल भयं ।
इह लोक सुख, परलोक हितं, श्रमणत्व इदं परमत्व सुखम् ।।"

(८) **सन्तोष रूपी कल्पवृक्ष की प्राप्ति**—जैसे अग्नि मे घृत डालने से वह तृप्त नही होती वैसे ही ज्यो-ज्यो धन का लाभ होता है, परिग्रह रूपी दानव की भूख-प्यास और बढ़ती है । शास्त्रकार कहते है—"जहा लाहो, तहा लोहो

लाहो लोहो पवड्ढइ ।" अर्थात् ज्यों-ज्यो लाभ में वृद्धि होती है, त्यों-त्यो लोभ बढता जाता है । वस्तुत. तृष्णा अमर वेल है जो बिना सन्तोष के बढती ही जाती है । अपरिग्रह की साधना से सन्तोष रूपी कल्पवृक्ष पैदा होता है जिसकी प्राप्ति पर कोई इच्छा शेष नही रहती है ।

(६) **प्राणी मात्र से मैत्रीभाव होता है**—ससार मे वैर विरोध का मूल राग-द्वेष है जो आभ्यन्तर परिग्रह है । अपरिग्रह साधना से रागद्वेष का क्षय होता है जिससे प्राणी मात्र के प्रति मैत्रीभाव स्थापित होता है । मैत्री भाव से अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है और दूसरे प्राणी भी जो सम्पर्क में आते है उन्हे भी आनन्द एव आत्मीयता की अनुभूति होती है । शत्रु भी मित्र हो जाते है। वास्तव मे कोई किसी का शत्रु नही है । सभी आत्माएँ परमात्म स्वरूप है, किन्तु हमारी आन्तरिक द्वेष वृत्ति ही दुश्मनी पैदा करती है । कहा है—

"हमारे अन्दर के दुश्मन ही दुश्मनी बढाते है ।
बाहर के व्यक्ति तो निमित्त बन जाते है ।।"

अपरिग्रह साधना से ज्यो-ज्यो रागद्वेष क्षय होते है त्यो-त्यो 'मित्ति मे सव्व भुएसु बैरं मज्ज न केणइ' की प्रशस्त भावना जीवन मे चरितार्थ होकर जीवन को अलौकिक आत्मिक आनन्द से प्रफुल्लित कर देती है ।

आज के भौतिक विज्ञान प्रधान युग मे व्यक्ति की आकाक्षाएँ और आवश्यकताएँ असीम बढती जा रही है । फलत: 'पैसा' उसके लिए परमेश्वर हो गया है । उसका लक्ष्य एक मात्र अधिक से अधिक अर्थ उपार्जन का हो गया है । वह मात्र पैसे का पुजारी रह गया है ।

भौतिकवाद की बढती दौड़ ने मात्र श्रावक वर्ग को ही प्रभावित नही किया है, वरन् श्रमणो पर भी इसका अत्यधिक प्रभाव हुआ है । उदाहरण के लिए बहुमूल्य वस्त्रो, उपकरणो का सग्रह, वातानुकूलित बगलो मे आवास करना, भोजन मे अताहारी पताहारी आहार की गवेषणा की प्रथा का लुप्त हो जाना तथा राजपिण्ड जैसे बादाम पिश्ते आदि से निर्मित सरस व गरिष्ठ आहार अकारण ग्रहण करना और 'एग भत्त' की जगह सुबह से शाम तक गोचरी लाना व भोगना आदि-आदि श्रमणाचार के प्रतिकूल प्रवृत्तियाँ श्रमणो मे भी अपरिग्रह व्रत मे शिथिलता आने का सकेत है ।

श्रावकाचार तो परिग्रह के प्रदूषण से इतना प्रभावित हुआ है कि आज उनके अधिकाशत धार्मिक अनुष्ठान भी सदोष होते है । बाहर से सभी द्रव्य क्रियाएं निर्दोष करते है किन्तु अन्तर भावो मे सांसारिक स्वार्थ सम्बन्धी चिन्तन की प्रधानता रहती है । श्रीमद् देवचन्दजी महाराज ने इस तथ्य को बडे स्पष्ट शब्दो मे विरहमान भगवान् की प्रार्थना करते हुए इस प्रकार कहा है—

"अवगुण ढांकन काज करूँ जिनमत क्रिया,
दृष्टि रागनो पोल तेह समवित गणु।
स्याद्वादनी रीत न देखुँ निजपणुं,
बिरहमान भगवान सुणो मुझ विनती।
जगतारक जगन्नाथ अहो त्रिभुवन पति ।।"

श्रावक सामाजिक, पौषध, संवर, दया आदि अनुष्ठानों मे बाह्य परिग्रह का त्याग तो सरलता से कर देता है, साधु जैसा भेष भी अपना लेता है किन्तु अन्तर का भाव परिग्रह उसे धर्म साधना में स्थिर नही होने देता। कवि कहता है—

"परिग्रह बाहर नही अन्दर है, इसी से यह बवण्डर है।
जिसकी इसके प्रति उदासी है, वह गृहस्थ होकर भी संन्यासी है।"

□ □ □

त्याग की महिमा

कटक से कुछ दूर एक गाँव मे बापू का भाषण हो रहा था। भाषण समाप्ति के पश्चात् बापू ने हरिजन-फंड के लिए चदा मागा। तभी भीड़ को चीरता हुआ एक लडका मंच के पास आया और उसने एक लम्बा ताजा काशी-फल सामने रख दिया। गांधीजी ने उसे स्वीकार करते हुए पूछा—"कहाँ से लाये ?"

"मेरे छप्पर पर इसकी बेल है बापू।"

"इसे मुझे दे रहे हो फिर सब्जी किसकी बनाओगे ?"

"माँ ने कहा है कि इसे महात्माजी को दे आना। आज हम लोग बिना साग के काम चला लेगे।"

गाधीजी की आँखें भर उठी। हृदय गद्‌गद् हो उठा। फिर सभा को सम्बोधित करते हुए बोले—"बन्धुओ, हमारा देश हजारों वर्षो से विदेशी आक्रमणो का सामना करते हुए भी टिका हुआ है। उसका कारण यह त्याग की शक्ति ही है। खुद न खाकर दूसरो को दे देने की भावना से ही दुनिया में मानवता टिकी हुई है।"

—कल्पना आंचलिया

१७

अपरिग्रह-सन्देश

□ डॉ० शान्ता भानावत

प्रभु महावीर ने सतत साधना और चिन्तन द्वारा मानव जाति के समक्ष सत्य, अहिसा, अपरिग्रह, अनेकान्त, ब्रह्मचर्य जैसे सिद्धान्तो का प्रतिपादन कर लोक-कल्याणकारी मार्ग प्रशस्त किया।

भगवान् महावीर के चिन्तन में जितना महत्त्व अहिसा को मिला, उतना ही अपरिग्रह को भी। उन्होंने जहाँ-जहाँ हिसा का निषेध किया, वहाँ-वहाँ परिग्रह का भी। उन्होंने बताया कि परिग्रह एक वृत्ति है। यह प्राणी की अन्तरंग चेतना की एक अशुद्ध स्थिति है। अत जब चेतना बाह्य वस्तुओं मे आसक्ति, मूर्च्छा तथा ममत्व भाव का आरोप करती है तभी परिग्रह वृत्ति आती है। इस वृत्ति से सचय की प्रवृत्ति बढती है। उचित-अनुचित का विवेक किये बिना व्यक्ति इच्छाओ के वशीभूत होकर वस्तुओ को जकड़ लेना, पकड लेना, जमा करना चाहता है। उनका मर्यादाहीन, गलत व असामाजिक रूप से उपभोग करता है। इस प्रकार की संग्रह वृत्ति से व्यक्ति दु.खी बनता है। संग्रह से सघर्ष की प्रवृत्ति बढ़ती है।

आज का व्यक्ति येन-केन प्रकारेण धन इकट्ठा करना चाहता है। अधिक कमाने के लिए जमाखोरी, मुनाफाखोरी, चोर बाजारी, धोखा-धडी, मिलावट, हत्या आदि राष्ट्र विरोधी अनैतिक कार्य करने मे भी नही हिचकिचाता। उसकी धन के प्रति तृष्णा इतनी बढ गई है कि वह अपनी पाँच-दस पीढियो के लिये धन इकट्ठा करना चाहता है। परिणाम यह हो रहा है कि समाज मे घोर विषमता पैदा हो गई है। एक ओर बडी-बडी हवेलियाँ है जिनमे प्रचुर भोग-विलास की सामग्री भरी पडी है, दूसरी ओर ऐसा वर्ग भी है जिसके पास पेट भरने को रोटी नही, तन ढकने को वस्त्र नही। इस सामाजिक विषमता से वर्ग-संघर्ष बढता है। आज इसीलिये सर्वत्र भय और अशांति का वातावरण बना हुआ है। महावीर ने इस प्रकार की विषम स्थिति को देखा था। उनका हृदय बार-बार करुणा से ओतप्रोत हो उठता था। इस विषमता से मुक्ति दिलाने के लिये ही उन्होने अपरिग्रह का संदेश दिया।

आज विश्व मे चारो ओर जो अशाति के बादल मडरा रहे है और मनुष्य मनुष्य के बीच वैर-विरोध बढ रहा है, यदि उसके कारणो पर गम्भीरतापूर्वक

विचार किया जाय तो पता चलेगा कि उसके मूल में मानव की अनन्त इच्छाएं है। इन इच्छाओं का अन्त कहाँ ? चाहे उसे विश्व के सारे पदार्थ मिल जायें तो भी उसकी इच्छा और प्राप्त करने की रहेगी। प्रभु महावीर के शब्दों में—

"सुवण्ण रूवस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंख्या ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छाहु अगाससमा अणतया ।।"

यदि कैलाश पर्वत जितने बड़े सोने-चाँदी के अणगिनत ढेर हो, तो भी लोभी मन उनसे संतुष्ट नही होता। इच्छाएँ आकाश की तरह अनन्त होती है।

इच्छाओं का यह अतिरेक ही व्यक्ति को अप्रामाणिक और भ्रष्ट बनाता है। ससार में जितने भी पाप होते है, उनके मूल मे यही इच्छा वृत्ति है। इसी से अधिकार लिप्सा और ममत्व बुद्धि का जन्म होता है। प्रभु महावीर ने वस्तुओं एवं व्यक्तियो के प्रति इस ममत्व बुद्धि को ही परिग्रह बतलाया है—मुच्छा परिग्गहवुत्तो।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना होगा कि इच्छा और आवश्यकता मे अन्तर है। आवश्यकता है शरीर की और इच्छा है मन की। शरीर को बनाये रखने के लिए आवश्यकता है पौष्टिक आहार की, ग्रीष्म-शीत से बचने के लिए योग्य वस्त्र तथा हवा-पानी से युक्त आवास की। आवश्यकता की पूर्ति करनी पडती है। यह परिग्रह नही है। परिमाण करने का विषय है इच्छाएँ जो अबाध छोडने पर कभी तृप्त नही होती। भारत की वर्तमान स्थिति को देखा जाये तो सारा दृश्य अमर्यादित इच्छाओं की कुत्सा को प्रतिबिम्बित करता है। जिसके पास धन, सत्ता, अधिकार अधिक है, वह अपने आपको बडा समझ कर दूसरो के प्रति घृणा की भावना रखता है। अभावग्रस्त लोग अपने से अधिक समृद्ध व्यक्ति को देखकर ईर्ष्यावश जलते रहते है। लोगो के मन मे द्वेष, घृणा, कलह, विरोध, सघर्ष, भेद-बुद्धि व अशाति की ज्वाला सुलग रही है।

शातिपूर्ण, चिन्ता मुक्त जीवन जीने के लिये प्रभु महावीर ने मानव जाति को अपरिग्रह का सिद्धान्त बताया है। जिसका अर्थ है जीवन मे निस्पृहता आये, वस्तुओं पर से आसक्ति घटे, आवश्यकताओं से अधिक वस्तुओं का सग्रह न हो, इसके लिए इच्छाओं का नियमन आवश्यक है। इच्छाएँ सीमित होगी तो चिन्ता और अशाति भी कम होगी। इस दृष्टि से गृहस्थ के लिए प्रभु महावीर ने इच्छा परिमाण व्रत का उपदेश दिया। सद्‌गृहस्थ यह निश्चय करता है कि मैं इतने पदार्थों से अधिक की इच्छा नही करूँगा। इच्छा परिमाण एक प्रकार से स्वामित्व-विसर्जन की प्रक्रिया है। महावीर के समक्ष जब वैशाली का आनन्द श्रेष्ठी इच्छा परिमाण व्रत का सकल्प लेने उपस्थित हुआ, तो महावीर ने कहा— तुम अपनी आवश्यकताओं को सीमित करो। अपार साधन-सामग्री तुम्हारे है, उसका पूर्ण रूप मे नही तो, उचित सीमा से विसर्जन करो। [illegible]

अधिक धन, वस्त्र, बर्तन आदि पर अपना अधिकार मत रखो, आवश्यकता से अधिक स्थान, मकान, भूमि पर अपना स्वामित्व मत रखो। इसी प्रकार पशु, नौकर-चाकर आदि को भी अपने सीमाहीन अधिकार से मुक्त करो।

स्वामित्व विसर्जन के लिए प्रभु महावीर की यह सात्विक प्रेरणा थी, जो समाज में सम्पत्ति के आधार पर फैली अनर्गल विषमताओं का प्रतिकार करने मे सफल सिद्ध हुई। मनुष्य जब आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति व वस्तु के सग्रह पर से अपना अधिकार हटा लेता है तो वह समाज और राष्ट्र के लिए उन्मुक्त हो जाती है जिससे समाजवादी प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।

श्रमण भगवान् महावीर के परिग्रह और अपरिग्रह के दृष्टिकोण को वर्तमान युग मे महात्मा गांधी ने अपने जीवन में प्रायोगिक रूप दिया।

उन्होने कहा—जिस चीज की हमें जरूरत नही है, उसे जिसके अधिकार मे वह है, उसके पास से उसकी आज्ञा लेकर भी लेना चोरी है। अनावश्यक एक भी वस्तु न लेना चाहिए। मन से हमने किसी की वस्तु प्राप्त करने की इच्छा की या उस पर झूठी नजर डाली तो वह चोरी है। गांधीजी के विचार में सच्चे सुधार का, सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढाना नही है, वल्कि उसे घटाना है। ज्यों-ज्यों परिग्रह घटाएँगे, त्यो-त्यो सच्चा सुख और सच्चा सतोष बढता है—सेवा शक्ति वढती है। गाधीजी का ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त इसी बात पर बल देता है कि तुम अपने धन के मालिक नहीं ट्रस्टी हो, संरक्षक हो। जो धन तुम्हारे पास है, वह समाज का है। समाज के कल्याण में इसका उपयोग होना चाहिए।

इस दृष्टि से विचार करने पर भगवान् महावीर का अपरिग्रह सिद्धान्त व्यक्ति को ममत्व बुद्धि से हटाकर, समाज सेवा और समता भाव की ओर ले जाता है। उन्होने सम्प्रदायवाद, सकीर्ण विचार, अहंकार, लोभवृत्ति, क्षोभ, मायाचार आदि जीवन की कमजोरियों को भी परिग्रह कहा है। जव व्यक्ति वाहरी और भीतरी दोनो प्रकार के परिग्रहों से दूर हटता है तभी वह सच्चा इन्सान वनता है। प्रभु महावीर का अपरिग्रह संदेश मानवीय सवेदना जागृत कर प्राणी मात्र के प्रति समता भाव स्थापित करने पर वल देता है।

सक्षेप मे, भगवान् महावीर के अपरिग्रह-सदेश की तीन मुख्य वाते है।

१. तुम अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुओ का सग्रह मत करो।
२. अपनी आवश्यकताओ को भी कम करो।
३. जो साधन-सामग्री तुम्हारे पास है, उसका स्वय के उपभोग के लिए कम-से-कम उपयोग करो तथा जनकल्याण के लिए उसका स्वेच्छापूर्वक अधिक-से-अधिक वितरण करो। □

१८

अपरिग्रह-भाव

☐ प्रो० अरुण जोशी

'नीतिशतक' मे एक पद्य में भर्तृहरि ने परिग्रह को तुच्छ कहा है। अनुपयुक्त वस्तुओ का संग्रह ही परिग्रह है। कई व्यक्ति इसी वृत्ति से अनेक वस्तुओ का सग्रह करने मे कार्यरत होते है। ऐसी संगृहीत वस्तुएँ कालक्रम से कीट आदि से नष्ट होती है या चोर की नजर मे भी आ जाती है। महात्मा ईसा ने अतएव कहा है कि यदि वस्तुओ का सग्रह करने की इच्छा हो तो उनका सग्रह परलोक मे करे जिससे कोई नुकसान न हो सके।

विवेकयुक्त मानव परिग्रह नही करते है। क्योकि वे समझते है कि परिग्रह क्षमता का शत्रु है, अतृप्ति का मित्र है, मोह का आराम स्थान है, पाप की खान है, आपत्ति का स्थान है, व्याकुलता का निधान है, शोक का हेतु है, और क्लेष का क्रीडागण है। सगृहीत वस्तु को अच्छी तरह सम्भालने की चिन्ता हमको दु ख देती है। सग्रह वृत्ति का यह अमगल परिणाम है। सग्रह करने से मन वहा आसक्त रहता है। मन की एकाग्रता नष्ट होती है। अत: परिग्रह का त्याग करके अपरिग्रह का स्वीकार करना चाहिए। किन्तु ईसा ने कहा है कि परलोक में सग्रह करना चाहिये। वहाँ जिसका संग्रह हम कर सकते है वे है— सदाचार, प्रामाणिकता, जनकल्याण आदि। ईसा की आज्ञा का पालन करने से जगत की अशाति रूप परिग्रह का नाश होगा।

अपरिग्रह का सम्बन्ध अस्तेय के साथ भी है। सत्य शोधक अहिंसक व्यक्ति कभी परिग्रह नही करेगा। आवश्यक वस्तुओ के लिए हम चिन्ता करते है किन्तु भक्तगण ऐसी चिन्ता कभी नही करते है।

धनाढ्य के घर पर अनावश्यक वस्तुओ का सग्रह होता है। वे नष्ट होती जाती है किन्तु गरीब लोग इन वस्तुओ के अभाव से भूखे मरते है। यदि प्रत्येक व्यक्ति आवश्यक वस्तु का ही सग्रह करे तो किसी को अभाव का सामना करना नही पडेगा।

परिग्रह को पाप का मूल माना जाता है, किन्तु समाज मे परिग्रह करने की प्रक्रिया देखी जाती है। मानव जिन्दगी का ध्येय धन प्राप्त करने का है, ऐसा किसी ने नही कहा है, किन्तु धन निकम्मा है ऐसा कहने मे दम्भ होता है

क्योकि मानव के लिए और जनसमाज के कल्याण के लिए धन उपयोगी अवश्य है। 'सर्वे गुणा: काचनमाश्रयन्ते' ऐसा कथन भी सत्य नही और 'सर्वे दुर्गुणाः कांचनमाश्रयन्ते' ऐसा कथन भी उपयुक्त नही।

परिग्रह की विषमता कम करने के लिए क्या उपाय करना चाहिए? अपनी मर्यादा बाध कर जो अधिक धन बचता है उसका उपयोग धर्म कार्य के लिये करना चाहिये। यदि इस तरह का व्रत लेना मुश्किल हो तो दान देना सरल मार्ग है। परिग्रह के पाप का प्रायश्चित दान देने से कम अवश्य होता है।

आत्यन्तिक अपरिग्रह तो कोई अवधूत ही कर सकता है। सामान्यजन को प्रतिदिन परिग्रह वृत्ति की परीक्षा करनी चाहिये और परिग्रह को कम करना चाहिये। गाधीजी ने भी कहा है कि परिग्रह कम होने से सुख, सन्तोप और सेवा करने की भावना में वृद्धि होती है।

वस्तु के बारे में अपरिग्रह आवश्यक है, इसी तरह विचार का अपरिग्रह भी आवश्यक है। मगज (मस्तिष्क) मे निरर्थक ज्ञान भरने की कोई आवश्यकता नही है। जो विचार हमको ईश्वराभिमुख नही बनाता है वह परिग्रह की कोटि में ही आता है। अत: अपरिग्रह का हमारे जीवन में बहुत लाभकारी स्थान है।

अपरिग्रही दम्पती

राँका और बाँका पति-पत्नी थे। वे ईश्वर के बडे भक्त थे। सादगी से अपना जीवन व्यतीत करते थे। वे सर्वथा नि.स्पृह थे। एक बार भगवान् ने उनकी परीक्षा लेने की ठानी।

एक दिन वे लकड़ी लाने के लिये जंगल को जा रहे थे। पति आगे-आगे चल रहा था और पत्नी पीछे-पीछे आ रही थी। मार्ग मे किसी वस्तु पर राँका को ठोकर लगी। उसने देखा—सोने की मोहरो से भरी थैली खुली पड़ी है। वह उसे देख कर जल्दी-जल्दी धूल डाल कर उसे ढकने लगा। इतने में बॉका आ पहुँची। उसने पति से पूछा—"क्या कर रहे हो?" रॉका ने पहले तो नही बताया, पर विशेप आग्रह करने पर कहा—"सोने की मोहरे थी। मैने समझा, इन पर कही तुम्हारा मन न चल जाए, इसलिए इन्हे धूल डालकर ढक रहा था।"

बॉका ने हस कर कहा—"वाह, धूल डालने से क्या लाभ है? सोने और धूल मे भेद ही क्या है, जो आप इन मोहरो को ढक रहे है।"

पति से भी पत्नी अधिक निस्पृही लगी।

ऐसा था अपरिग्रह दाम्पत्य जीवन राँका-बॉका का।

—श्याम मनोहर व्यास

१९

वांछा, ममता और तृष्णा

□ श्री रमेश मुनि शास्त्री

आत्मा शाश्वत सुख की अनुभूति कर्म-मुक्त होने के बाद ही कर सकती है। 'मुक्ति' का वाच्य अर्थ है—छुटकारा। मोक्ष भी मुक्त दशा को कहा जाता है। मिथ्यात्व आत्मा का सबसे बड़ा एवं प्रगाढ बन्धन है। उसके जाल से छुटकारा पाना ही मुक्तावस्था का प्रारम्भ है। अष्टविध कर्मो मे मोह कर्म सभी कर्मों का राजा है। मोहनीय कर्म की जो अट्ठावीस प्रकृतियाँ है, उनमें से एक मिथ्यात्व प्रकृति भी है।

ऊपर की ओर उठना, यह आत्मा का स्वभाव है, धर्म है। आत्मा जब स्व-स्वभाव मे स्थित होती है, तब वह ऊपर की ओर चढ़ती है। चढ़ना क्षेत्र की दृष्टि से भी होता है। जैसे—सातवी नरक से ऊपर चढ़ते-चढते 'मनुष्य' गति मे आ जाना। आत्मा इस प्रकार—क्षेत्र और गति इन दोनो की अपेक्षा से ऊपर की ओर चढती है। "गुणस्थान" की दृष्टि से भी आत्मा ऊपर की ओर चढ़ती जाती है। आत्मा 'मिथ्यात्व' नामक प्रथम गुणस्थान से 'अविरति सम्यग्दृष्टि' नामक चतुर्थ गुणस्थान मे आती है। चौथे से पाचवे, छठे, सातवे—इस प्रकार वह भव्य आत्मा उत्तरोत्तर ऊची चढ़ती जाती है। गुणस्थान की दृष्टि से आत्मा ऊपर की ओर तो अवश्य चढती है, किन्तु क्षेत्र अर्थात् स्थान की अपेक्षा से वह वही की वही रहती है। मात्र उस आत्मा की स्थिति-परिस्थिति में बदलाव आता है। आत्मा उन्नत अवस्था मे पहुँच जाती है, उच्च भूमिका पर अवस्थित हो जाती है। पाप उस उन्नत-अवस्था से—आत्मा को पतित कर देता है, उसे गिरा देता है।

अठारह प्रकार के पापो मे पांचवा पाप परिग्रह है। परिग्रह का अर्थ है किसी भी वस्तु की पूरी पकड़ होना और यह वह पकड़ है, जिसको दूसरे तो क्या, हम स्वय भी समझने मे असमर्थ हो जाते है कि हम किसी के द्वारा जकड़े हुए हैं। जो वस्तु हमारे अधिकार में है, हमारी इसके प्रति जो आसक्ति है, ममता है, वही परिग्रह है। आसक्ति का अपर नाम 'मूर्च्छा' भी है। वस्तु के प्रति रहे हुए ममत्व भाव को परिग्रह कहा है। मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा गया है। यह आसक्ति अथवा मूर्च्छा भाव ही आत्मा को वस्तुओं से बांध कर रखती है। जिस वस्तु के प्रति हमारी आसक्ति है, वह कहीं पर भी पड़ी हुई हो कितना ही बडा अन्तर क्यो न हो, डोरी और शृंखला के अभाव में भी [illegible]

हमें अपनी ओर आकर्पित कर लेती है, उसे खीच लेती है। दूरस्थ वस्तु की सहसा रूप से स्मृति आते ही हम सव कुछ छोड़कर उसकी उपलब्धि के लिये प्रलम्ब यात्रा के लिये कटिबद्ध हो जाते हैं। इसी आसक्ति या आकर्षण को बन्धन कहा जाता है। कभी-कभी तो यह वन्धन इतना अधिक उग्र रूप धारण कर लेता है कि वह हमें गहरी चिन्ताओं की प्रचण्ड ज्वालाओ से जला डालता है। हम अहर्निश अशान्त रहने लगते है। जो वस्तु हमे प्राणों से भी प्यारी है, कोई उस पर अपना आधिपत्य न जमा ले, उसे नष्ट न कर दे, विकृत न कर दे, वह वस्तु मूल्यवान् रत्न हो, भव्य भवन हो, पुत्र हो, मित्र हो, कोई भी हो और कुछ भी हो। जो वस्तु हमारे पास नही है, हमारे अधिकार मे भी नही है, और वह वस्तु हमारे से सम्बन्धित नही है। किन्तु दूसरों की है, दूसरों के अधिकार मे है, उस वस्तु की उपलब्धि के लिये लालायित रहना, अहर्निश उसी के चिन्तन मे डूबे रहना, आदि-आदि 'वाछा' कहलाती है। वांछा का वन्धन भी एक बड़ा बन्धन है। निष्कर्ष यह है कि वस्तु के असद्भाव मे उसकी आकांक्षा-इच्छा करना 'वांछा' है और सद्भाव मे उसके प्रति आसक्ति रखना 'ममत्व' है।

जो सम्यग्दृष्टि व्यक्ति है, वह इस प्रकार वांछा का परिग्रह भी नही रखता है। वह यही विचार करता है कि जो वस्तु मेरी नही है, उसको प्राप्त करने हेतु अभिलाषा क्यों करूँ ? परिग्रह के पाप को देखते हुए मुझे अपनी वस्तु का भी त्याग करना पड़ेगा। फिर भला अन्य की वस्तु को चाहना, मेरे लिये कथमपि उचित नही है। ममता और वांछा इन दोनों के प्रगाढ़ वन्धन से छुटकारा पाकर अपने आत्म-स्वरूप मे रमण करना ही मेरा कर्तव्य है।

परिग्रह का विपरीतार्थक शब्द है—अपरिग्रह ! मानव-जीवन की सफलता और विफलता क्रमशः अपरिग्रह और परिग्रह इन दोनो को भली-भांति समझने मे सन्निहित है। एक मे जीवन का कल्याण है, निर्माण है, और उत्थान है तो दूसरे मे जीवन का पतन है, विनाश है। जो व्यक्ति विवेकशील है, वह जीवन के उत्थान की दिशा की ओर प्रवृत्त होता है, अग्रसर होता है और विवेकहीन है, वह जीवन के पतन की ओर वढता है। परिग्रह पतन का मार्ग है, इसीलिये कहा गया है कि विराट विश्व के समस्त प्राणियो के लिये परिग्रह के समान दूसरा कोई जाल नही, वन्धन नही।[1] जो आत्माएँ परिग्रह-सग्रह वृत्ति मे व्यस्त है, वे संसार मे अपने प्रति वैर की ही अभिवृद्धि करती है।[2] जीवन की समस्त

१—नत्थि एरिसो पासो पडिदवो अत्थि,
सव्व जीवाण सव्वलोए

—प्रश्न व्याकरण सूत्र १/५

२—परिग्गह निविट्ठाणं वेर तेसिं पवड्ढई।

—सूत्रकृतांग १/९/३

समस्याओं का, परितापों का, उलझनों का, अन्तर्द्वन्द्वों का, कर्मबन्धो का, और जीवन के निर्मम क्षणों के परिस्पन्दनों का इस अपरिग्रहवाद में यथार्थ समाधान निहित है। पर व्यक्ति समस्याओ का समाधान अपरिग्रहवाद में न खोजकर परिग्रहवाद मे खोजता है। जिसके फलस्वरूप उसके दुःख-क्लेश की ग्रन्थिया सुलझने के स्थान पर और भी अधिक उलझती जाती है। उसका समूचा जीवन उनको सुलझाने में ही व्यतीत हो जाता है। वह उन विकट ग्रन्थियों की उलझन मे स्वयमेव उलझकर अपने जीवन को भार रूप बनाता है।

यह सत्य है कि मानव को भोजन की, वस्त्र की, निवासस्थान की आवश्यकता रहेगी। वह उनकी उपेक्षा नही कर सकता। यदि वह उनकी उपेक्षा करेगा तो वह जीवित नही रह सकेगा। अत्यावश्यक-आवश्यकताओं पर नियन्त्रण नही रखना है। इच्छा के विरोध और आसक्ति के निरोध पर बल देना चाहिए। आवश्यकताओं का जो क्षेत्र है, वह सीमित है, किन्तु इच्छाओ का क्षेत्र अनन्त है। जिस प्रकार एक अगाध-अपार महासागर में ढेला फैंकने से पहले एक लहर-चक्र, फिर दूसरा, तीसरा और चौथा आदि अनेक चक्र स्वतः ही उत्पन्न होते जाते हैं, इसी प्रकार एक इच्छा अनेक इच्छाओं का उपक्रम आरम्भ कर देती है। इस इच्छा के अतिरेक का दूसरा नाम 'तृष्णा' भी है। इच्छा और तृष्णा इन दोनों का कही अन्त नही है। जिस प्रकार आकाश का कही अन्त नही है, उसी प्रकार इच्छाओं का भी अन्त नही है। यदि धन-धान्य से परिपूर्ण यह समूची सृष्टि किसी एक व्यक्ति को दे दी जाय, तब भी उसे सन्तोष होने का नही है, क्योकि लोभी व्यक्ति की तृष्णा दुष्पूर होती है। अब प्रश्न हमारे सामने यह है कि लाभ और लोभ के परिणाम-स्वरूप उपार्जित किया हुआ धन क्या मानव को सुखी बनाने की सामर्थ्य रखता है? इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक है। सुख अर्जित धन में नही है। वह तो त्याग में है। जो व्यक्ति ममत्व बुद्धि का त्याग कर सकता है, वही परिग्रह का त्याग करने में समर्थ हो सकता है।[1] और उसके जीवन का सुरम्य प्रासाद अपरिग्रह के दिव्य प्रकाश से आलोकित हो उठता है। उसके अन्तर्मन में सुख-शान्ति की सरस-सरिता प्रवहमान हो जाती है।

□ □ □

१—जे ममाइअ मइं जहाइ, से जहाइ ममाइअं।

—आचाराग सूत्र २/६

अपरिग्रह–गाथा

मूल	अनुवाद
लाभुत्ति न मज्जिज्जा, अलाभुत्ति न सोइज्जा । बहुंपि लद्धुं न निहे, परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्किज्जा ॥ —आचारांग १/२/५	धन पाकर तुम गर्व करो मत, नहीं मिले, तो शोक न भारी । अधिक मिले, तो संचय मत कर, परिग्रह-वृत्ति नही सुखकारी । —बशीर अहमद 'मयूख'

□ □ □

जे पावकम्मेहि धणं मणुस्सा, समाययन्ती अमयं गहाय । पहाय ते पासपयट्टिये नरे, वेराणुबद्धा नरयं उवेन्ति ॥ —उत्तराध्ययन ४/२	जो जन अमृत समझकर धन का, पाप कर्म से संचय करते । छल-चोरी-मिथ्या–भाषण से, अपनी सिर्फ तिजोरी भरते । उनके पास उन्ही की बेड़ी, बन, समाज से वैर बढाते । धन रह जाता, पर वे जीवन, में ही नारकीय गति पाते ॥

□ □ □

वित्तेण ताणं ण लभे पमत्ते, इममि लोए अदुवा परत्था । दीवप्पणट्ठे व अणतमोहे, नेयाउय दट्ठुमदट्ठुमेव ॥ —उत्तराध्ययन ४/५	पाप-कर्म से धन-संचय कर, नर दुःखो से त्राण न पाता । किसी लोक मे भी पहुँचे, पर उसका पाप उसी को खाता । जैसे दीपक बुझ जाने पर, भवन अंधेरे में खोता है । वैसे नर विवेक को खोकर, नेत्र सहित अन्धा होता है । —डॉ. हरिराम आचार्य

□ □ □

२०

अपरिग्रह की अवधारणा

□ श्री कन्हैयालाल लोढ़ा

परिग्रह का अर्थ है "परि ग्रहणं परिग्रह" अर्थात् चारो ओर से ग्रहण करना परिग्रह है। ग्रहण उसे ही किया जाता है जो सुखद प्रतीत हो। यह नियम है कि जिसे जो वस्तु सुखद लगती है वह उसका भोग करना चाहता है। सुख भोगने के लिए वस्तु की आवश्यकता होती है, अतः भोगी व्यक्ति भोग्य पदार्थो का संग्रह करता है, सग्रह परिग्रह ही है। प्राणी सुखद वस्तु को अपनाना चाहता है, यह अपनापन, मेरापन का भाव अर्थात् ममता ही परिग्रह का मूल है, बीज है। जैसे बिना बीज के वृक्ष नही होता, वृक्ष मे बीज विद्यमान रहता है, उसी प्रकार विना ममता के परिग्रह नही होता। अत. जहाँ परिग्रह है वहाँ ममता है, जहाँ ममता है वहाँ परिग्रह है। भूमि-भवन. धन-धान्य, सोना-चादी, मुद्रा, पशु, खेत आदि द्रव्य, द्रव्य परिग्रह है। वृक्ष की तरह द्रव्य वाहर प्रकट होता है अतः उसे बाह्य परिग्रह भी कहते है और बीज के समान भाव भीतर अतर मे विद्यमान रहता है अत उसे आभ्यन्तर परिग्रह कहते है। वाह्य परिग्रह आभ्यन्तर परिग्रह का द्योतक है। प्रकटीकरण है, व्यक्त रूप है। अत जहाँ वाह्य परिग्रह है वहाँ आभ्यन्तर परिग्रह है। जैनागमो मे वाह्य परिग्रह में खेत, वस्तु, धन-धान्य, धातुएँ, द्विपद-चौपद, पशु-दास, दासी कहे गये है। पशु के सा[illegible] दास-दासी इसलिए कहे गए है कि आगम काल मे पशु के समान ही दास-[illegible] भी खरीदे-वेचे जाते थे। राजकुमारी चदनवाला, राजा हरिश्चन्द्र [illegible] तारा आदि के उदाहरण इसके साक्षी है। आभ्यन्तर परिग्रह में [illegible] कषाय-नोकषाय, राग-द्वेष कहे गये हैं। सक्षेप मे कहे तो [illegible] के जितने भी भेद-प्रभेद है, वे आभ्यन्तर परिग्रह हैं। जहाँ मोह है – [illegible] है— वही परिग्रह है।

आभ्यन्तर परिग्रह अर्थात् मूर्च्छाभाव, मोह [illegible] ही नही सकता। कोई भी वस्तु परिग्रह तव ही [illegible] अधिकार की, स्वामित्व की भावना जुडी हो। [illegible] है उस वस्तु को दूसरा कोई ले जाना चाहे [illegible] दुकान मे बैठे है या वाजार मे जा रहे है। [illegible] लगा है तो यह वस्तुओ का ढेर परिग्रह [illegible] नष्ट होने से या न होने से हमे [illegible]

वह हजारों-लाखों वस्तुओ का ढेर भी हमारे लिए परिग्रह नहीं है, परन्तु हम जिस सुई को अपनी मानते है और वह खो जावे या उसे कोई ले जाये और हमें अखरे तो वह परिग्रह है। सुख राग का और दु:ख द्वेष का द्योतक है। अत: जहाँ राग-द्वेष है वहाँ ही परिग्रह है। जिस वस्तु के न रहने पर दु:ख होता है अर्थात् जिस वस्तु को हम अपने पास बनाये रखना चाहते है, दूसरा ले जाना चाहे या ले जावे तो हम रोकते है, दु.खी होते है, वह परिग्रह है।

बाह्य परिग्रह हो और आभ्यन्तर परिग्रह न हो यह कभी भी सम्भव नही है। यदि यह सम्भव होता तो तीर्थंकर जैसे ज्ञानी घर बार का त्याग कर संयम ग्रहण न करते। कोई भी व्यक्ति बिना आसक्ति के भोग्य वस्तुओ का संग्रह कर नही सकता, रख नही सकता, कारण कि उस वस्तु की आवश्यकता लाखो व्यक्तियों को है और वे उसे लेने के लिए लालायित है। यदि उन्हें न रोका जाये तो अभी ले जाये। आवश्यकता अनुभव करने वाले उन लोगों को न ले जाने देना, उस वस्तु के प्रति राग होने का ही द्योतक है। जिसे जिस वस्तु का भोग नही करना है, वह उस वस्तु का न तो सग्रह करेगा और न किसी को उन वस्तुओं के ले जाने से रोकेगा। अत. सग्रह परिग्रह का ही दूसरा रूप है। सग्रह, परिग्रह, आग्रह समानार्थक ही है। वस्तु के सग्रह के समान अपनी बात या विचार मनवाने का आग्रह भी परिग्रह है। आग्रह मे भी आसक्ति, ममत्वभाव समाहित रहता ही है।

परिग्रह अर्थात् भोग्य पदार्थ का सम्बन्ध भोग से है। भोग-पाप है अत: परिग्रह भी पाप है। अठारह पापो मे परिग्रह पाँचवा पाप है। और इस पाप का वर्णन करते हुए भगवान् ने खेत-वस्तु, धन-धान्य आदि का परिग्रह के रूप मे नामोल्लेख स्पष्ट रूप से किया और इन वस्तुओ को स्वय ने त्यागा और दूसरो को भी त्यागने का उपदेश दिया। यह नही कहा कि वस्तुएँ तो भले ही रहें, इनकी आसक्ति त्याग दो। अत· यह कहना कि वस्तुएँ भले ही बनी रहे, उनकी आसक्ति त्याग दो—भगवान् की आज्ञा का उल्लघन है, परिग्रह का प्रकारान्तर से समर्थन है, धोखा है। कारण कि यह कभी सम्भव ही नही है कि कोई आसक्ति त्याग दे फिर भी भोग्य वस्तुओ का स्वामी बना रहे। स्वामित्व परिग्रह का ही द्योतक है। वस्तुओ के सग्रह या धन को प्रभु ने परिग्रह रूप पाप कहा है। कही पुण्य या धर्म नही कहा है। अत: पाप को पाप मानने में ही भला है। 'ठाणांग' मे नौ प्रकार का पुण्य कहा है। उसमे देने को ही पुण्य कहा है। वस्तु संग्रह करने को नही है। देना, लेना (संग्रह करना) से विपरीत है।

पुण्य है प्राप्त वस्तुओ का भोग न कर-दूसरो की सेवा मे उनका सदुपयोग करना। दूसरे शब्दो मे कहे तो उस वस्तु के भोग से बचना व दान के रूप मे उसका त्याग करना पुण्य है। सेवा मे महत्त्व वस्तु का नही, वस्तु के त्याग का

है। कोई व्यक्ति वस्तुएँ अल्प मात्रा में दे या अधिक मात्रा में दे, अल्प मूल्य की दे या अधिक मूल्य की दे, उसमे महत्त्व उसकी करुणा या त्याग भावना का है। किसी के दवाव से, बिना भावना के दिया गया दान, दान नही दंड है।

उदाहरण के लिए एक करोड़पति व्यक्ति ने एक हजार का दान दिया और एक व्यक्ति जिसे चार रोटी की भूख है और उसके पास दो रोटी है, उसमें से भी दूसरे भूखे व्यक्ति को एक रोटी दे दी तो यह अधिक उच्च स्तर का दान है। कारण कि करोडपति ने तो अपनी सम्पत्ति का दस हजारवां भाग अर्थात् १.०१०० प्रतिशत का त्याग किया और दूसरे व्यक्ति ने पचास प्रतिशत त्याग किया। अथवा किसी ने सैकडो व्यक्तियो को मिष्ठान्न खिलाया, परन्तु खीझते हुए, खिलाया और दूसरे ने रूखी-सूखी रोटी प्रेम से खिलाई तो खाने वाले को मिठाई तो जहर लगेगी और रोटी प्यारी लगेगी। तुलसीदासजी ने कहा भी है—

"आव नही, आदर नही, नही नैनन मे नेह।
तुलसी तहाँ न जाइये, कंचन बरसे मेह॥"

सम्पूर्ण परिग्रह की जड़ है मिथ्यात्व अर्थात् जो वस्तु जैसी नही है उसको वैसी मानना अथवा विवेक विरोधी मान्यता। विषय भोग जो दु:ख युक्त है, उन्हे सुखद मानना, पर से सुख चाहना, धन-धान्य आदि पर वस्तु के भोग की दासता को, पराधीनता को स्वाधीनता मानना, मिथ्यात्व है। यह नियम है कि जो व्यक्ति जिस वस्तु से सुख भोग करने लगता है वह वस्तु उसे सत्य और प्रिय लगने लगती है। सत्य लगने से वह यह भूल जाता है कि वस्तु नाशवान है और प्रिय लगने से उसके प्रति ममता हो जाती है। जिस वस्तु से ममता हो जाती है उस वस्तु को वह प्राप्त करना चाहता है. प्राप्त वस्तु को रखना चाहता है, रक्षा करना चाहता है, उसका संग्रह करना चाहता है। इस प्रकार विषय मे सुख है, इस भ्रान्त और मिथ्या मान्यता से ममताभाव, अपनत्व भाव उत्पन्न होता है, जो कामना और मूर्च्छा के रूप में प्रकट होता है। जो वस्तु अप्राप्य है उसकी चाह होना, उसके न मिलने पर दु:खी और मिलने पर हर्ष होना इच्छा, तृष्णा, कामना है। और जो वस्तु प्राप्त है उसकी रक्षा के लिए चिन्तित होना, उसकी हानि की आशंका से भय होना, उसे अपना जीवन मानना, उसका वियोग होने पर दु:खी रहना मूर्च्छा है।

कामना की पूर्ति के लिए उद्यम करना आरम्भ है और कामना पूर्ति से प्राप्त वस्तुओं के प्रति आसक्ति ही परिग्रह है। यह आरम्भ-परिग्रह ही समस्त दु:खो की जड है। नारकीय स्थिति पैदा करने वाला है। इसीलिए इसे नरक का कारण बताया है और आगम मे आरम्भ-परिग्रह के त्याग के लिए प्रतिदिन

भावना करने को श्रावक का प्रथम मनोरथ बताया है। परिग्रह का त्याग ही मुक्ति है। कहा भी है—

"कामानां हृदये वास: संसार इति कीर्तित।
तेषा सर्वात्मा नाशो मोक्ष उक्तो मनीषिभि: ।।"

अर्थात् मनीषिगण कहते है कि हृदय मे कामनाओं की वासना ही संसार अर्थात् जन्म-मरण है। समस्त कामनाओ का नाश ही मोक्ष है। आशय यह हुआ कि ममता या परिग्रह का पूर्ण त्याग ही मुक्ति है।

अब जानना यह है कि इच्छा उत्पन्न क्यों होती है ? कहना होगा कि 'सुख कामना पूर्ति में है' इस मान्यता से कामना उत्पन्न होती है। पूर्व जीवन के संस्कार के कारण जैसे-जैसे अवस्था बढती जाती है वैसे-वैसे जगत् के पदार्थों का अधिक परिचय होता जाता है। जिन-जिन पदार्थों का परिचय होता जाता है उन-उन पदार्थों से सुख पाने की इच्छा की भी वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार अवस्था के बढ़ने के साथ-साथ ही कामना की वृद्धि होती जाती है। कामना की वृद्धि के साथ-साथ ही जिन पदार्थों से कामना की पूर्ति होती है उन पदार्थों के संग्रह की इच्छा प्रबल होती जाती है। उस इच्छा की पूर्ति पदार्थों के सग्रह से की जाती है।

प्राचीन काल मे जब विज्ञान का विकास नही हुआ था तब वस्तुओ की सख्याएँ सीमित थी। व्यक्ति सीमित वस्तुओ से परिचित था इसलिए उसकी सग्रह या परिग्रह वृत्ति भी सीमित थी परन्तु जैसे ही वैज्ञानिक युग आया, विज्ञान के आविष्कारो के द्वारा वस्तुओ की सख्या बढती गई वैसे ही उन पदार्थों की प्राप्ति और सग्रह की लालसा भी बढती गई। परन्तु वस्तुओ की सख्या वर्तमान में इतनी अधिक बढ गई कि इन सब वस्तुओ का क्रय करना जन साधारण के लिए सम्भव नही। इच्छा का उत्पन्न हो जाना परन्तु उसकी पूर्ति के न होने से अभाव का अनुभव होता है। वस्तु के नही होने से अभाव अनुभव नही होता है। जैसे कोई व्यक्ति शराब नही पीता तो उसे शराब की इच्छा नही होती और इच्छा न होने के कारण उसके पास शराब न होने पर भी शराब का अभाव नही अनुभव होता। अभाव का अनुभव तभी होता है जब इच्छा उत्पन्न हो और उसकी पूर्ति न हो।

आज जन-साधारण रेडियो, टेलीविजन, विडियो, सिनेमा, साइकिल, स्कूटर, कार, बस आदि साधनो एव अनेक प्रकार की खान-पान की चीजो का भोग करता है जो पुराने जमाने मे अशोक-अकबर जैसे बड़े-बड़े सम्राटो को भी प्राप्त नही थी। इतनी भोग की सामग्री होते हुए भी आज का मानव पहले

से अधिक अभाव से ग्रसित है। इसका कारण है भोग्य वस्तुओ से उसका परिचय। आगे भी जैसे-जैसे विज्ञान का विकास होता जायेगा, विज्ञान के द्वारा अगणित प्रकार की भोग्य वस्तुएँ उपलब्ध होती जायेगी, वैसे-वैसे इच्छाओ की वृद्धि होती जायेगी, और उनको क्रय करने मे असमर्थता से कामना पूर्ति न होने के कारण अभाव की वृद्धि होती जायेगी। अभाव का होना ही दु ख है। अत· दु ख की वृद्धि होती जायेगी। इस प्रकार विज्ञान के द्वारा प्रदत्त सामग्री मानव के लिए दु ख का कारण वनती जायेगी। कारण कि प्राप्त वस्तु से जो सुख मिलता है, वह तो क्षण मात्र से अधिक रहता नही है और अप्राप्त की कामना प्राप्त होती जाती है जिसका अत नही है, इसीलिए कहा जाता है—"इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया।"

अर्थात् इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त है। और जितनी इच्छाएँ है उतना ही अभाव है। इसीलिए अभाव भी अनन्त है। अभाव का होना ही दुःख है। इसलिए दु.ख भी अनन्त है।

जैसे परिग्रह दो प्रकार का है वाह्य और आभ्यन्तर, वैसे ही मनुष्य के पास दो प्रकार की सम्पत्ति होती है—स्थूल और सूक्ष्म अथवा भौतिक और आध्यात्मिक। वाह्य वस्तुओ का सग्रह भौतिक सम्पत्ति है और हृदय की शुद्धता आतरिक या आध्यात्मिक सम्पत्ति है। क्षमा, निर्लोभता, सरलता, मृदुता, विनम्रता, कोमलता, उदारता, धैर्य, सयम आदि सद्गुण आध्यात्मिक सम्पत्ति है। जैसे स्थूल या भौतिक सम्पत्ति घटती-वढती रहती है उसी प्रकार आध्यात्मिक सम्पत्ति भी घटती-वढती रहती है। जैसे भौतिक सम्पत्ति के अपव्यय से, अभाव से, कमी होने से मनुष्य कठिनाई मे पडता है वैसे ही आध्यात्मिक सम्पत्ति-हृदय की शुद्धता के अभाव से, सद्गुणों की कमी से, मनुष्य दु.खी होता है। विकास की दृष्टि से विचार किया जाय तो आध्यात्मिक सम्पत्ति ही महत्त्व की वस्तु है। धन या भौतिक सम्पत्ति के परिग्रह से जो सुख मिलता है वह सुख स्थायी हो, ऐसा नही होता। वह सुख क्षणिक होता है। भोग्य वस्तु के रहते हुए भी उस सुख मे प्रतिक्षण क्षीणता आती ही है और अत मे वह नीरसता मे वदलता ही है। परन्तु हृदय की पवित्रता से, सद्गुणों रूप आध्यात्मिक सम्पत्ति से जो सुख मिलता है, वह स्थायी होता है, उसमे क्षीणता नही आती, उसका अत नीरसता में नही होता। यह नई कामना को जन्म नहीं देता, अतः अभाव एव अशाति रहित होता है। इसकी प्राप्ति मे अपने से भिन्न किसी वस्तु, व्यक्ति की अपेक्षा नही होती है अत. स्वाधीन होता है। जवकि भोग का सुख पूर्णत. भोग्य पदार्थ पर निर्भर होता है। पराधीन होता है। भौतिक या भोग के सुख को Pleasure और आध्यात्मिक सद्गुण के सुख को Happiness कह सकते है। भौतिक सुख के पहले व अंत में दु ख होना ही है। भौतिक सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पडता है। यही नही, भौतिक सुख भोगते समय भी पराधीनता,

उत्तेजना, आकुलता, अशांति रूप दु:ख साथ लगा रहता ही है। अत: भौतिक सुख दु.ख ही है।

मानव जितने भी प्रयत्न करता है, वे सब सुखी होने के लिए करता है। साधारणत: होता यह है कि सुखी होने के इन प्रयत्नो मे हम उचित-अनुचित प्रवृत्ति का, कामो का, कर्तव्य का ध्यान नही रखकर धन-सग्रह करने के पीछे पड़े रहते है और यह भूल जाते है कि सच्चा व स्थायी सुख हृदय की पवित्रता रूप सद्गुणो से मिल सकता है, भौतिक वस्तु से नही। यही कारण है कि आज धनी भी दु:खी है और निर्धन भी दु.खी है।

जैसे-जैसे मनुष्य का विकास होता जाता है उसे भोग मे दु ख और त्याग मे सुख अनुभव होता जाता है। अत: वह भोग छोड़ता जाता है, त्याग करता जाता है। भोग का पूर्ण त्यागी अर्थात् संयमी ही पूर्ण सुखी होता है। सयम ही सुख का हेतु है। अत: मानव जाति के सुख व विकास के लिए भोग की अपेक्षा त्याग, स्वार्थपरता की अपेक्षा सेवा भाव, सकीर्णता की अपेक्षा विशालता-विभुता ही आवश्यक है।

परिग्रह-त्याग का स्वरूप

जैन दर्शन मे परिग्रह-भोग व भोग्य पदार्थ के त्याग को चारित्र कहा है। यह नियम है कि सम्यक् चारित्र, सम्यक् दर्शन के बिना नही हो सकता। साधना के क्षेत्र मे अर्थात् सच्चे सुख की प्राप्ति में सम्यक् चारित्र का ही महत्त्व है, मिथ्या चारित्र का नही! जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ ही मिथ्या चारित्र है। मिथ्यात्व है विषय भोग जो संसार भ्रमण का मार्ग है उसे मोक्ष का मार्ग समझना। आशय यह है कि भोग को सुख मानना व इसे दु ख से मुक्ति पाने का उपाय समझना मिथ्यात्व है। भोग बिना भोग्य पदार्थो के सम्भव नही है, अत भोग और भोग्य पदार्थ (परिग्रह) मे अटूट सम्बन्ध है। अत. परिग्रह मे सुख मानना, परिग्रह को भला, हितकारी, कल्याणकारी, समझना मिथ्यात्व है। परिग्रह को दु.खद समझना, दु.खद होने से त्याज्य समझना, त्याग मे ही अपना भला, हित व कल्याण समझना सम्यक्त्व है। त्याग मे ही मुक्ति है। परिग्रह ही वन्धन है कारण कि परिग्रह भोग का द्योतक है। जहाँ भोग है वहाँ वन्धन है। भोग की इच्छा व भोग ही विकार है। रोग है। मलेरिया, ज्वर, कैंसर आदि शारीरिक रोग, वाह्य रोग है। जैसे ज्वर है शरीर के तापमान का वढना और उसका कारण है मच्छर का विष आदि। ज्वर में तापमान की वृद्धि होना ज्वर का वाह्य लक्षण है और मच्छरो के काटने का विप आतरिक कारण है, वास्तविक कारण है। ज्वर का तापमान आंतरिक विप का द्योतक है। इसी प्रकार भोग रूपी रोग का धन-धान्य का सग्रह रूप परिग्रह वाह्य लक्षण है और

मिथ्यात्व, कषाय, नो कषाय रूप आभ्यन्तर परिग्रह आंतरिक कारण है। सम्यक्त्वी पुरुष भोग को रोग मानता है अतः वह बाह्य व आभ्यन्तर इन दोनो परिग्रहों को त्याज्य मानता है। जैसे कोई भी शारीरिक रोगी–ज्वर ग्रस्त व्यक्ति रोग के ज्वर को बढाना नही चाहता, घटाना चाहता है इसी प्रकार ज्ञानी जो परिग्रह को रोग-विकार-दोष समझता है वह उसे घटाने में ही अपना कल्याण मानता है। अतः वह प्रथम तो परिग्रह का पूर्ण त्याग कर सयमी बनना चाहता है परन्तु किसी कमजोरी से पूर्ण त्याग नहीं कर सकता है तो कम-से-कम अभी जितना परिग्रह है उसे बढाना तो नही चाहता—इसीलिए परिग्रह परिमाण व्रत धारण करता है। और परिमाण को सतत घटाने का प्रयास करता है बढाने का नही। यही परिग्रह परिमाण व्रत का स्वरूप है। परन्तु जो परिग्रह परिमाण को ग्रहण करते समय वर्तमान परिग्रह से अधिक परिग्रह रखना चाहता है तो यह मानसिक तनाव को सीमित रखने वाला होने से अच्छी बात तो है परन्तु सच्चे त्याग की कमी का द्योतक है। सम्यक्त्वी मनुष्य तो विद्यमान परिग्रह रूपी रोग को घटाने का ही प्रयत्न करता है, वढ़ाने का नही। कारण कि कौन ऐसा रोगी होगा जो रोग बढाने का प्रयत्न करना चाहेगा ? कोई भी नही। अतः जो परिग्रह वढ़ाने को आवश्यक, सुखद व अच्छा समझता है तो कहना होगा कि उसने परिग्रह को दु खद, त्याज्य समझा ही नही और जिसने परिग्रह को त्याज्य न समझा वह सम्यक्त्वी नही है। सम्यक्त्व रहित परिग्रह की कमी का साधना के क्षेत्र मे महत्त्व नहीं है। कारण कि ऐसा परिग्रह का अभाव तो भिखारी, पशु व वृक्ष के भी देखा जाता है परन्तु उनको अपरिग्रही नहीं कहा जाता, कारण उनका अपरिग्रही होना अपरिग्रहाभास है। जिसका साधना से या आत्म-कल्याण से कोई सम्बन्ध नही है। आशय यह है कि जीवन में महत्त्व विवेकपूर्वक परिग्रह त्याग का है, परिग्रह के अभाव का नही। अभाव और त्याग मे वहुत अंतर है। जहाँ अभाव है, वहाँ अशांति है, दुःख है, जहाँ त्याग है, वहाँ शाति है, अक्षय सुख है।

निर्धनता और अपरिग्रह में अन्तर

वस्तुओं के सग्रह या असग्रह से निर्धनता व अपरिग्रह का सम्बन्ध नही है। वस्तुओ का संग्रह तो वृक्ष, पशु-पक्षियो के भी नही है परन्तु इसके कारण उन्हें न तो निर्धन ही कहा जा सकता है और न अपरिग्रही ही। निर्धन तो इसलिए नही कहा जा सकता है कि उन्हे धन की चाह नही है। चाह न होने से अभाव का अनुभव नही है। अभाव का अनुभव होना ही निर्धनता है, दरिद्रता है। तथा इन्हे अपरिग्रही इसलिए नही कहा जा सकता कि इन्होने विवेक से परिग्रह मे पराधीनता का अनुभव कर त्याग नही किया है। इसी प्रकार साधु व केवलज्ञानी के प्रात काल मे सायकाल के भोजन का प्रबन्ध न होने जैसी निर्धनता की गरीवी की स्थिति होने पर भी उन्हे निर्धन, दरिद्री या भिखमगा

नही कहा जाता है यद्यपि वे भीख (भिक्षा) से ही जीवनयापन करते है कारण कि इन्हे भोजन के मिलने न मिलने का हर्ष शोक, सुख-दु.ख, भय-प्रलोभन नही है। इन्हें दरिद्री न कहकर असीम पुण्यशाली कहा जाता है कारण कि साधु के परिग्रह का त्याग होने से अभाव या पराधीनता का दु:ख नही है। यदि अभाव होता तो अभाव का दु.ख होता। और केवली को तो लाभान्तराय का पूर्ण क्षय होने से अनन्त लाभ, अनन्त ऐश्वर्य—सम्पन्न कहा गया है। वस्तुत: दरिद्री वह है जहाँ दरिद्रता है। दरिद्रता वहाँ है जहाँ कामना या चाह है। चाह या कामना मे ही कमी का अनुभव होता है। जिसके कमी है वही कमीना है, वही दरिद्र है। अपरिग्रही वह है जहाँ कामना-चाह का त्याग है अर्थात् जो सग्रह या परिग्रह मे सुख का अनुभव नही करता।

बाह्य रूप से दरिद्रता और अपरिग्रह इन दोनो मे संग्रह का अभाव है। अत बाह्य दृष्टि से दोनो एक लगते है परन्तु आभ्यन्तर रूप से व परिणाम मे महान् अन्तर है। दरिद्र के पास वस्तु या धन होने पर भी उसके दिल मे वस्तु या धन का मूल्य, धन का महत्त्व, धन की अभिलाषा, धन की रुचि रहती है। वह वस्तुओ का भोगी होता है जबकि अपरिग्रही चारो ओर वस्तुओ से घिरा होने पर भी, उनसे जल-कमलवत अलिप्त रहता है। उसकी दृष्टि मे वस्तु का मूल्य, महत्त्व, अभिलाषा, रुचि आदि कुछ नही होता है। दरिद्र भोगी होता है, अपरिग्रही योगी। दरिद्रता की देन है द्वन्द्वता और अपरिग्रह की देन है निर्द्वन्द्वता, निश्चिन्तता। दरिद्रता अभाव की द्योतक है, अपरिग्रहता पूर्णता की। दरिद्रता पराधीन बनाती है और अपरिग्रह स्वाधीन। दरिद्रता—कमी, अभाव किसी को भी अभीष्ट नही है फिर भी कुछ न कुछ कमी प्रत्येक परिस्थिति मे बनी रहती है। और न चाहते हुए भी आ जाती है। कोई भी व्यक्ति उस कमी को दूर करने मे समर्थ व स्वाधीन नही है, परन्तु अपरिग्रही होने मे सब समर्थ और स्वाधीन है। यद्यपि दरिद्रता और अपरिग्रह दोनो ही मे वस्तुओ का अभाव है परन्तु अन्तर यह है कि दरिद्रता मे वस्तु न होने पर भी वस्तु से सम्बन्ध बना रहता है जैसे दरिद्री सड़क पर बसेरा डाले होने पर भी मकान के स्वप्न देखता रहता है, मकान से सम्बन्ध बनाये रखता है और अपरिग्रह मे वस्तु तो बनी रहती है पर उससे सम्बन्ध नही रहता है अर्थात् साधु भव्य भवन मे ठहरने पर भी उस भवन से सम्बन्ध नही जोडता है। वस्तुत वस्तु का सम्बन्ध ही बन्धन है, दु.ख है, कारण कि इससे ही विषय-कषाय आदि दोषों की तथा अभाव, पराधीनता, सघर्ष आदि दु.खो की उत्पत्ति होती है। दरिद्रता मे वस्तु का अभाव होता है और अपरिग्रह मे वस्तु के सम्बन्ध का अभाव या नाश होता है। वस्तु न हो या न रहे और उसका सम्बन्ध बना रहे और वस्तु रहे पर उसका सम्बन्ध न रहे, इन दोनो के परिणाम मे बड़ा अन्तर है। सम्बन्ध बना रहे और वस्तु न रहे तो उसकी आसक्ति व्यक्ति को अशाति, पराधीनता, अभाव

आदि दुःखो से आक्रांत कर देती है तथा सम्वन्ध नही रहा और वस्तु वनी रही तो वह व्यक्ति को कुछ भी हानि नही पहुँचा सकती। कोई कैसा भी उच्च कोटि का साधक हो शरीर, भूमि, पर्यावरण आदि वस्तु तो वहाँ वनी ही रहेगी। इस दृष्टि से किसी वस्तु का होना या न होना साधना मे हेतु नही है। प्रत्युत वस्तुओ का सम्वन्ध विच्छेद होना अपरिग्रह है। यही अपरिग्रह पराधीनता के दु.ख से मुक्ति देकर स्वाधीन अक्षय अखड सुख देने वाला है, ऐश्वर्य-सम्पन्नता प्रदान करने वाला है।

समस्त वस्तुओं से सर्वथा सम्वन्ध विच्छेद हो जाने पर वर्तमान में ही साधक वीतराग होकर चिर शान्ति, पूर्ण मुक्ति (स्वाधीनता) अक्षय-अव्यावाव-अनन्त सुख को प्राप्त कर सकता है।

वर्तमान काल में अधिकाश लोगों का ऐसा विचार है कि धन या श्रीमताई से सुख होता है फलतः प्रत्येक व्यक्ति जिस किसी भी उपाय से श्रीमत वनने के लिए प्रयत्नशील है परन्तु 'श्रीमत लोग सुखी होते ही है' उनकी यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। वस्तुतः सुख किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति की उपलब्धि पर निर्भर नही है प्रत्युत उस वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति का हम कैसा उपयोग करते है अथवा उसका हमारे मन पर क्या प्रभाव पडता है, इस पर निर्भर है। स्वादिष्ट मिष्ठान्न उपलब्ध हो जाने पर भी भोजन का आनन्द मिल जाय, यह आवश्यक नही है। स्वादिष्ट भोजन होने पर भी भूख न हो, आमाशय मे पाचन-शक्ति न हो, मधुमेह जैसा रोग हो, तो भोजन का आनन्द नही मिल सकता, सुख का अनुभव नही हो सकता। ऐसे कितने ही श्रीमंत देखने मे आते है कि जिन्हें सव प्रकार स्वादिष्ट भोजन उपलब्ध है फिर भी लूखी रोटी ही खानी पड़ती है। दूसरी ओर ऐसे भी श्रमिक देखे जाते है जो उपलब्ध भोजन का आनन्द लेते है। मधुर सगीत हो परन्तु कान बहरे हों, सुन्दर चित्र या प्राकृतिक दृश्य हो पर नयन दृष्टिहीन हों तो सगीत के माधुर्य का और चित्र-दृश्य के सौंदर्य का आनन्द नही आ सकता।

जिस प्रकार श्रवण कान का और दर्शन नयन का विषय है, इसी प्रकार सच्चा सुख हृदय का विषय है। पवित्र हृदय के विना मनुष्य सच्चे सुख का अनुभव नही कर सकता। सच्चे सुख के अभाव के कारण ही मनुष्य सुख की खोज मे रात-दिन गोता खाता रहता है, चक्कर काटता रहता है, एक वस्तु या परिस्थिति को छोडकर दूसरी वस्तु या परिस्थिति की ओर दौडता रहता है। मन की चंचलता का यही कारण है।

जब व्यक्ति इस रहस्य को समझ लेता है कि सुख की उपलब्धि वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति पर निर्भर न होकर हृदय की पवित्रता, शुद्धता पर निर्भर

है तब उसका ध्यान वस्तु, परिस्थिति आदि परिग्रह से हटकर अर्थात् वाह्य से हटकर अत·करण की ओर जाता है। फिर वह हृदय की शुद्धि के लिए तत्पर होता है।

परिग्रह की वृद्धि और हृदय की शुद्धि इन दोनो का साथ सम्भव नही है। जहाँ परिग्रह है वहाँ परमात्मा नही, जहाँ काम है वहाँ राम नही, जहाँ राम है, वहाँ काम नही, यह सत्य है। अत: स्वर्ग के सुख का, अपवर्ग के आनन्द प्राप्ति का उपाय परिग्रह रहित होना ही है। स्वर्ग या देवलोक में भी जो देवता जितना उच्च स्तर का है उतनी ही उसके इन्द्रिय भोग की सामग्री कम है, वह कम भोगी है। इससे सिद्ध होता है कि सयम मे ही स्वर्ग का व अपवर्ग का सुख निहित है। हृदय की अपवित्रता या असयम ही नारकीय दु ख का कारण है। परिग्रह भोग वृत्ति या असयम का ही द्योतक है। इसीलिए जैनागम मे महा परिग्रह को नरक का कारण बताया है जो उचित ही है। कोई परिग्रह धारी भी रहे और मुक्ति तथा स्वर्ग के श्रेष्ठ सुख भी पाना चाहे यह कदापि सम्भव नही है।

परिग्रह की पूर्ति असम्भव

हम आकाश को देखते है तो ऐसा लगता है कि चारो ओर कुछ ही दूरी पर आकाश और धरती मिले हुये है। इसे क्षितिज कहते है। विषय सुख इसी क्षितिज के समान है। जिस प्रकार क्षितिज मे धरती और आकाश मिले हुए दिखाई देते है और ऐसा लगता है कि कुछ दूर चलने से क्षितिज के स्थान पर पहु ँच कर धरती और आकाश के मिलन को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है परन्तु जैसे ही व्यक्ति क्षितिज पर पहु ँचने की आशा से उस ओर चलता है तो जितना वह आगे बढता जाता है क्षितिज भी उतना ही आगे बढता जाता है। और कोई भी व्यक्ति निरतर एक जीवन की तो क्या कहे अनन्त जीवन तक चलकर भी क्षितिज पर नही पहु ँच सकता। उसकी और क्षितिज की दूरी ज्यो की त्यो बनी रहती है। उसमे रंच मात्र भी कमी नही होती। सच तो यह है कि क्षितिज प्रतीत ही होता है। वास्तव मे उसका स्वतत्र अस्तित्व होता ही नही है। उसका अस्तित्व धोखा है। यदि क्षितिज का अस्तित्व है तो उस जगह पर भी है जहाँ पर स्वयं क्षितिज देखने वाला वह व्यक्ति खड़ा है। आशय यह है कि यदि क्षितिज है तो सब जगह है अथवा कही नही है।

इसी प्रकार विपय-सुख की पूर्णता की प्राप्ति के लिए वस्तुओ का सग्रह या परिग्रह का सचय कर कृतार्थ हो जाने की आशा करना अपने आपको धोखा देना है। जैसे-जैसे विपय मुख का भोगी व्यक्ति पूर्ण सुखी होने के लिए सुख की कमी को दूर करने के लिए परिग्रह की एक सीमा का लक्ष्य निर्धारण करता है और उस सीमा या लक्ष्य तक पहुँचने के लिए वस्तुओ का सग्रह करता जाता

है वैसे ही वैसे वह लक्ष्य या सीमा आगे बढते जाते हैं और लक्ष्य व उसके बीच की दूरी में रंच मात्र भी कमी नही होती। वह दूरी ज्यों की त्यों बनी रहती है। सुख की पूर्णता के लिए एक जन्म तो क्या, अनन्त जन्म तक भी कोई कितना ही संग्रह करे, परिग्रह बढ़ावे, पूर्ण सुख की उपलब्धि कभी हो नही सकती। कारण कि उस स्थिति की प्रतीति ही होती है, वास्तव में उसकी स्वतत्र सत्ता व स्थिति नही है क्योकि सत्ता, स्थिति या परिस्थिति कोई भी कैसी भी क्यो न हो, उसमें कमी बनी ही रहती है। वह कमी कभी पूर्ण हो ही नही सकती। इस दृष्टि से सग्रह या परिग्रहजनित सभी स्थितियाँ या परिस्थितियाँ एक ही समान है। उनमे कोई अन्तर नही है। उनमें जो अन्तर दिखाई देता है वह वैसा ही है जैसा कि एक बटे दो मे और एक लाख बटे दो लाख में है। कारण कि कोई भी कितनी ही परिग्रह की वृद्धि करे, किसी भी परिस्थिति का निर्माण करे, उसमे नीरसता, पराधीनता, अभाव, जडता, आयेगी ही। यह उसकी देन होगी ही। इस प्राकृतिक विधान को कोई मिटा नही सकता।

आकाश का अंत पाने के लिए क्षितिज तक पहुँचने तक कोई कितना भी प्रयत्न करे, नही पहुँच सकता अर्थात् आकाश का अंत नही पा सकता। आकाश अनन्त है। इसी प्रकार परिग्रह की प्राप्ति से कामनाओ की पूर्ण पूर्ति कर उसका अन्त करना कभी भी सम्भव नही है। जो असम्भव है उसे सम्भव करने का प्रयास भूल है, धोखा है, अपने समय, शक्ति व श्रम को व्यर्थ खोना है।

मूल्यांकन दृष्टि का अन्तर

'पर' का ग्रहण ही परिग्रह है। 'पर' वह है जो सदा साथ न रहे, जिसका वियोग हो जावे। जो अनित्य है 'पर' है। उसको अपना मानना भूल है, धोखा है, मिथ्यात्व है। 'पर' के आधार पर अपना मूल्यांकन करना भूल है। इस दृष्टि मे धन, बल, विद्या, वस्तुएँ आदि की न्यूनाधिकता के आधार पर अपने व दूसरे के महत्त्व का मूल्यांकन करना, उससे हीन-महान् समझना, छोटा-बडा मानना 'पर' से मूल्याकन करना है। धन की कमी से अपने को हीन व छोटा समझना, धन की अधिकता से अपने को बडा मानना अपना मूल्य खोना है। फिर मूल्य धन का ही हुआ अपना नही, जड का ही हुआ चेतन का नही। जड़ को मूल्यवान मानना, चेतन को मूल्यहीन मानना, धन को जीवन मानना है जो घोर मिथ्यात्व है। जीवन चेतन का लक्षण है। अत. धन को जीवन मानना जड़ या अजीव मे जीवन बुद्धि होना है, अजीव को जीव मानना है जो मिथ्यात्व है। सम्यक्त्वी वह है जो ज्ञान-दर्शन आदि चेतना के गुण के विकास के आधार पर चेतना के विकास का मूल्यांकन करता है।

परिग्रही और अपरिग्रही मे मूल्य की दृष्टि का ही अन्तर है। परिग्रही वस्तुओ से, अपरिग्रही त्याग से अपना मूल्याकन करता है। परिग्रही धन मे, जड से, पर से, विनाशी वस्तुओं की वृद्धि से अपना मूल्याकन करता है। अपरिग्रही ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि गुणो की वृद्धि से अपना मूल्याकन करता है। मूल्य के इस परिवर्तन मे ही जीवन की सार्थकता है।

जो भीतर से रीता है, वह उस रिक्तता को दूर करने के लिए वाहर से अपने को भरने की कोशिश करता है। परन्तु वाहर की वस्तुएँ स्थूल है। वे भीतर के सूक्ष्म स्तर के क्षेत्र मे प्रवेश कर नही सकती। इसीलिए वह जितना-जितना अपने को वाहरी वस्तुओ के संग्रह से भरने की कोशिश करता है, उतना-उतना बहिर्मुखी होता जाता है। जो जितना वहिर्मुखी है वह भीतर से उतना ही दूर है अर्थात् उसके भीतर मे रिक्तता ज्यो की त्यो बनी रहती है। ये वस्तुएँ उस रिक्तता पर आवरण-आवेष्टन का काम करती है। इस कारण परिग्रही व्यक्ति पर उस रिक्तता का प्रभाव भी नही पडता अर्थात् वह वाहर मे इतना उलझा रहता है कि भीतरी रिक्तता का, नीरसता का वह अनुभव ही नही कर पाता है और वह रीता का रीता रहता हुआ शरीर छोड़ देता है। वाहर से धनाढ्य कहला कर भी भीतर से दरिद्र-अभावग्रस्त रहता हुआ वह अपना पूरा जीवन खो देता है। जो जीवन रिक्तता को सदा के लिए विदा कर देने के लिए मिला था वह जीवन या अवसर चूक जाता है। यह अपने ही द्वारा अपना घोर विनाश करता है।

तात्पर्य यह है कि परिग्रह के भोग से परलोक में, नरक मे दु.ख मिलता है, परिग्रह के त्याग से परलोक मे स्वर्ग मे सुख मिलता है, कोई ऐसा माने या न माने इसमे कोई अन्तर नही पडता। कारण कि वर्तमान जीवन मे परिग्रह के कारण पराधीनता, नीरसता, अभाव, तनाव, जडता, दबाव, द्वन्द्व, संघर्ष आदि दु:ख प्रत्यक्ष भोगने पडते है और परिग्रह-त्याग से स्वाधीनता, मुक्ति, शांति, शक्ति, सामर्थ्य, ऐश्वर्य, सुख साक्षात् प्रकट होते है। अत: सम्पूर्ण दु:खो से मुक्ति और सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए हम सबको परिग्रह का त्याग करना ही होगा। यदि हम अपनी कमजोरी से परिग्रह का पूर्ण त्याग न कर सके तो दु:ख-वृद्धि से ही मुक्त होने के लिए हमे परिग्रह-परिमाण-व्रत-धारण करना ही चाहिए।

□ □ □

२१

अपरिग्रह : स्व की अनुभूति

□ डॉ. भीकमचन्द प्रजापति

मानव जीवन की वडी महिमा है, कारण कि केवल इसी जीवन में व्यक्ति चिता, दुःख, भय, निराशा, अभाव, तनाव आदि से सदा-सदा के लिए मुक्त होकर शांति, मुक्ति, भक्ति से अभिन्न होकर यह अनुभव कर सकता है कि उसने पाने योग्य सव कुछ पा लिया है, जानने योग्य सब कुछ जान लिया है और करने योग्य सव कुछ कर लिया है।

जीवन का एक क्रम है—जन्मना—प्रति क्षण वदलना और अंत में मर जाना। व्यक्ति का जन्म होता है, एक अवस्था तक शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का विकास होता है और इसके वाद इन शक्तियो का ह्रास आरभ हो जाता है और शरीर की अतिम गति है—मृत्यु। इस प्राकृतिक क्रम को वदलने में मानव सर्वथा पराधीन है। कोई, किसी भी उपाय से इस क्रम में परिवर्तन करने में समर्थ नही है।

वही मानव धन्य है, उसी का मानव जीवन सफल है जो प्राकृतिक शक्तियों के रहते-रहते, शरीर के नाश होने के पहले-पहले दुःख, चिता, भय आदि से सर्वाश में मुक्त होकर अखण्ड आनन्द से अभिन्न हो जाय। ऐसा अनुभव करले कि मै शरीर नही हूँ, शरीर मेरा नही है, शरीर मुझे मिला है, और मृत्यु के समय यह अनुभूति करके असीम आनन्द से भर जाय कि मैं नहीं मर रहा हूँ, शरीर मर रहा है। मैं तो अमर आत्मा हूँ, सत, चित्, आनन्द हूं, अविनाशी हूँ, उदारता, स्वाधीनता और प्रेम ही मेरा स्वरूप है। इस चिंतन के साथ शरीर सानंद प्रकृति को भेट करदे और स्वयं निजानंद में लीन हो जाय।

मानव मात्र ऐसा कर सकता है। आज कर सकता है, अभी कर सकता है, इसी क्षण कर सकता है। इसके लिये किसी भी विशेष वल, बुद्धि, शक्ति, योग्यता, प्रयास, अभ्यास, परिश्रम, पराश्रय, अप्राप्त सामग्री आदि की किंचित् मात्र भी आवश्यकता नहीं है। जो जिस परिस्थिति में जहां जैसे है, वह उसी परिस्थिति मे वही वैसे ही ऐसी स्थिति को प्राप्त कर सकता है। मानव मात्र इसका जन्मजात अधिकारी है, चाहे वह किसी भी देश, जाति, धर्म, सम्प्रदाय मत, मतान्तर, विचारधारा, पंथ अदि का क्यो न हो।

इसकी प्राप्ति का आधारभूत उपाय है–अपरिग्रह । सच्चे और वास्तविक अपरिग्रही बने । भयभीत मत होइये, चौंकिये नही, आश्चर्य मत कीजिये । मानव मात्र सच्चा अपरिग्रही बन सकता है । इसमे किचित् मात्र भी बाधा नही है। सब कुछ रखते हुए भी आप अपरिग्रही बन सकते है और सब का त्याग करके भी आप परिग्रही रह सकते है । आइये, विचार करे कि अपरिग्रह का वास्तविक आशय क्या है ?

स्थूल अर्थ मे अपरिग्रह का तात्पर्य होता है—सग्रह न करना, कल का प्रबन्ध आज न करना । विचार कीजिये, क्या हम घर-परिवार मे रहने वाले, व्यवसाय, नौकरी करने वाले, वर्तमान परिस्थितियों मे ऐसे अपरिग्रही बन सकते है ? कदापि नही । ऐसा करने पर हमारा सुख, सम्मान पूर्वक समाज मे रहना कठिन हो सकता है । इसलिये घरबारी व्यक्ति अपरिग्रह की साधना को कल्पना मात्र मानकर छोड देता है । पर बात ऐसी नही है ।

अपरिग्रह का वास्तविक अर्थ है—"अपने लिये 'पर' की आवश्यकता न रहना ।" 'पर' की जरूरत, 'पर' की चाह न रहना । 'पर' मे ममता, लगाव, प्रियता, सुख की आशा, खिचाव, आकर्षण का न रहना ही वास्तव मे अपरिग्रह है । जिसको 'पर' की जितनी ज्यादा जरूरत अनुभव होती है—ऐसा महसूस होता है कि 'पर' के बिना मेरा काम कैसे चलेगा, वह उतना ही बडा परिग्रही है, चाहे उसने स्वरूपत. सबका त्याग कर दिया हो । जिसको अपने लिये 'पर' की किचित् भी आवश्यकता नही रहती, वही वास्तव मे सच्चा अपरिग्रही है, चाहे स्वरूपतः उसने वस्तुओ व व्यक्तियो का त्याग किया है अथवा नही । 'पर' का त्याग, अर्थात् 'पर' मे ममता व 'पर' की कामना का त्याग ही सच्चा अपरिग्रह है और इसी का नाम है "जीवन-मुक्ति", "परम स्वाधीनता" शरीर के रहते-रहते जो अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता के भय से मुक्त हो जाता है, वही 'जीवनमुक्त' है । 'जीवनमुक्त' ही वास्तव मे कर्तव्यपरायण, सच्चा सेवक, सुधारक, नेता बनकर परिवार, समाज, देश, ससार व प्राणी मात्र के लिये उपयोगी बन सकता है ।

'पर' कौन है ? जो जन्मदाता है' बदलता है और अत मे मर जाता है, उसी का नाम 'पर' है । 'पर' की सूची (List) मे हम क्रम से निम्न को शामिल कर सकते है—सबसे पहले अपना शरीर, फिर अपना परिवार, अपनी सपत्ति, समाज, ससार, सम्पूर्ण सजीव प्राणी, जड जगत आदि । सावधान, यदि मुझे मेरे लिये मिले हुए शरीर की भी जरूरत अनुभव होती है कि अभी शरीर रहना चाहिये, मै अभी मरू नही, तो मै परिग्रही हूँ, पराधीन हूँ, बधा हूँ । यदि मै पराधीन हूँ तो सदैव दु ख, चिता, भय आदि से पीडित व ग्रसित ही रहूँगा, चाहे मेरी बाह्य स्थिति कैसी भी क्यो न हो, चाहे मै कितना ही बलवान, धनवान, गुणवान, कुलवान, विद्वान्, पडित, सम्मानित क्यो न हू । कहा है—

"पराधीन सपनेहुँ सुख नांही"

'पर' के त्याग का तात्पर्य 'पर' को स्वरूप से छोड़ना नही है (कहीं भी जायेंगे तो शरीर तो साथ ही रहेगा, तो कैसे छोड़ पायेंगे), 'पर' से संघर्ष करना भी नहीं है, 'पर' से ईर्ष्या-द्वेष करना भी नही है, 'पर' को कहीं छोड़ना व फेंकना भी नही है। 'पर' के त्याग का तात्पर्य 'पर' को नष्ट करना भी नही है (व्यक्ति 'पर' का न तो निर्माण कर सकता है और न उसे नष्ट ही कर सकता है)। 'पर' के त्याग का सच्चा व वास्तविक तात्पर्य यह है कि—

(i) 'पर' मेरा नही है।

(ii) 'पर' से मुझे कुछ नही चाहिये—न अभी चाहिये, न कभी चाहिये।

वास्तव में गंभीर चितन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि 'पर' मेरा नही है क्योकि इसे मैने नही वनाया, यह मेरे नियन्त्रण मे भी नहीं रहता, इसका मालिक मै नही हूँ। चाहे कोई भी हो, पर मै नही हूँ। 'पर' से मुझे कुछ नही चाहिये। 'पर' की आवश्यकता केवल शरीर को है, 'पर' की पहुंच व सीमा केवल शरीर तक है। 'शरीर' स्वयं 'पर' है। मै शरीर नहीं हूँ, शरीर मुझे मिला है। मै इसे यथासंभव सभाल कर रखूंगा, इसकी सेवा करूंगा। अन्य जो भी 'पर' (शरीर व सम्मान) मुझे मिला है—उनकी भी मैं सेवा करूंगा, उनका सदुपयोग करूंगा। वस, यही मेरा दायित्व है 'पर' के प्रति। 'पर' के प्रति अपने दायित्व को सावधानी पूर्वक पूरा करने से 'पर' से सम्वन्ध (ममता व कामना) टूट जाता है, 'स्व' की अनुभूति हो जाती है, मानव वास्तविक रूप में अपरिग्रही वन कर शाति व मुक्ति को पा लेता है।

'पर' मेरा नही है, 'पर' से मुझे कुछ नही चाहिये, जीवन के इस सत्य को ईमानदारी से स्वीकार करना ही अपरिग्रही वनना है। वास्तव में मुझे जो कुछ भी चाहिये, वह इस मिले हुए शरीर को चाहिये। विचार कीजिये, शरीर को अलग करके क्या आपको रोटी, कपड़ा, मकान, सुख, सुविधा, पति, पत्नी, पुत्र, सम्वन्धी, मान-सम्मान आदि चाहिये? ये सव शरीर को चाहिये, मुझे नही। जैसे ही मानव इस सत्य को स्वीकार करता है, वैसे ही वह अपरिग्रही वन जाता है। फिर चाहे वह हिमालय में रहे अथवा महल में, व्यवसाय करे अथवा नौकरी, संन्यासी वेष मे रहे अथवा गृहस्थी वेष मे आदि आदि। इन वाह्य चीजों से कोई विशेष अतर नही पड़ता।

सत्य की स्वीकृति मे मानव मात्र सर्वथा स्वाधीन है, क्योंकि इसमें किसी भी प्रकार की क्रिया, अभ्यास, वल, बुद्धि, योग्यता, परिश्रम आदि की आवश्यकता नही होती है। स्वीकृति मे समय भी नही लगता। दूसरे से मकान खरीदते खरीदार तुरन्त स्वीकार कर लेता है कि अब यह मकान मेरा है, विक्रेत

मान लेता है कि यह मकान मेरा नही है । सत्तर-पचहत्तर वर्षो से उस मकान मे रहने वाला वह विक्रेता यह नही कह सकता है कि विक्रय के वाद कई माह तक उसे यह अभ्यास करना होगा कि मै मकान को अपना न मानूं । तुरन्त ही मान लेता है कि मेरा नहीं है । शादी होते ही पति स्त्री को अपनी पत्नी और पत्नी पुरुष को अपना पति स्वीकार कर लेती है और यह सम्वन्ध जीवन पर्यन्त चलता है । स्पष्ट है कि स्वीकृति या मान्यता, समय, श्रम व अभ्यास साध्य नही है। इसीलिये हम सव अपरिग्रही बन सकते है ।

'पर' में ममता व 'पर' की कामना का त्याग करके मानव अपरिग्रही वन गया, इसकी कसौटी क्या है ? कही धोखा न हो जाय। वात सूक्ष्म है–मार्ग दुर्गम है। इसलिये हमे सावधान व सजग रहना होगा। जव व्यक्ति सच्चे रूप मे अपरिग्रही बन जाता है, तब 'पर' से उसका सम्वन्ध टूट जाता है । फिर उसके जीवन मे दुःख, चिता, भय, पीड़ा, निराशा, अभाव, तनाव आदि का लेशमात्र अंश भी नही रहता । वह सर्वाश मे बुराई रहित हो जाता है । उसके जीवन मे न दीनता रहती है, न अभिमान । वह शांति पूर्वक सव के प्रति स्वयं, समाज, देश, विश्व, जड़ जगत आदि, सवके प्रति अपने कर्तव्य का ठीक-ठीक पालन करता है । उसका कर्तव्य पालन सेवा बन जाता है । उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति लोक-हितार्थ होकर पूजा बन जाती है । प्रवृत्ति के अत में उसे सहज निवृत्ति प्राप्त हो जाती है । निवृत्ति काल में वह निजानद मे मस्त रहता है और प्रवृत्ति काल मे सेवा का आनन्द लेता है । यही वास्तव मे सच्चा जीवन है ।

अपरिग्रह की साधना व्यक्ति के कल्याण व सुन्दर समाज के निर्माण मे हेतु है ।

एक संत की अनुभूत वाणी मे अपरिग्रह के भावो की झलक यो मिलती है—

१. जिसे कुछ भी चाहिये, वह सेवा व प्रेम कर ही नही सकता ।

२. जिसे कुछ भी चाहिये, उसे कुछ मिलता है और कुछ नहीं मिलता है ।

३. जिसे कुछ नही चाहिये, उसे सव कुछ मिलता है ।

□ □ □

२२

अपरिग्रह : ममत्व-विसर्जन की कला

☐ डॉ. नेमीचन्द जैन

जैन शास्त्रों में परिग्रह को बहुत गहराई मे (इन-डेप्थ) परिभाषित किया गया है। मूर्च्छा को परिग्रह कहा गया है (मूर्च्छा परिग्रह—तत्त्वार्थसूत्र, ७/१७)। मूर्च्छा क्या है ? मूर्च्छा नि:सज्ञ/बेहोश होने की संज्ञा है; किन्तु यहा मूर्च्छा का अर्थ और अधिक गहरा गया है। मूर्च्छा यहा होश मे बेहोशी की सज्ञा है। हम जान रहे है कि 'यह ऐसा, वह वैसा है' फिर भी नही जान रहे है कि 'यह ऐसा और वह वैसा है'। जब प्राणी में 'सम्बन्ध-तत्त्व' अत्यन्त सूक्ष्म होकर पैठ जाता है, तब वह मूर्च्छा की शक्ल ग्रहण कर लेता है।

मूर्च्छा कोई स्थूल वस्तु नही है। वह एक गहन/महीन अनुभूति है। इन्द्रिय विषयों के प्रति जब हमारे मन में गहरे कही राग-द्वेष जमते-जागते है, तब वे ही मूर्च्छा में रूपान्तरित हो जाते है। हम जब वस्तु को अपना/इतना अपना मानने लगते है कि उसकी अपनी स्वतंत्रता आच्छादित/अपहृत होने लगती है (वैसा होना सम्भव नही है; मात्र आभास हो सकता है; क्योकि यह असम्भव ही है कि कोई वस्तु अन्य किसी वस्तु की निजता को ढंके या उसका अपहरण करे); तब हम उसे जो मम नही मम मानने लगते है। यह ममत्व क्रमश: इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि हम उस वस्तु को लेकर अत्यन्त आसक्त हो जाते है और उससे अपने इष्ट-अनिष्ट/मगल-अमगल को जोड लेते है। उसके सयोग मे सुख और वियोग में दु:ख मानने लगते है।

भाषा की दृष्टि से जब हम 'परिग्रह' शब्द की व्याख्या करते है तब हमें कई नये तथ्य हाथ लगते है। 'परिग्रह' शब्द 'ग्रह' धातु मे 'परि' उपसर्ग तथा 'अप्' प्रत्यय के योग से बना है, जिसका अर्थ है 'पकड, गिरफ्त, लिप्तता, अरेस्ट (अग्रेजी)'। जब हम किसी वस्तु की मजबूत गिरफ्त मे होते है, उसकी अनुरक्ति के नाग-पाश मे होते है, तब वह स्थिति मूर्च्छा की स्थिति है। परिग्रह मे वस्तु हमे नही पकडती हम वस्तु को पकडते है। वस्तु की पकड सम्बन्ध-तत्त्व के कारण इतनी सूक्ष्म और चुम्बकीय होती है कि उससे तुरन्त बच पाना सम्भव नही होता।

अग्रेजी मे एक शब्द है 'अटेचमेट', जिसके मायने है आसक्त होना, अनुरक्त होना, लिप्त होना, फँसना। परिग्रह का सरोकार इस अटेचमेट से ही है। हम

भ्रमवश यह मानने लगते है अपनी निजता को विसार कर कि अमुक वस्तु मेरी है। यदि वह नही होगी तो हम नही होंगे; कुछ गजव हो जाएगा कदाचित् प्रलय उसके वियोग में। परिग्रह वस्तुत: वस्तु मे स्वय को गहरे डाल देने का नाम है इतने गहरे कि पृथक् करना कठिन प्रतीत होने लगे। उत्पीड़ित, असल में, वे ही लोग होते है जो 'अटेच्ड' या लिप्त होते है; जो 'डिटेच्ड' या अनासक्त होते है उनके दु:खी होने का कोई सवाल ही नही है।

इस दृष्टि से हम एक छोटा-सा उदाहरण लेते है। मान लीजिये कोई एक्सीडेट होता है। आप उसकी खवर किसी अखवार मे पढ़ते है। तुरन्त पता लगाते है कि हताहतों मे आपका कोई सम्वन्धी तो नही है। जव आपको पता लगता है कि उनमे ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था तो आप राहत की सास लेते है और बड़े तटस्थ चित्त से अपने काम मे लग जाते है; किन्तु जैसे ही कोई सूचित करता है कि आपने जो कुछ जाना वह गलत था वस्तुत: आपकी बहिन उसमे गम्भीर रूप से घायल हुई है तब आप सिर से पैर तक काप उठते है और भाग-दौड़ शुरू कर देते है। प्रश्न सम्बन्ध का है; स्थितियो से नि.संग होने पर आपके मन मे कोई विकल्प उठेगा ही नही। अपरिग्रह इसी सम्वन्ध-तत्त्व से जूझने की प्रक्रिया है।

दूसरा दृष्टान्त लीजिये। आपकी एक कलम है, जिसे आप लगातार काम मे ले रहे है। एक तरह से वह आपकी जीवन सगिनी बन गयी है। अचानक वह गुम जाती है। आप छटपटाने लगते है और कहने लगते है कि यदि वह नही मिलेगी तो आपका सारा लेखन अस्त-व्यस्त हो जाएगा। आप उस कलम से 'अटेच्ड' है। आपने कलम से स्वयं को बाँध लिया है इतना गहरे कि अब आप उसके वियोग को सह नही पा रहे है। यह मूर्च्छा है। वस्तुत: परिग्रह एक अनुभूति है—अधे मोह की प्रगाढ अनुभूति। जो हमारा अपना नही है, जिसके निमित्त मृत्यु के क्षणो मे शून्य हो जाना होगा उसे ही जब हम अपना/बहुत अपना/अत्यन्त अभिन्न मानने लगते है तब एक आध्यात्मिक सकट का सूत्रपात होता है। यह सकट मूलत· मानसिक ही होता है; किन्तु उपलक्षणों मे कायिक दीख पड़ता है। असम्भव ही है यह कि तन पर मन का असर न पडे। वह तो होगा ही। मन तन को और तन मन को परस्पर प्रभावित करते ही है। यह सनातन चक्र है।

जरूरी नही है कि परिग्रह कोई स्थूल वस्तु ही हो। वह अमूर्त भी हो सकता है। यहां अमूर्त से तात्पर्य भाववाचकता से है। इसे तव हम अतरग परिग्रह कहते है। परिग्रह जो आँखो के सामने खड़ा है वाह्य है और जो भीतर टागें पसारे है वह अतरग है।

वाह्य परिग्रह मे धन-दौलत, पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी, रथ-वग्घी, खेत-

खलिहान, बाग-बगीचे, महल-मकान, दोस्त-यार आदि आते है; जिन्हें हम इतना अपना मानने लगते है कि उनके समृद्ध होने मे अपना सुख मानते है और विपन्न होने में दुःख। ये तमाम बाह्य परिग्रह है अर्थात् ये ऐसे चुम्बक है जो हमारी निजता को बाहर की ओर खीचते है और ऐसा कोई मौका नहीं देते कि हम सोच पायें कि 'हम क्या है' और 'ये क्या है'; अर्थात् जो वस्तु-स्वरूप पर काला पर्दा डाले रहता है वह परिग्रह है।

वस्तु का स्वरूप क्या है? वह कैसी है? उसकी निजता क्या है? क्या वह जैसा हम मान रहे है वैसी है या उसका अपना भी कोई अस्तित्व-व्यक्तित्व है? ये सारे ऐसे सवाल हैं जो परिग्रह के निरूपण से जुडे हुए है। इन्हे जाने बिना हम परिग्रह के स्वरूप को ठीक-ठीक समझ नही पायेंगे; और जब हम किसी वस्तु को उसकी निजता मे समझ नही पायेंगे तब हम उसमे मूर्च्छित हो जाएँगे। मूर्च्छा का सब से बडा कारण मिथ्यात्व है। सम्यक्त्व मूर्च्छा के निवारण का, उसे बाहर निकाल फेंकने का सर्वोत्तम उपाय है।

अज्ञान या भ्रांति के कारण ही बहुत-सी विपदाएँ खडी होती हैं, इसलिए परिग्रह की तीव्रता को कम करने के लिए सबमे पहला कदम है सम्यक्बोध अर्थात् वास्तविकता की तलाश और प्रतीति। हम ढूँढे कि हमारा निज-का क्या है और ऐसा क्या है? जो हमारा निज-का नही है? बहुत ईमानदारी से इस बात पर विचार करे कि ऐसी कौन-सी वस्तुएँ है, जो हमारी हैं और ऐसी कौन-सी वस्तुएँ है जो हमारी नही है?

एक कसौटी है। हम जानते है कि मृत्यु अटल है। संसार का कोई ऐसा प्राणी नहीं है, कोई ऐसी वस्तु नही है, जो अमर हो। मरण अनिवार्य है। मूल बदले, न बदले; किन्तु मूल की तात्कालिक अभिव्यक्ति में हेरफेर अवश्य होने वाला है। मृत्यु यदि है तो वह कैसी है? क्या स्वरूप है उसका? मरणशील क्या है और अ-मरणशील क्या है? ऐसा क्या है जो मृत्यु के बाद भी साथ जाएगा? और ऐसा क्या है जो मौत के बाद यही छूट जाएगा? क्या यह सब जो सम्पदा/सम्बन्धो के रूप मे दिखाई पड रहा है; साथ जाएगा/साथ गया है/साथ जा सकता है? वह क्या है जो देहान्त के क्षणो मे सब कुछ शून्य/व्यर्थ कर देता है? ऐसा क्यो है कि जिन्हे/जिसे हम निपट अपना मान रहे होते है, उसे हमे एकबारगी छोड देना होता है? जिस देह को देह से सम्बन्धितो को, उसके रग-रूप को हम लगभग अमरणशील मान रहे थे, वह सब जहा-का-तहा/ज्यों-का-त्यो क्यो पडा रह जाता है—साथ क्यो नही जाता? 'क्यो नही जाता?' इसके विश्लेषण मे निरूपण गर्भित है मूर्च्छा का जिसका अपर नाम है परिग्रह। निष्कर्ष यो बनता है कि हम वस्तुओं के मालिक बनें किन्तु अलिप्त। माने कि ये है, किन्तु मेरी नही है। यह मान लेना कि इनके होने, न होने से मेरे सुख-

दु:ख जुड़े है, निपट मृगमरीचिका है। असल मे मृत्यु के स्वरूप को ठीक से समझकर ही हम मूर्च्छा के स्वरूप को समझ सकते है।

ऊपर हम बाह्य परिग्रह की बात कर आये है; किन्तु अभी तक हमने अंतरग परिग्रह पर विचार नही किया है। अतरंग मूर्च्छा बाह्य मूर्च्छा की तुलना मे अधिक सूक्ष्म और घातक होती है। क्रोध; मान, माया और लोभ अंतरंग परिग्रह हैं। हम क्रोध करते है, क्यो करते है? हम मान करते है, क्यों करते है? हम माया बटोरते है, क्यो बटोरते है? हम 'एक' के सग्रह के बाद 'अनेक' की ओर क्यों दौडते है; क्यो करना चाहते है ज्यादा-से-ज्यादा संचय? हमारे भीतर जो आग धधक रही है और जिसकी आँच से हम लगातार जल-झुलस रहे है किन्तु सोच रहे हैं कि उससे हमारा कुछ भी नही बिगड रहा है; क्या यह ऐसा सम्भव है? नही है। ये जो क्रोध, मान, माया और लोभ की असख्य ज्वालामुखियाँ हमारे भीतर पल-प्रतिपल लावा उगल रही है, वे ही मूर्च्छाएँ है जो हमे निरन्तर डसती हैं और हमें चिरन्तन आनन्द की प्राप्ति से वचित रखती है। इन ज्वालामुखियो का शमन ही परिग्रह का परिहार है।

क्रोध क्या है? जब हम किसी वस्तु को पाने मे निष्फल हो जाते है और वह किसी अन्य को प्राप्त हो जाती है तो हमारे मन मे एक डाह/एक झुंझलाहट/ एक झल्लाहट पैदा होती है। क्रोध ऐसी झल्लाहटो के समूह का एक उदार शीर्षक है। क्रोध इष्ट-अनिष्ट/चाहे-अनचाहे के संयोग-वियोग की तीव्रताओ के मुताबिक किस्म-किस्म का होता है। उसका एक भेद नही है, नाना है। क्रोध आता ही तब है जब हम सम्यक्त्व से विचलित होते है। क्रोध, मान, माया, लोभ-जनित भ्रान्तियों मे से उत्पन्न होता है। जब हम खुद को 'जैसे है' उससे अधिक मानकर दूसरो को छोटा या हीन मानने लगते है और हर जगह अपने 'मै' को आरोपित करते है, तब उसमे से अँगड़ाई लेता है अहकार। अहकार एक मिथ्या मनोदशा है। वह मूलत: अज्ञानजनित है। तमाम कषायें अज्ञानजनित हैं। जब हम सम्यग्बोध के द्वारा वस्तुओ को उनके परमार्थ में जानने लगते है, तब परिग्रह अपना बिस्तर-बोरिया बाधने लगता है। मनोविकार आभ्यन्तरिक परिग्रह है तथा उनसे सम्बन्धित बाह्य वस्तुएँ और अवस्थाएँ बाह्य परिग्रह है। समझे कि वस्तुओ मे अंधा और प्रगाढ ममत्व मूर्च्छा है।

इस मूर्च्छा से मोर्चा लेना आसान नही है। इसे क्रमश. कतरना होता है। यह इतनी स्निग्ध होती है कि इस पर से हमारी पकड सहसा फिसल जाती है। चित्त की अँगुलियाँ इसे गिरफ्त मे लेते-लेते अचानक रिपस जाती है। इसे हम मानसिक काई कह सकते हैं, जिस पर मन-के-पाँव हरचन्द कोशिश पर भी टिक नही पाते। यह उस खल्वाट पुरुष की भाति है, जिसकी खोपड़ी पर हमारी पकड़ (यत्नशील होने पर भी) मुश्किल होती है।

मूर्च्छा एक तरह की मिथ्या वाछा है, जो लगभग मृगमरीचिका की तरह ही होती है। हमें लगता है कि उसका कोई सिरा है, किन्तु होता इसके विपरीत है; वह अन्तहीन होती है। उसे लेकर वार-वार होता है कि 'यह रहा अन्त, यह आया छोर, यह रहा तट, किन्तु न कोई अन्त आता है, न छोर, न तट। क्रोध, मान, माया और लोभ की फितरत ही कुछ ऐसी है कि वे जितने अधिक जिये या किये जाते है, उतने ही वढते है।

क्रोध का कोई अन्त नही है। क्रोध में से सदैव क्षतियाँ ही वाहर आती है खुद की, दूसरों की। यह असम्भव ही है कि कोई क्रोध करे और अन्दर-वाहर से अविघटित/अक्षत/अचूक वना रहे। अविचलित/अक्षत वनाये रखने वाली तो क्षमा ही हो सकती है, जो हममे है, किन्तु हम नही जानते कि वह हममे है। अक्सर ऐसा होता है कि हम अपने घर की दौलत नही जानते और वाहर के ककर-पत्थर वीनते फिरते है।

इसी तरह मान से व्यक्ति कभी सम्पूर्ण नही वन सकता। मान सिर्फ भ्रम है : यह कि 'मै वडा हूँ', यह कि 'वह छोटा है'। असल मे कही कोई छोटा-वड़ा नही है। सव समान है। समत्व ही मान के निराकरण का कोई अमोघ उपाय है। जिसकी आख मे समत्व प्रतिष्ठित है, अपरिग्रह भीतर का/बाहर का उसे मिला ही समझिये।

माया के इन्द्रजाल से भला कौन बच सकता है? वह प्रतिपल अपने चँगुल मे फाँसे रहती है। कवीर कहते है : 'माया वहु ठगिनी हम जानी। तिरगुन फाँस लिये कर डोले, बोले मधुरी वानी ॥' माया की बात ही निराली है; बोलती वह मीठी है किन्तु जब उसका दंश रोम-रोम मे व्यापता होता है तब प्राणी सिहर उठता है। माया की व्याप्ति असीम है, और उसके लुभावने आवरण असख्य हैं।

लोभ माया का वेटा है। वह कभी शान्त नही बैठता, कभी सतुष्ट नही होता। उसकी प्यास अन्तहीन है। तृष्णा उसका अपर नाम है। तृष्णा कभी नही मरती, आदमी मरता है; इसलिए अपरिग्रह एक ऐसा महायुद्ध है जो इन चारो के खिलाफ है। ये चारो अतरग परिग्रह है यानी भीतर से प्राणी को अपनी गिरफ्त मे कसे हुए है। बाहर जो भी दिखाई पडता है, वह इन्ही की आकृति है। सब जानते है : जो भीतर होता है, वही बाहर चाही-अनचाही शक्ल ग्रहण करता है। हम यदि खोजेगे तो पायेगे कि जो हमे बाहर दीख पडता है उसका सूक्ष्म अकुर पहले भीतर बनता है और फिर बाहर आकर वह अमर-वेल की तरह हमारे जीवन के आनन्द को चूसने लगता है। वस्तुतः जो भीतर

की निष्पक्ष/अनासक्त समीक्षा करता है, वह बाहर के फैलाव को आसानी से समझ सकता है।

आखिर क्या समाधान है इस परिग्रह का, जो जड़ है तमाम रोगो की? एक ही मार्ग है। हम मानें कि 'यह हमारा नही है'। हमारे लिए यह साधन-मात्र है जिसका हमे बडे अननुरक्त/अनासक्त भाव से—दूसरो के लिए छोडते हुए—उपयोग करना है। छोड़ना है उन लोगो के लिए जिन्हे इसके पाने का उतना ही हक है जितना हमें है। क्या हम संग्रह की भावना को वाला-ए-ताक रखकर वस्तुओ का उपयोग नहीं कर सकते? क्या हम 'पेट समाता लेय' वाली सूक्ति पर ध्यान नही दे सकते? क्या हमारा ध्यान गाँधीजी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त की ओर नही जा सकता? इस तरह कुछ कि यह सब मेरा कहां है? मै तो मात्र इसकी देखभाल के लिए नियुक्त हूँ। जितनी आवश्यकता मेरी बनती है, इसमे से मुझे उतना ही लेना है; शेष का मालिक तो यह समाज है, यह जगत् है।

अपरिग्रह 'ट्रस्टीशिप' का पर्याय शब्द है। हम माने कि जो हमारे इर्दगिर्द है वह सब अमानत है। हमे इसका अनासक्त उपभोग करना है। समर्पण और त्याग की भावना से किया गया उपभोग अधिकृत है और अपरिग्रह की परिधि मे आता है। उपभोग इस तरह कुछ कि अपनी अनिवार्यता भी सरे और दूसरो को कोई कष्ट या क्षति न पहुँचे। अपरिग्रह मे प्रथम शर्त अहिसा है; यह कि हम ले किन्तु इस तरह कि किसी का जी न दुखे, किसी को क्लेश न हो। सबको सुख-शान्ति सुलभ हो और हम भी आत्मोन्नयन के मार्ग मे बने रहें, उसे दूसरों के लिए प्रशस्त करे—इस भावना से जो भी किया जाएगा/किया जाता है, वह सब अपरिग्रह है।

परिग्रह-गृद्धि

मक्खि सिलिम्मे पडिओ, मुवइ जहा तह परिग्गहे पडिउं।
लोही मूढ़ो खवणो, कायकिलेसेसु अण्णाणी ।।

—रयणसार

जैसे श्लेष्म मे लिपटी हुई मक्खी तत्काल ही मर जाती है, उसी प्रकार परिग्रह मे आसक्त, लोभी, मूढ और अज्ञानी कायक्लेश को ही प्राप्त होता है।

२३ अंतरंग-बहिरंग परिग्रह के भेद

☐ श्री फूलचन्द मेहता

अनादि काल से जीव अज्ञान-राग-द्वेष-मोह आदि वैभाविक भावो के कारण कर्मो से वद्ध है। जीव और कर्म का सम्वन्ध प्रवाह रूप से है। जीव के रागद्वेष, मोह रूप विकारी-विपरीत भावो से कर्म का वन्धन और इन कर्मो के उदय के फलस्वरूप जीव पुनः रागद्वेप, मोह आदि विकारी भावो मे परिणत होता आ रहा है। यह शृ खला अनादि से जीव को कर्मो से वद्ध, फिर कर्मो के उदय से जन्म-मरण रूप चतुर्गतियो मे भ्रमण, जहाँ त्रिविध आधि-व्याधि-उपाधि मय ताप से भयकर दुःख हो रहा है। कर्मों से ही देह धारण, देह से सवधित, कुटुम्व परिवार, धन-वैभव-पद आदि से जीव वद्ध-अवद्ध अवस्थाओ से गुजर रहा है। आज तक कही भी कर्म रहित जीव हुआ नही, इसलिए शरीर धारण करता आ रहा है।

जीव एक चैतन्य द्रव्य है, उपयोग इसका मुख्य लक्षण है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, सुख, वीर्य आदि जीव के विशेष लक्षण है। अनादि से जीव चैतन्य स्वरूप ही है, कर्मो के व देह सग रहता हुआ भी जीव कभी भी जड़ या पुद्गल नही वना और न ही कर्म या देह कभी जीव वने। कर्म व देह दोनो पौद्गलिक है। अनन्त पुद्गल परमाणुओ का पिण्ड रूप स्कध ही एक कर्म है और यह देह है चाहे वह एकेन्द्रिय की हो, वेइन्द्रिय की हो, तेइन्द्रिय की हो, चउरिन्द्रिय की हो अथवा पचेन्द्रिय प्राणी की हो। मन, वचन व काया तीनो ही देह रूप है। देह के मुख्य अग है। जीव त्रिकाली पदार्थ है। अमूर्तिक है, नित्य-परिणामी है, अजर-अमर-अविनाशी है, असख्यात प्रदेशी है, अनन्त गुण पर्यायो का पिण्ड है, अपने आपमे परिपूर्ण अभेद्य, अखण्ड, एक स्वतन्त्र चैतन्य द्रव्य है, जिसका कभी भी विनाश अथवा जन्म नही होता, जो कभी भी अन्य द्रव्य रूप परिणत नही होता, सदाकाल ज्ञाता दृष्टा स्वभाव से युक्त है। **जबकि कर्म या देह** पुद्गल स्वरूप है, जडरूप से परिणमन करता है। वर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द इसके मुख्य लक्षण है, सड़न-गलन-विध्वशन रूप है।

लोक मे जीव के साथ कर्मो का संवध और कर्म के फलस्वरूप देह का सवध तथा देहाश्रित माता-पिता, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब एव इनसे सवधित धन, वैभव, सम्पत्ति आदि का सवध सयोग सवध कहलाता है। चूँकि इनका वियोग

सुनिश्चित है। अतः इसे ही परिग्रह की संज्ञा दी है। इसके विपरीत मात्र आत्मा जो कर्म से, देहादि से सर्व वाह्य सवधो से रहित है, वही अपरिग्रही है।

गहराई से चितन करने पर यह स्पष्ट अनुभव मे आता है कि न कर्म, न देह, न कुटुम्ब, न धन-वैभव आदि परिग्रह है वल्कि इनसे सबंधित होना, इनमे आसक्त होना, इनमे ममत्व करना, अहमत्व करना ही परिग्रह है। 'तत्त्वार्थ सूत्र' में कहा है—मूर्च्छा परिग्रहः अथवा "अध्यात्मविदो मूर्च्छा परिग्रह वर्णयन्ति" अर्थात् वास्तव में मूर्च्छा ही परिग्रह है। यह मूर्च्छा आसक्ति-ममत्व-अहमत्व-राग-स्नेह ही परिग्रह है। यह भी निश्चित है कि यह मूर्च्छा-आसक्ति आदि किन्ही वाह्य पदार्थो पर ही होगी, इसलिए कर्म, देह, कुटुम्ब, धन, वैभव आदि इस मूल परिग्रह के हेतु हो सकते है। मूल मे तो जीव का राग, द्वेप, मोह, अज्ञान रूप भाव ही परिग्रह है। इन वैभाविक भावो से रहित होने पर अपरिग्रही हो सकता है, चाहे देह भी हो। श्रीमद् राजचन्द्र जी के शब्दो मे—'देह छतां जेनी दशा वर्ते देहातीत', देह के रहते भी अपरिग्रही अवस्था सभव है, फिर न कही लगाव है, न मूर्च्छा ही है, न कोई चाह है न कोई अपेक्षा है, और न कोई किसी से संवध है।

जीवात्मा भेद ज्ञान सहित अर्थात् जीवाजीव का, स्व-पर का, बन्ध-मोक्ष का यथार्थ निर्णय कर अशत. अथवा पूर्णत. बाह्य सम्बन्धो से, सयोगी पदार्थो से मुक्त हो जाता है अर्थात् द्रव्य से व भाव से बाह्य से जितने अंशो मे लगाव कम हो जाता है, उतना-उतना ही अपरिग्रह भाव प्रगट होता जाता है। अशतः भाव व द्रव्य से श्रावक अपरिग्रही होता है और पूर्णत. तीन करण, तीन योग से सर्वथा प्रकार से पदार्थो से सबध भी व लगाव भी छूट जाता है जो अप्रमत्त धर्म ध्यान में स्थित हो जाता है। जिसे कभी भी किसी से कोई अपेक्षा नही, चाह नहीं, ममत्व नही, मूर्च्छा तो किंचित् भी नही, वही सच्चे माने में अपरिग्रह का स्वरूप ज्ञानी के होता है। मात्र उसकी साधना अपने ही निज गुण-ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म की आराधना मे लीन होने की ही होती है। प्राणी मात्र के प्रति मैत्री भाव उदित हो जाता है। वैसे ज्ञानी की साधना मे देह, वस्त्र, पात्र, रजोहरण भी हो तो भी उनमे किंचित् भी स्नेह राग नही। उनसे भी हटकर अन्तरमुख मात्र शुद्ध चैतन्य स्वभाव में रमण करता है। श्रीमद् देवचन्द्र जी ने कहा है—

"स्वस्वरूप एकत्वता, साधे पूर्णानन्द हो मित्त।
रमे भोगवे आतमा, रत्नत्रयी गुण वृन्द हो मित्त॥"

परिग्रह के भेद

अंतरग भाव परिग्रह को कहते है जबकि वाह्य सयोगी पदार्थो का संवध बहिरंग परिग्रह कहलाता है। बहिरग परिग्रह अतरग परिग्रह का निमित्त है।

अंतरंग परिग्रह

इसके मुख्य रूप से चौदह भेद हैं—

१. मिथ्यात्व :

सद्देव, सद्‌गुरु व सद्धर्म का यथार्थ स्वरूप न जानने से कुदेवादि का श्रद्धान मिथ्यात्व है। जीव-अजीव आदि तत्त्वो का सम्यक् स्वरूप न जानकर उनमे अन्यथा, विपरीत श्रद्धा करना मिथ्यात्व है। बन्धन व मोक्ष के स्वरूप को, इनके कारणो को यथार्थ न समझ कर विपरीत मान्यता करना मिथ्यात्व है।

स्व-पर का अथवा जड़ चैतन्य का यथार्थ स्वरूप न जानकर विपरीत श्रद्धान करना मिथ्यात्व है।

मूल में स्व के प्रति वेभान रहना ही मिथ्यात्व है। अतः यह सभी आश्रव के कारणो मे प्रथम व अनत ससार बढ़ाने का कारण है। यही मुख्य परिग्रह है।

२. क्रोध :

यह एक मानसिक किन्तु सवेग की उत्तेजनात्मक अवस्था है। इसकी निम्न अवस्थाएँ हैं :

कोप—क्रोध से उत्पन्न स्वभाव की चचलता।
रोष—क्रोधादि का परिस्फुट रूप।
दोष—स्वय पर या 'पर' पर दोष थोपना।
अक्षमा—अपराध को क्षमा न करना—उग्रता।
सज्वलन—बार-बार जलना, तिलमिलाना।
कलह—जोर-जोर से बोलकर अनुचित भाषण करना।
चाण्डिक्य—रौद्र रूप धारण करना।
भडन—पीटने, मारने पर उतारू हो जाना।
विवाद—आक्षेपात्मक भाषण करना।

क्रोध के आवेश मे आक्रमण या आक्रमण की तैयारी होती है। मान या अहंकार की रक्षार्थ क्रोध का जन्म होता है। यह एक क्षणिक उफान है। मूल मे चैतन्य स्वभाव से अरुचि ही क्रोध है। क्रोध से मन मे, तन मे कपकपी छूट जाती है। उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है।

३. मान :

अहकार, अभिमान. अहं, घमण्ड ये मान के पर्यायवाची है। इसकी निम्न अवस्थाएँ हैं—

मान—अपने किसी गुण पर झूठी अहंवृत्ति ।
मद - अहंभाव मे तन्मयता ।
दर्प—उत्तेजनापूर्ण अहभाव ।
स्तम्भ अविनम्रता ।
गर्व—अहकार ।
अत्युत्क्रोश—अपने को दूसरो से श्रेष्ठ कहना ।
परपरिवाद—दूसरों की निन्दा ।
उत्कर्ष – अपना ऐश्वर्य प्रकट करना ।
अपकर्ष—दूसरों की हीनता प्रकट करना ।
उन्नत - दूसरो को तुच्छ समझना ।
उन्नतनाम – गुणी के सामने भी न झुकना ।
दुर्नाम—यथोचित रूप से न झुकना ।

मान के आठ भेद :

कुलमद, बलमद, ऐश्वर्यमद, जातिमद, ज्ञानमद, रूपमद, तपमद, अधिकार मद ।

वैसे मानव मे स्वाभिमान की मूल प्रवृत्ति है ही परन्तु जब उसमे उचित से अधिक शासित करने की भूख जाग्रत होती है और जव अपने गुणो व योग्यताओ को परखने मे भूल कर जाता है तब उसके अन्त:करण मे मान की वृत्ति का प्रादुर्भाव होता है । अभिमान मे उत्तेजन व आवेश होता है । उसे अपने से वढकर या अपनी वराबरी का कोई व्यक्ति दीखता ही नही ।

४. माया :

छल, कपट, धूर्तता, दम्भ आदि माया है । इसकी निम्न अवस्थाएँ है—
माया – कपटाचार ।
उपाधि—ठगे जाने योग्य व्यक्ति के समीप जाने का विचार ।
निकृति—छलने के अभिप्राय से अधिक सम्मान करना ।
वलय—वक्रतापूर्ण वचन ।
गहन—ठगने के विचार से अत्यन्त गूढ भाषण करना ।
नूम—ठगाई के उद्देश्य से निकृष्टतम कार्य करना ।
कल्क—दूसरे को हिंसा के लिए उभारना ।
कुरूप—निन्दित व्यवहार ।
जिम्हता—ठगाई के लिए कार्य मन्द करना ।
किल्विषिक—भांडो की भाति कुचेष्टा करना ।
आदरणता—अनिच्छित कार्य भी अपनाना ।

गूहनता—अपनी करतूत को छिपाने के लिए प्रयत्न करना।
वचकता—ठगी।
प्रतिकुंचनता—किसी के सरल रूप से कहे गये वचनों का खडन करना।
सातियोग—उत्तम वस्तु मे हीन वस्तु मिश्रित करना।

सक्षेप में मन मे कुछ, वचन मे कुछ और काया में कुछ और ऐसी वक्रता जीवन मे होना माया है।

५. लोभ :

मोहनीय कर्म के उदय से चित्त मे उत्पन्न होने वाली तृष्णा या लालसा लोभ है। इसकी १६ अवस्थाएँ हैं—

लोभ—संग्रह करने की वृत्ति।
इच्छा—अभिलाषा।
मूर्च्छा—तीव्रतम सग्रहवृत्ति।
कांक्षा—प्राप्त करने की आशा।
गृद्धि—प्राप्त वस्तु मे आसक्ति होना।
तृष्णा—जोडने की इच्छा, वितरण की विरोध वृत्ति।
मिथ्या—विषयो का ध्यान।
अभिध्या—निश्चय से डिग जाना।
आशंसना—इष्ट प्राप्ति की इच्छा करना।
प्रार्थना—अर्थ आदि की याचना।
लालपनता—चाटुकारिता।
कामाशा—काम की इच्छा।
भोगाशा—भोग्य पदार्थों की इच्छा।
जीविताशा—जीवन की कामना।
मरणाशा—मृत्यु की कामना।
नन्दिराग—प्राप्त सम्पत्ति मे अनुराग।

६. हास्य —खिली ठठ्ठा करना, मजाक करना।

७, रति —आरम्भ आदि असंयम-प्रमाद मे राग करना।

८ अरति —संयम, तप आदि में अरति या द्वेष करना।

९. भय —इहलोक-परलोक-मरण-वेदना-अजस्मात् भय, आरक्षण भय, अगुप्ति भय।

१०. शोक —इष्ट-वियोग में शोक-विह्वल होना।

११. जुगुप्सा —ग्लानि होना ।

१२. स्त्रीवेद —पुरुष के साथ रमने का भाव ।

१३. पुरुषवेद —स्त्री के साथ रमने का भाव ।

१४. नपुंसकवेद—स्त्री-पुरुष दोनों के साथ रमने का भाव ।

उपर्युक्त चौदह प्रकार का आभ्यन्तर परिग्रह ही निश्चय से भाव परिग्रह है । यही मूल दुख है ।

वहिरंग परिग्रह

केवल चैतन्य आत्म तत्त्व को छोड़कर जिन-जिन पदार्थो का सयोग आत्मा के साथ है, होता है, वे सभी पदार्थ परिग्रह है । चूकि इन वस्तुओ का सयोग होने से वियोग निश्चित होता है अत: वे वाह्य परिग्रह है। कर्म भी पौद्गलिक है, शरीर भी पौद्गलिक है, ये दोनों वद्ध परिग्रह है और इन्द्रिय भोग्य पदार्थ जिनसे विषय भोगे जाते हैं । वे अवद्ध पदार्थ हैं । वे नौ प्रकार के है—

१. क्षेत्र —खेत, बाग, बगीचे आदि ।
२. वास्तु —भवन, घर, दुकान, बगला आदि ।
३. चादी — चादी के आभूषण या चांदी ।
४. सुवर्ण —सोना या सोने के आभूषण आदि ।
५. धन —मोहर, गिन्नी, रुपये-पैसे, सिक्के नोट आदि ।
६. धान्य —सभी प्रकार का अनाज ।
७. द्विपद —नौकर, दास-दासी, पक्षी आदि ।
८. चतुष्पद—गाय, भैस, घोडा, बैल, बकरी आदि जानवर ।
९. कुप्य —धातु (सोने-चाँदी के सिवाय) सब प्रकार की ताम्बा, पीतल, स्टील, लोहा, लकड़ी तथा कपड़े की वनी हुई वस्तुएँ ।

ये नौ प्रकार के वाह्य परिग्रह है ।

वैसे 'स्थानाग सूत्र' मे भगवान् महावीर ने परिग्रह के तीन प्रकार बताये हैं : (१) कर्म परिग्रह, (२) शरीर परिग्रह, (३) वाह्य भाण्डमात्र उपकरण परिग्रह ।

'उपासक दशाग' सूत्र मे परिग्रह के चार भेद भी वताये है :— (१) गणिम—जिनको गिनकर दिया जा सके । (२) धरिम—जो वस्तु तोल कर दी जाये जैसे गेहूँ, जौ, मक्का, चावल आदि । (३) मेय—जो मापकर दी जाये जैसे कपडा, जमीन आदि । (४) परिच्छेद्य—जो वस्तु परखकर परीक्षा करके दी जाय जैसे हीरा, माणक आदि ।

'प्रश्न व्याकरण सूत्र' में परिग्रह के मुख्य रूप से तीस नाम गिनाये है— (१) परिग्रह, (२) सचय, (३) चय, (४) उवचय, (५) विधान, (६) संभार, (७) संकर, (८) आदर, (९) पिंड, (१०) द्रव्यसार, (११) महेच्छा, (१२) प्रतिवन्ध, (१३) लोभात्मा, (१४) महर्द्धि, (१५) उपकरण, (१६) संरक्षण, (१७) भार, (१८) सम्पातोत्पादक, (१९) कलिकरण्ड, (२०) प्रविस्तर, (२१) अनर्थ, (२२) संस्तव, (२३) अगुप्ति, (२४) आयास, (२५) अविवेग, (२६) अमुक्ति, (२७) तृष्णा, (२८) अनर्थक, (२९) आसक्ति, (३०) असन्तोष ।

इस तरह अपरिग्रह एव परिग्रह भेद विभिन्न अवस्थाओं से यत्र-तत्र सूत्रों मे वताये गये है ।

धन नहीं, धर्म-संचय

श्रावस्ती का मृगार श्रेष्ठि वीस करोड़ स्वर्ण-मुद्राओ का स्वामी था । रात दिन उसे अधिकाधिक धन-संग्रह की ही चिन्ता रहती । लोक-परलोक, धर्म अथवा मोक्ष की परिभाषाओ से वह सर्वथा अनभिज्ञ था । श्रेष्ठि की वहू विशाखा भगवान् वुद्ध के धर्म की अनुयायी थी । मृगार पर उसके गुणों की धाक थी । किन्तु धन-वैभव की मरीचिका के पीछे तृपित हरिण की भाति दौड़ने वाले श्वसुर को वह कैसे रोके, उसकी समझ में नही आता ।

मृगार श्रेष्ठि एक दिन भोजन करने वैठा तो विशाखा ने संकुचित स्वर मे पूछा, 'भोजन कैसा है, तात ? कोई त्रुटि तो नही ।" "त्रुटि और विशाखा-सी चतुर वहू से ?" मृगार कौर चवाता हँस पड़ा, "तुम ऐसा क्यों सोचती हो, आयुष्मती ? तुमने सदा ही ताजे भोजन से मुझे तृप्त किया है ।"

"यही तो आपका भ्रम है तात ।" विशाखा ने दृष्टि नीची कर कहा, "मैं आज तक आपको वासी भोजन ही परोसती रही हूँ । मेरी प्रवल इच्छा है कि आपको ताजे व्यजन खिलाऊँ, किन्तु विवश हूँ । आपके भण्डार मे ताजे भोजन की व्यवस्था ही नही है ।" मृगार के हाथ का कौर हाथ मे ही रह गया—"क्या कह रही हो शुभे ?"

विशाखा ने गभीर स्वर मे उत्तर दिया, "यह जो आपके भण्डार मे अन्न है, कोष मे धन है, पशुशाला मे गाये है—सभी आपके पूर्वजन्म कृत पुण्य के परिणाम है । इस जीवन में आप इन वैभवों को भोग रहे है, किन्तु ये वासी है । इस जन्म मे आपका पुण्य-पुरुषार्थ मैने देखा नही, अतः यह भोजन वासी ही तो हुआ ।" विशाखा की बाते सुनकर मृगार श्रेष्ठि हतप्रभ रह गया । वह धर्म एव पुण्य संचय मे प्रवृत्त हो गया ।

□ डॉ० भैरूंलाल गर्ग

२४

अपरिग्रह : विश्व-शान्ति का रक्षा–कवच

□ डॉ० रामजी सिंह

'सूयगडो' (सूत्रकृतांग) नामक प्रसिद्ध जैनागम के प्रथम अध्ययन 'समय' (समए) के प्रथम उद्देशक के प्रारम्भ में जम्बू-सुधर्मा-सवाद उपस्थित किया गया है—

चित्तमंतमचित्त वा, परिगिज्भ किसामवि ।
अण्णं वा अणुजाणाइ, एव दुक्खा ण मुच्चई ।।[1]

सुधर्मा ने कहा—"जो मनुष्य चेतन या अचेतन पदार्थो मे तनिक भी परिग्रह बुद्धि रखता है और दूसरो के परिग्रह का अनुमोदन करता है, वह दु.ख से मुक्त नही हो सकता ।" हिसा का कारण परिग्रह है । कर्मबन्ध के मुख्य हेतु दो है—आरम्भ और परिग्रह । राग-द्वेष, मोह आदि भी कर्म-बन्ध के हेतु है किन्तु वे भी आरम्भ और परिग्रह के बिना नही होते । इन दोनो मे भी परिग्रह गुरुतर कारण है । परिग्रह के लिये ही आरम्भ किया जाता है । जम्बू ने आर्य सुधर्मा से पूछा—"भगवान महावीर की वाणी मे बन्धन क्या है और उसे कैसे तोडा जा सकता है ?" सुधर्मा ने उत्तर दिया—'परिग्रह बन्धन है ।'[2] 'बन्धन का हेतु है—ममत्व ।'[3] प्राणातिपाद आदि पाँच आश्रवो मे भी परिग्रह को गुरुतर माना गया है,[4] 'जिससे विरति की जाती है', चूर्णिकार ने वैर कहा है ।[5] हिसा करना, हिसा करवाना और हिसा करने वाले का अनुमोदन करना—ये तीनो गलत है । परिग्रह के लिये हिसा होती है । जहाँ परिग्रह है वहाँ हिसा का होना निश्चित् है, इसलिये परिग्रह और हिसा—ये दोनो परस्पर सम्बन्धित है । ये एक ही वस्त्र के दो अचल है । ये दोनो बन्धन के कारण है । यद्यपि राग और द्वेष भी बन्धन के कारण है, किन्तु वे भी परिग्रह और हिसा से उत्तेजित होते है, इसलिये परिग्रह और हिसा बन्धन के पार्श्ववर्ती कारण बन जाते है ।

१—सूयगहो १ (सम्पा) युवाचार्य महाप्रज्ञ, १, १, २ ।

२ वही, १, १, २-३ ।

३—वही, १, १, ४ ।

४—चूर्णि, पृ २१, २२—आरम्भ-परिग्रहो वन्ध हेतु—पाणातिवातादि आसवाण परिग्गहो गुरुअतरो त्ति कातु तेण पुव्व परिग्गहो वुच्यति ।

५—चूर्णि, पृ २२—विरज्यते येन तद्वैरम् ।

आगम मे अपरिग्रह को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है क्योंकि इसकी मान्यता के अनुसार 'जीव' परिग्रह के निमित्त हिसा करता है असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन का सेवन करता है और अत्यधिक मूर्च्छा करता है।[१] सम्पूर्ण परिग्रह से मुक्त, शीतीभूत, प्रसन्नचित्त श्रमण जैसा मुक्ति सुख पाता है, वैसा सुख चक्रवर्ती को भी नही मिलता।[२] परिग्रह-त्याग से इन्द्रियाँ वश मे होती है।[३] सग्रह करना भीतर रहने वाले लोभ की झलक है।[४] परिग्रह दो प्रकार का है—आभ्यन्तर और वाह्य। आभ्यन्तर परिग्रह के १४ भेद है।[५] एव बाह्य परिग्रह के १० भेद है।[६] सजीव या निर्जीव स्वल्प वस्तु का भी जो परिग्रह रखता है अथवा दूसरे को उसकी अनुज्ञा देता है, वह दु.ख से मुक्त नही होता है।[७] इसका अर्थ है कि परिग्रह मे ममता और आसक्ति है।

'मूर्च्छा परिग्रह है' ऐसा कहा गया है। मूर्च्छा का अर्थ है किसी भी वस्तु मे अपनत्व का अनुभव करना या उसे अपनी मालिकी समझना। यह ममता या अपनत्व की भावना रागवश होती है। फिर उसके अर्जन, सचय एवं संग्रहण के लिए वह निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। इन बाह्य पदार्थो के ऊपर स्वामित्व स्थापित करने के लिए और ऐसा करके अपने राष्ट्रवासियो की सुख-सुविधा वढाने के लिए राष्ट्रो के वीच युद्ध होते है। व्यापार-विस्तार की प्रतियोगिता एवं अपने उत्पादित वस्तुओ की विक्री के लिए वाजारों की खोज और होड ही आज के विश्व की सबसे दुर्दान्त समस्या है। सक्षेप में इन सब प्रवृत्तियो की तह मे मूर्च्छा ही काम करती है। जैन दार्शनिकों ने वडी ही सूक्ष्मता से अपरिग्रह व्रत के अतिचारो को रक्खा है ताकि व्यावहारिक जीवन मे अपरिग्रह की साधना मे व्यक्ति को दिशा-निर्देश मिल सके—क्षेत्रवास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास एवं कुप्य-भांड के प्रमाणो का अतिक्रम ये परिग्रह-परिमाण व्रत के पाँच अतिचार है।[८] अतिचार के साथ-साथ अपनी गृहव्रत की भावनाओ की व्याख्या मे भी जैन चिन्तकों ने स्पर्श, रस, गध, वर्ण एवं शब्द के प्रति राग-द्वेष वर्जन की वात रक्खी है। जैन दर्शन के अतिरिक्त भी अपरिग्रह का महत्त्व

१—सुमणासुत्त, गाथा–१४०, पृ. ४४

सगनिमित्त मारइ ? भणइ अलीअ करेइ चोरिक्क।
सेवइ मेहुण मुच्छ, अप्परिमाण कुणइ जीवो॥

२ – वही, गाथा–१४५, पृ. ४६।

३—भगवती आराधना, (शिवकोटी आचार्य, सोलापुर) गाथा–११६८।

४—दशवैकालिक, ६/१६।

५—भगवती आराधना (शिवकोटी आचार्य) गाथा–१११८।

६—वही, गाथा–१११६।

७—समणसुत्त, गाथा–१४१।

८—उमा स्वामी तत्वार्थ सूत्र, १७, मूर्च्छा परिग्रह'।

भारतीय चिंतन मे स्वीकार किया गया है। वेद-उपनिषद् मे तेन त्यक्तेन भुंजीथा:' एवं 'मा कस्य स्विद् धनमे'[1] कहकर परिग्रह-त्याग का मार्ग प्रशस्त किया गया है। असल मे काम, क्रोध और लोभ को नरक का द्वार बताया गया है।[2] लोभ पर गदा प्रहार के लिये ही अपरिग्रह व्रत की परिकल्पना है। अपरिग्रह को भावात्मक शब्दावली मे हम सन्तोष भी कह सकते है जिसका महत्त्व शास्त्रों मे पर्याप्त रूप से वर्णित है। योगशास्त्र[3] ने अपने पंच यमो मे यदि अपरिग्रह को स्थान दिया है तो नियमों मे सन्तोष का भी उल्लेख किया है। बौद्ध पंचशील[4] एव मनु स्मृति[5] में स्पष्टत: अपरिग्रह का उल्लेख नही है किन्तु 'अस्तेय' को दोनो ने माना है।

जिसकी हमे आज आवश्यकता नही है उसे भविष्य की चिन्ता से सग्रह कर रखना ही परिग्रह है। ईश्वर में अखण्ड आस्था रखने वाला परिग्रही हो नही सकता क्योकि उसकी मान्यता है कि जिस ईश्वर ने जन्म दिया है, जो आज हमारी जीवन रक्षा कर रहा है, भविष्य में भी वही हमारा सरक्षण करेगा। जिस वस्तु की जब सच्ची आवश्यकता होगी तब वह अवश्य प्राप्त हो जायगी। इसलिये उसे सग्रह के प्रपंच में पडने की आवश्यकता नही।[6] यह है सच्ची आस्तिकता और नैतिक नियमों मे विश्वास। किन्तु इसका अर्थ पुरुषार्थहीनता से परिपूर्ण भाग्यवाद नही होता है। जो शक्तिमान होते हुए भी श्रम नही करता उसकी आवश्यकताएँ परमेश्वर यो ही पूरी नही कर देता। परिश्रम करने की जिसे इच्छा नही, जो उसे मुसीबत समझता है उसके अन्दर तो यह विश्वास ही नही जम सकता कि भगवान् सबकी आवश्यकताएँ पूरी करने वाला है। वस्तुत: वह तो अपनी परिग्रह-शक्ति पर ही भरोसा रखता है। फिर बौद्ध एव जैन तो श्रमण-संस्कृति की धाराएँ है जो आत्म-पुरुषार्थ का धर्म है, इनमें तो ईश्वर जैसे अलौकिक तत्त्व के प्रति परमुखापेक्षी होने की भी आवश्यकता नही है। फिर इसका यह भी अर्थ नही कि समाज में रहकर अपरिग्रही-व्रती अपने पास आयी हुई वस्तुओ को कही रास्ते मे फैक दे या खराब होने दे। वह अपने को उन वस्तुओ का रक्षक समझे और उनकी पूरी हिफाजत रखे, वह पल भर भी अपने को उन वस्तुओ का मालिक न माने। अत: जिन्हें उनसे काम लेने की आव-

---

१ - ईशावास्योपनिषद्, श्लोक—१।

२—श्रीमद् भगवद्गीता, १६, २१—त्रिविध नरकस्येद द्वार नाशनमात्मन:।
काम क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयत्यजेत्।।
श्रीमद्भागवत महापुराण, ७, ११, ८-१२—सतोष समदृक सेवा।

३—योगसूत्र, २, ३०।

४—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एव मादक द्रव्य निषेध।

५—मनु स्मृति, धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौर्यमिन्द्रियनिग्रह। ७/६२।

६—मश्रुवाला, कि० घ० गाधी विचार दोहन, पृ० २०—२१।

श्यकता हो उन्हें उनका इस्तेमाल करने देने में बाधक न हो । अपने या बाल-बच्चों के काम आने के ख्याल से एक चिथड़ा भी बटोर रखता है और दूसरे की जरूरत होते हुए भी इस्तेमाल नही करने देता वह परिग्रही है । सक्षेप में परिग्रह या अपरिग्रह एक भावना है । सम्पत्तिवान भी यदि अपने को सम्पत्ति का ट्रस्टी मानता है तो वह अपरिग्रही है एवं अकिन्चन व्यक्ति भी लोभ मे फसा है तो वह परिग्रही है । अतः परिग्रह तृष्णा और लोभ है अपरिग्रह सन्तोष और त्याग की वृत्ति है ।

अपरिग्रह केवल व्यक्तिगत नैतिक सद्‌गुण ही नहीं है, इसका सामाजिक आधार भी है । सर्वप्रथम तो संग्रह व्यक्ति से नही समष्टि से ही सम्भव है । यदि समाज असहयोग करे तो व्यक्ति के लिए सम्पत्ति का सग्रह करना तो दूर रहा, उसका अर्जन करने में भी वह अक्षम रहेगा । शायद इसी को ध्यान में रखकर मार्क्स ने कहा है कि पूँजी एक सामाजिक शक्ति है । (Capital is a social power) दूसरी तरफ परिग्रह के कारण सामाजिक विषमता बढ़ती है और फिर उससे ईर्ष्या-द्वेष, कलह आदि उत्पन्न होते है । यही कारण है कि धर्माचार्यो ने दान को प्रतिष्ठित किया है । इस्लाम में जकात ईसाई धर्म मे चैरिटी एव हिन्दू धर्म में दान की महिमा है । शकराचार्य ने तो दानं सविभाग:' कह ही दिया है जिसका आधार लेकर विनोबाजी ने भूदान, सम्पत्ति दान, जीवन दान आदि की परम्परा चलायी है । 'सबै भूमि गोपाल की' या 'सम्पत्ति सब रघुपति के आही' जब कहा जाता है तो अपरिग्रह-धर्म परिपुष्ट होता है । केवल जमीन एव जायदाद ही नही हमारा जीवन भी अपने लिये नही बल्कि समाज के लिये है । यही भावना लेकर विनोबाजी एव जयप्रकाशजी ने 'जीवन दान' का अभियान प्रारम्भ किया था, जो अपरिग्रह-व्रत की पराकाष्ठा है । गाधीजी का ट्रस्टीशिप या विनोबाजी की विश्वस्त वृत्ति का सिद्धान्त भी अपरिग्रह व्रत की सामाजिक साधना है । जिस समाज में अपरिग्रह व्रत का परिपालन होगा, वहाँ पूँजीवाद की समस्या ही नही रहेगी और फिर उससे संघर्ष आदि के प्रश्न ही निरर्थक होंगे । किन्तु यदि समाज में व्यक्तिगत परिग्रह बढेगा तो विषमता भी बढ़ेगी, शोषण भी होगा और फिर वर्ग-सघर्ष या रक्तिम-सघर्ष अनिवार्य है ।

आध्यात्मिक दृष्टि भी अपरिग्रह के पक्ष में है । जब सभी सम्पत्ति ईश्वर की है तो उसे केवल अपना समझना ईश्वर-द्रोह है । इसीलिये उपनिषद्, त्याग, के पश्चात् भोग—'तेन त्यक्तेन भुजीथा.' और गीता 'यज्ञार्थात्कर्मणो'[1] का आदेश देती है । बाइबिल में तो कहा ही गया है कि 'सूई के छेद से एक ऊँट

१—गीता, ३, ९ ।

का निकल जाना सम्भव है किन्तु परिग्रही व्यक्ति ईश्वर के पास हरगिज नही पहुँच सकता ।' इस्लाम मे भी परिग्रह की पर्याप्त भर्त्सना है ।[1]

मनोवैज्ञानिक रूप से भी यदि हम विचार करें तो परिग्रही-व्यक्ति जितनी सुरक्षा का अनुभव करता है उससे अधिक असुरक्षा का ही अनुभव करता है। उसकी सम्पत्ति पर चोरो-डकैतो और असामाजिक तत्त्वो के अलावा समाज के अभावग्रस्त लोगो की आखे लगा रहती है । फिर सम्पत्ति के अपहरण से व्यक्ति को आक्रोश भी होता है और कभी तो 'धनशोक', पुत्र-शोक' से भी वढ जाता है । सबसे बडी बात तो यह है कि परिग्रह की कोई सीमा नही होती एव उसमे सदा एक चिरन्तन अतृप्ति की भावना रहती है । यह एक कष्टकारक प्रसग होता है । अत परिग्रह से मनोवैज्ञानिक सुख भी प्राप्त नही होता है ।

जिस प्रकार अहिसा का वैचारिक आधार अनाग्रह या अनेकात दृष्टि है, उसी प्रकार इसका सामाजिक आधार अनासक्ति या अपरिग्रह है । व्यक्तिगत जीवन में हम जिसे अनासक्ति कहते है, सामाजिक जीवन मे वही अपरिग्रह हो जाता है । असल मे देखा जाय तो अपरिग्रह, अस्तेय और वहुत हद तक ब्रह्मचर्य व्रत भी अनासक्त के ही व्यावहारिक रूप है । व्यक्तिगत जीवन में आसक्ति दो रूपो में अभिव्यक्ति होती है—परिग्रह-भाव एवं भोग-भावना जिनके वशीभूत होकर वह दूसरो के अधिकार की वस्तुओ का अपहरण करता है । इस प्रकार आसक्ति बाह्यतः तीन रूपो मे होती है—(१) अपहरण या शोषण, (२) आवश्यकता से अधिक परिग्रह या सग्रह और (३) भोग । केवल हत्या या रक्तपात ही हिसा नही है, परिग्रह भी हिसा ही है क्योकि बिना हिसा (शोषण) के सग्रह असम्भव है । सग्रह के द्वारा दूसरो के हित का हनन होता है और इस रूप मे परिग्रह हिसा है । अपरिग्रह बाह्य-अनासक्ति है, अनासक्ति आतरिक अपरिग्रह है । इसी प्रकार समाज या राष्ट्र की सग्रह एव शोषण वृत्ति ने मानव जाति को अपार कष्टों मे डाला है ।

यही कारण है कि जैन परम्परा ने समविभाग और समवितरण को सामाजिक एव आध्यात्मिक साधना का आवश्यक अग माना है ।[2] अनासक्ति की भावना को मूर्त्त रूप देने के लिए गृहस्थ जीवन मे परिग्रह परिमाण और श्रमण जीवन मे परिग्रह के त्याग का निर्देश है । दिगम्वरत्व शायद आत्यन्तिक अपरिग्रही जीवन का सजीव प्रमाण है । 'उत्तराध्ययन' सूत्र के अनुसार समग्र जागतिक दु.खो का मूल कारण तृष्णा है । जिसकी तृष्णा समाप्त हो जाती है उसका मोह समाप्त हो जाता है और जिसका मोह मिट जाता है उसके दुःख

१—कुरान शरीफ, ३४, ३५, ३४, ४६-५०, ३५, १, ३५, ५-६, ३५, १०, ३५, १६-२२, २७-२८, ३२ ।

२—उत्तराध्ययन सूत्र, १७, ११, प्रश्न व्याकरण सूत्र, २, ३, ।

भी मिट जाते है।[1] तृष्णा असीम है और भौतिक साधन सीमित है। अतः सीमित साधनो से असीमित तृष्णा की पूर्ति हो नही सकती।[2] तृष्णा ही परिग्रह का मूल है। आसक्ति ही परिग्रह है।[3] आसक्ति की ही दूसरी सज्ञा लोभ है और लोभ सद्गुणो का विनाशक है।[4] इस अनासक्ति को बौद्ध एव वैदिक परम्पराओ ने भी स्वीकार किया है। गीता तो अनासक्ति-योग का काव्य है ही। गीता के अनुसार आसक्ति के कारण ही मनुष्य काम-भोग की पूर्ति के लिए अन्यायपूर्वक धन-संचय की चाह करता है।[5] सक्षेप में अपहरण, शोषण एवं सग्रह आदि की वृत्तियों के मूल मे आसक्ति ही है। इसलिए गीता मे आसक्ति और लोभ को नरक का द्वार कहा है।[6] इसीलिए गीता अनासक्त या निष्काम कर्म का उपदेश देती है। भगवान् बुद्ध की दृष्टि मे भी तृष्णा ही दु.ख है।[7] आसक्ति ही बन्धन है।[8] जो भी दु.ख होता है वह सब तृष्णा के कारण ही होता है।[9] आसक्ति का क्षय ही दुःखो का क्षय है। जो व्यक्ति तृष्णा को वश मे कर लेता है उसके दुःख उसी प्रकार समाप्त हो जाते है जैसे कमल पत्र पर रहा हुआ जल-बिन्दु शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।[10] तृष्णा से दु ख वैसे ही बढते है, जिस प्रकार खेतों में वीरण घास बढती रहती है।[11] यों तो बौद्ध दर्शन में मुख्य रूप से भव तृष्णा, विभव तृष्णा और काम तृष्णा है लेकिन सब भेद-उपभेद मिलाकर तृष्णा के १८ भेद माने गये है। बुद्ध की दृष्टि मे भी परिग्रह के मूल मे भी यही तृष्णा या आसक्ति है।[12]

यह ध्यान देने की बात है कि जहाँ जैन, बुद्ध एव वैदिक परम्पराओ ने अनासक्ति को व्यक्तिगत जीवन का सर्वमान्य मूल्य स्वीकार किया है, वहाँ जैन परम्परा ने अनासक्ति की बाह्य अभिव्यक्ति अपरिग्रह को भी व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन-धर्म माना है। यही कारण है कि ममत्व-विसर्जन के साथ सम्पदा-विसर्जन पर भी जैन विचारधारा जोर देती है जबकि वैदिक परम्परा

१—उत्तराध्ययन सूत्र, ३२, ८।
२—उत्तराध्ययन सूत्र, ८, ३८।
३—दशवैकालिक सूत्र, ६, २१।
४—वही, ८, ३८।
५—गीता, १७, १२।
६—गीता, १६, १६।
७—सयुत निकाय, २, १२, ६६, १, १, ६५।
८—सुत्त निपात, ६८, ५।
९—वही, ३८, ५७।
१०—धम्मपद, ३३६।
११—वही, १८६।
१२—महानिद्देसपालि, १, ११, १०७।

मे अनासक्त वृत्ति के लिए परिग्रह त्याग आवश्यक नही। जनक पूर्ण अनासक्त होते हुए भी राजकाज सम्भालते थे लेकिन जैन परम्परा का भरत पूर्ण अनासक्ति के आते ही राजकाज छोड़कर मुनि वन जाता है।[1] वौद्ध परम्परा वैदिक एव जैन परम्परा के मध्य में है क्योकि जहाॅ जैन धर्म ने मुनि जीवन के लिए परिग्रह के त्याग और गृहस्थो के लिए परिग्रह-परिसीमन की वात की है, वहाॅ वौद्ध धर्म ने केवल भिक्षु के लिए ही स्वर्ण-रजत रूप परिग्रह त्याग की अवधारणा प्रस्तुत की है। गृहस्थो के लिए परिग्रह-परिसीमन का प्रश्न भी नही उठाया गया है।

असल मे अपरिग्रह का प्रश्न केवल वैयक्तिक नही, सामाजिक भी है। आज इसकी राष्ट्रीय एव जागतिक प्रासगिकता भी है। परिग्रह, सग्रह और विसर्जन सभी सीधे-सीधे समाज-जीवन को प्रभावित करते है। यदि अर्जन सामाजिक-आर्थिक प्रगति को प्रभावित करता है तो सग्रह आर्थिक समवितरण को। इसी के विपरीत विसर्जन की वृत्ति लोक कल्याण को प्रभावित करती है। अतः परिग्रह-अपरिग्रह के प्रश्न पूरी तरह सामाजिक प्रश्न है। अपरिग्रह का सिद्धान्त वस्तुत: अनुचित अर्जन, अनैतिक सग्रह पर गदा-प्रहार है। अर्जन और संग्रह अपने आप मे बुरा नही लेकिन जव इनका आधार शोपण एवं विषमता हो जाता है तो फिर यह समाज के लिए जहर वन जाता है। अन्यायपूर्ण अर्जन एव शोषणाधारित सग्रह ही आर्थिक सघर्षो को जन्म देता है क्योकि एक तरफ अनियत्रित उपभोग, वैभव का वीभत्स प्रदर्शन और दूसरी ओर करुण क्रन्दन का नृत्य होता है, समाज में सम्पदा की विषमता बढती है। फिर तो वर्ग-सघर्ष अनिवार्य हो जाता है और सामाजिक सुव्यवस्था एवं शान्ति दिवास्वप्न हो जाती है। यही कारण है कि मार्क्सवाद उत्पादन के साधन एव स्वामित्व को ही नही उसके उपभोग एव वितरण को सामाजिक व्यवस्था मे आवद्ध करते है, किन्तु मार्क्सवाद का समष्टिगत अपरिग्रह राजदण्ड के आधार पर चलता है इसलिये उसे कई प्रकार की निरकुश व्यवस्थाएँ लादनी पडती है। समाजवाद जव तक ऊपर से लादा जाता रहेगा उसे सगीनो की साया एव तानाशाही का सम्वल चाहिये। वास्तव मे समाजवाद केवल राज्य ही नही, यह एक समाज-व्यवस्था और उससे भी अधिक एक जीवन-पद्धति है। इसलिये यदि समाजवाद को मगलकारी वनना है तो फिर व्यक्तिगत जीवन मे भी अपरिग्रह का मूल्य स्वीकार करना होगा।

लेकिन मार्क्सवादी समाजवाद का आधार-तत्त्व द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और भौतिकवादी जीवन मूल्यो के परिप्रेक्ष्य मे सम्भवत: तृष्णा और आसक्ति पर विजय सम्भव नही है क्योकि जव आवश्यकता की वृद्धि की पूर्ति के राग मे ही रत रहना मानव जीवन का लक्ष्य है तो अपरिग्रह आदि की भावना उनके लिए एक दार्शनिक विसगति होगी। शायद मार्क्सवाद अभाव और अकिचनता

१—यह कथन दिगम्बर मान्यता के अनुसार है—सम्पादक।

निवारण की पावन भावना से प्रभावित होकर यह भूल जाता है कि भौतिक सुख, भोग एवं आवश्यकताओं की सीमा नही है। लाभ से लोभ वढता जाता है। कामभोग से काम तृप्त नही होता है। ययादि वृद्धावस्था मे जवानी प्राप्त कर भी तृप्त नहीं हुए बल्कि काम तीव्रतर होता गया। जिस प्रकार अग्नि मे घी डालने से अग्नि शान्त नही होती है, उसी प्रकार भौतिक सुखोपभोग से शान्ति एवं तृप्ति नहीं मिलती है। यही कारण है कि सुकरात ने कहा था—हम यदि सुख चाहते है तो हमे यह निर्णय करना होगा कि हम कितनी चीजों के बिना अपना काम चला सकते है—(How many things we can do without ?) उपभोक्तावादी सस्कृति के विरुद्ध आज पाश्चात्य जगत् मे भी एक अभियान चल रहा है और स्वैच्छिक सादगी एक जीवन-पद्धति के रूप में अपनायी जा रही है। इस सदी के पाँचवे दशक मे यह आन्दोलन शुरू हुआ था और आज कम से कम ५० लाख अमरीकी नागरिक तड़क-भड़क की जिन्दगी को छोड़ स्वैच्छिक रूप से सादगी को अपना चुके है। आज के असीमित आर्थिक विकास को शंका की दृष्टि से देखने लगे है। शायद वे समझ रहे है कि असीमित ढंग से वढती हुई उपभोक्ता संस्कृति का बोझ हमारी यह धरती सम्भाल नहीं सकेगी।[1]

टालस्टाय अपनी कहानी – How Much Land Does a Man Require ?' के माध्यम से बताने का प्रयत्न करते है कि व्यक्ति असीम तृष्णा के पीछे भले ही पागल होकर अपने जीवन की बाजी लगा देता है किन्तु अन्त मे उसके शव को दफनाने भर के लिए ही भू-भाग उसके उपयोग में आता है। किसी वस्तु के प्रति आसक्ति होने से उस वस्तु के विछोह मे दु.ख का अनुभव होता है परन्तु आसक्ति नही होने पर दु.ख नही होता है। यह भ्रान्त धारणा है कि सुख बाहरी वस्तुओं मे है। मनुष्य की आसक्ति और आकाक्षा जिस वस्तु के लिये संग्रह की होती है, उसको पाने के लिये चिन्ता, बेचैनी आदि होती है किन्तु जैसे ही वह उसे प्राप्त कर लेता है, तत्काल उससे भिन्न अन्य वस्तु पाने की इच्छा हो जाती है। इस प्रकार इच्छाओं का क्रम चलता रहता है। प्रत्येक प्राणी की आशा (इच्छा) का गड्ढा इतना वड़ा होता है कि उसको भरने के लिये सारे ससार के समस्त पदार्थ भी थोडे होते है—'आशागर्तः प्रतिप्राणी यत्र विश्वपणुपमम्।' शेक्सपियर ने ठीक ही कहा है कि 'इस संसार में सबसे बडा भ्रम यह है कि पैसा ही हमें सुखी वना सकता है। स्वर्ण तो मनुष्य की आत्मा के लिये सबसे गर्हित विष है।' दुर्योधन ने भी अपने मामा शकुनि से कहा था कि 'सोना अग्नि के समान चमकदार तो होता है परन्तु अग्नि से भी अधिक जलन पैदा करता है, क्योकि अग्नि तो छूने पर ही जलाती है जबकि युधिष्ठिर के पास भेट में प्राप्त सोने को देखकर मुझे जलन पैदा होती है।'

१—Handerson, C, 'Learning to him Frugally', Span, New Delhi, July, 1979, p. 15

सच्चे सुख का स्रोत आत्मा के भीतर है—सन्तोष में है, अपरिग्रह में है—'जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूरि समान।' असल में आसक्ति और परिग्रह हमें बन्धन में डालता है। आसक्ति की जननी ही मोह या मूर्च्छा है।[१] बाह्य परिग्रह मानसिक परिग्रह (आसक्ति) के बिना सम्भव नही है। फिर परिग्रह हिंसा को जन्म देता है। भगवान् महावीर ने अपरिग्रह व्रत पर इसलिये विशेष बल दिया कि वे जानते थे कि आर्थिक विषमता और आवश्यक वस्तुओ का अनुचित संग्रह सामाजिक जीवन को विघटित कर देने वाला है। धन का सीमांकन स्वस्थ समाज-निर्माण के लिये अनिवार्य है। धन सामाजिक व्यवस्था का आधार होता है और उसके कुछ हाथो मे सीमित होने से समाज का सम्पूर्ण विकास नही हो पाता है। जीवनोपयोगी वस्तुओं के संग्रह से समाज मे अभाव की स्थिति पैदा होती है। पूँजीवाद का यही अन्तर्विरोध है। साम्राज्य-लिप्सा की भावना के पीछे भी परिग्रह की भावना है।

यह दुर्भाग्य है कि आज जब मानवता का लगभग तृतीयांश भाग भूख एव अभाव से त्रस्त है, वहाँ दूसरी ओर वैभव और विलास का प्रगल्भ प्रदर्शन होता है। सयुक्त राष्ट्र अमरीका में अन्नादि के दाम नही गिरें, इसके लिए करोड़ो मन अन्न नष्ट कर दिया जाता है। दूध का दाम नही गिरे, इसके लिए लाखों गायें काट दी जाती है। यह सब सास्कृतिक विकृति है जिसके कारण विश्व-शान्ति और विश्व-भ्रातृत्व को खतरा होता है।

इसलिए अपरिग्रह का विचार और आचार केवल परमार्थ-साधना का विषय नही, यह तो व्यक्तिगत जीवन के सच्चे सुख एवं स्वस्थ समाज-सरचना के लिये आवश्यक है। पूँजीवाद व्यक्तिगत परिग्रहवाद है तो साम्यवाद भी राज्य का परिग्रहवाद है। हमे इन दोनों से परे किसी स्वस्थ सामाजिक संरचना के विषय में सोचना चाहिये। मेरी विनम्र राय में गाधीजी का ट्रस्टीशिप का विचार हमे एक दिशा-निर्देश दे सकता है जहाँ व्यक्तिगत स्वामित्व एव राज्य के स्वामित्व दोनो का निराकरण किया जाता है। साथ-साथ ट्रस्टीशिप की भावना और योजना समाज-कल्याण के लिये ही है। असन्तोष और अधिकार-लिप्सा वैयक्तिक जीवन की अशान्ति के व्यक्त निदान है। भोग और लोभ की अदम्य कामना विश्व के समस्त पदार्थो को जीवन-यज्ञ के लिये हविष्य बना रही है। सामाजिक जीवन मे यह व्यक्त है। यह दुर्भाग्य है कि बीसवी सदी में जो देश जितना शक्तिशाली, धनवान और शिक्षित है, वह उतना ही अधिक शोषण, उत्पीड़न और संग्रह करने पर तुला हुआ है। ऐसी स्थिति मे विश्व-शान्ति पर खतरा बढता ही जा रहा है। अतः अपरिग्रह विश्व-शान्ति का रक्षा कवच एवं समाजवाद का स्थायी आधार तत्त्व है। ☐

१—Amritchandra, Purusartha Siddhupayaya, p. III

२५

अपरिग्रह-विचार

☐ महात्मा गाँधी

अपरिग्रह को अस्तेय से सम्वद्ध समझना चाहिये । वास्तव में चुराया हुआ न होने पर भी अनावश्यक संग्रह चोरी का सा माल हो जाता है । परिग्रह का अर्थ है, संचय या इकट्ठा करना । सत्यशोधक अहिंसक परिग्रह नही कर सकता । परमात्मा परिग्रह नही करता । वह अपनी आवश्यक वस्तु रोज की रोज पैदा करता है । अतः यदि हमारा उस पर विश्वास है तो हमें समझना चाहिये कि वह हमें आवश्यक चीज रोज की रोज देता है, देगा । औलियाओं का, भक्तों का यह अनुभव है । रोज के काम भर का रोज पैदा करने के ईश्वरीय नियमो को हम नहीं जानते अथवा जानते हुए भी पालते नही है । अतः जगत् मे विषमता और उससे होने वाले दु.ख भोगते है । धनी के घर उसके लिये आवश्यक अनावश्यक चीजें भरी रहती है, मारी-मारी फिरती है, खराब होती रहती है, दूसरी ओर उनके अभाव में करोड़ों मनुष्य भटकते है, भूखों मरते है, जाड़े से ठिठुरते है । यदि सब लोग अपनी आवश्यकता भर को ही संग्रह करे तो किसी को तंगी न हो और सबको सन्तोष रहे । आज तो दोनों ही तंगी अनुभव करते है । करोडपति अरबपति होने को छटपटाता है, उसे सन्तोष नही रहता, कंगाल करोड़पति होना चाहता है । उसे पेट भरने भर को ही पाकर सन्तोष होना दिखाई नही देता, परन्तु कगाल को पेट भर पाने का अधिकार है और समाज का धर्म है कि उसे इतना प्राप्त करा दे । अतः उसके और अपने सन्तोष के लिए शुरूआत धनी को ही करनी चाहिये । यह अपना अत्यन्त परिग्रह त्याग दे तो दरिद्र के काम भर को सहज मे मिल जाय और दोनों पक्ष सन्तोष का सबक सीखे ।

आदर्श आत्यतिक अपरिग्रह तो उसी का कहा जायेगा जो मन से और कर्म से दिगम्बर है । यहाँ तक कि वह पक्षी की भाँति बिना घर के, बिना वस्त्रों के और बिना अन्न के विचरण करता है । अन्न तो उसे रोज की जरूरत भर को भगवान देता रहेगा । इस अवधूत स्थिति को तो विरले ही पहुँच सकते है । हम मामूली दर्जे के सत्याग्रह के जिज्ञासुओ को तो चाहिये कि आदर्श को ध्यान मे रख कर नित्य अपने परिग्रह की जाँच करते रहें और जहाँ तक बने उसे घटाते रहे । सच्चे सुधार का, सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढाना नहीं है बल्कि विचार और इच्छापूर्वक उसको घटाना है । परिग्रह घटाते जाने से सच्चा सुख और सच्चा सन्तोष बढता जाता है, सेवा-शक्ति बढती है । इस दृष्टि से विचारने

और बरतने पर हमे मालूम होता है कि आश्रम से हम लोग बहुत सा सग्रह ऐसा करते है कि जिसकी आवश्यकता सिद्ध नही कर सकते और ऐसे अनावश्यक परिग्रह से पडौसी को चोरी करने के लालच में फँसाते है। अभ्यास से मनुष्य अपनी आवश्यकताओ को घटा सकता है और ज्यो-ज्यों घटाता जाता है, त्यों-त्यो वह सुखी, शान्त और सब तरह से आरोग्यवान होता जाता है। केवल सत्य की, आत्मा की दृष्टि से विचारिये तो शरीर भी परिग्रह है। भोग की इच्छा के कारण हमने शरीर का आवरण ले लिया और उसे कायम रखा है। भोगेच्छा के अत्यन्त क्षीण हो जाने पर शरीर की जरूरत नहीं रह जाती। सर्व व्यापक आत्मा शरीर रूपी पिजडे मे कैसे वन्द रह सकता है ? यह पिजड़ा वनाये रखने का अनर्थ कंसे कर सकता है ? दूसरे को कैसे मार सकता है ? यो विचार करते हुए हम आत्यंतिक त्याग को पहुँच जाते है और शरीर की स्थिति पर्यन्त उसका उपयोग केवल सेवार्थ करना सीख जाते है और यहाँ तक कि सेवा ही उसकी वास्तविक खुराक हो जाती है। उसका खाना-पीना, सोना-वैठना, जागना-ऊघना सब सेवा के लिए ही होता है। इससे उत्पन्न सुख ही सच्चा सुख है। इस प्रकार बरतने वाला मनुष्य अन्त में सत्य की झाँकी करेगा। इस दृष्टि से हम सबको अपने परिग्रह पर विचार कर लेना चाहिये।

यह याद रखे कि वस्तुओं की भाँति विचार का भी परिग्रह होना चाहिये। अपने दिमाग मे निरर्थक ज्ञान भर लेने वाला मनुष्य परिग्रही है। जो विचार हमें ईश्वर से विमुख रखते है अथवा ईश्वर के प्रति न ले जाते हों वे सव परिग्रह के अन्दर आते है और इसलिये त्याज्य है। भगवान् की 'गीता' के तेरहवे अध्याय मे दी हुई ज्ञान की यह परिभाषा हमे ख्याल मे लानी चाहिये। अमानित्व इत्यादि गिना कर कहा गया है कि उससे भिन्न सब अज्ञान है। यदि यह वचन सत्य हो और सत्य है ही—तो हम आज जो बहुत-कुछ ज्ञान के नाम से सग्रह करते है, यह अज्ञान ही है और उससे लाभ के बदले हानि होती है, दिमाग फिर जाता है, अन्त मे खाली हो जाता है, असन्तोष फैलता है और अनर्थ बढते है। इससे यह मतलव नही कि मदता अभीष्ट है। प्रत्येक क्षण प्रवृत्तिमय होना चाहिये। पर यह प्रवृत्ति होनी चाहिये सात्विक, सत्य की ओर ले जाने वाली। जिसने सेवा धर्म स्वीकार किया है वह क्षण भर भी सुस्त नही रह सकता। यहाँ तो सारासार का विवेक सीखने की वात है। सेवा-परायण को यह विवेक सहज प्राप्त होता है।

□ □ □

२६

अपरिग्रह-चिन्तन

□ श्री मदनलाल कटारिया

परिग्रह का अर्थ है अपनी सम्पत्ति, धन दौलत के प्रति ममत्व भाव रखना। अपरिग्रह का अर्थ है विषयासक्ति का त्याग। इस व्रत के लिये उन सभी विषयो का परित्याग करना पडता है जिसके द्वारा इन्द्रिय सुख की उत्पत्ति होती है। ऐसे विषयों के अन्तर्गत सभी प्रकार के शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध है। मनुष्य सासारिक विषयो मे आसक्त होने के कारण वन्धन मे पड जाता है। फल यह होता है कि उसे पुन-पुन. जन्म ग्रहण करना पड़ता है और वह तब तक मोक्ष नही पा सकता जब तक कि विषयो से अनासक्त नही हो जाता।

मानव की अभिलाषा रहती है कि वह मोक्ष प्राप्त करे। अस्तु, उसे चाहिये कि अपनी आवश्यकता से अधिक जो धन सम्पत्ति, साधन सामग्री उसके पास उपलब्ध है, उसका प्रयोग सत्कार्य, परोपकार, सार्वजनिक हित के कार्यो, दीन दु:खी व असहायो की सेवा मे मुक्त भाव से कर, मानव जीवन को कृतार्थ बनावे। यही अपरिग्रह का मूल मन्त्र है।

कवि रहीम ने भी कहा है—

> तरुवर फल नही खात है, सरवर पियहि न पान।
> कह 'रहीम' पर काज हित, सपत्ति सचहि सुजान॥

इस दोहे मे महावीर का अपरिग्रह का सिद्धान्त स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

महावीर के समान ही अन्य पाश्चात्य दार्शनिको ने भी सम्पत्ति के सचय व परित्याग के सम्बन्ध मे अपने विचार व्यक्त किये है।

प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने 'रिपब्लिक' मे लिखा है—प्रथम तो जितनी कम से कम सम्पत्ति नितान्त आवश्यक है, उससे अधिक सम्पत्ति किसी को नहीं रखनी चाहिये। दूसरे किसी के पास ऐसा घर, भण्डार (कोष) नही होना चाहिये जो कि सबके स्वेच्छापूर्ण प्रवेश के लिये नित्य खुला न रहता हो। उनकी भोजनादि सामग्री इतनी मात्रा मे और ऐसी होनी चाहिये जो कि संयमी एवं साहसी योद्धा भटो के लिये उपयुक्त हो एवं यह उसको अन्य नागरिकों

सुनिश्चित एवं सुनिर्धारित प्रकार से उनकी संरक्षता की तृप्ति के रूप मे इतनी मात्रा में मिल जानी चाहिये कि न तो वर्ष के अन्त में शेष रहे और न कम ही पड़े। रही सोने-चाँदी की बात सो जबकि उनको देवताओं से दिव्य प्रकार का स्वर्ण और रजत नित्य ही अपनी आत्मा के अन्दर प्राप्त है, तो उनको मृत्युलोक की निम्नकोटि की धातु की कोई आवश्यकता नही है। उनकी अन्तरात्मा मे विद्यमान धातु पूर्णतया शुद्ध है जबकि सासारिक व्यवहार मे आने वाले सिक्को के कारण असंख्यों पाप हो चुके हैं।

प्रसिद्ध दार्शनिक **अरस्तू** ने कहा है, 'संपत्ति वही तक सचित की जानी चाहिये जहाँ तक कि उससे अन्य लोगों को हानि न हो।' उसके अनुसार सम्पत्ति का सर्वोत्तम सिद्धान्त व्यक्तिगत अधिकार व सार्वजनिक उपयोग है। वे कहते है 'सम्पत्ति स्वयं कोई बुराई नही है, बुराई तो उसके गलत उपयोग मे है।'

सन्त **आगस्टाइन** के अनुसार धनिक और निर्धन दोनो ही मोक्ष प्राप्त कर सकते है फिर भी वे सांसारिक वस्तुओ के अधिकार को आत्मा की प्रगति मे और ईश्वर के असीम प्रेम के आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करने मे बाधा मानते है।

राष्ट्रपिता **महात्मा गाँधी** ने भी अपरिग्रह के बारे मे अपने विचार निम्न प्रकार से व्यक्त किये है, 'अपरिग्रह का पालन करने के लिये केवल धन सचय न करना ही पर्याप्त नही है प्रत्युत भविष्य के लिये किसी भी रूप मे किसी प्रकार का संचय न करना और उसकी रक्षा भी न करना आवश्यक है।' वे यह मानते है कि अपनी अनिवार्य आवश्यकता से अधिक किसी भी वस्तु को ग्रहण करके उसे भविष्य के लिये सचित करना अपरिग्रह का उल्लंघन है। उनके विचार मे अपरिग्रह के अनुसार आचरण करने का अर्थ यह है कि मनुष्य निरन्तर श्रम करते हुए भी समाज से उतना ही ग्रहण करे जितना उसके जीवन के लिए अनिवार्य हो, शेप सब कुछ उसे समाज के कल्याण के लिये समर्पित कर देना चाहिये। गाँधीजी का यह कथन है कि मनुष्य अपने शरीर को भी सुख-भोग का साधन न मानकर सम्पूर्ण मानव जाति तथा प्राणी मात्र की सेवा का साधन समझे और यदि आवश्यक हो तो इस महान् लक्ष्य की पूर्ति के लिये अपने शरीर का परित्याग करने मे भी सकोच न करे। स्पष्ट है कि अपरिग्रह का दृढतापूर्वक पालन करने के लिये मनुष्य को अपनी आवश्यकताएँ अधिकाधिक सीमित करनी होगी। उनका यह दृढ विश्वास था कि यदि सभी व्यक्ति अपने दैनिक जीवन मे अपरिग्रहानुसार आचरण करे तो समाज मे व्याप्त आर्थिक विषमता का अन्त हो सकता है और मनुप्य का जीवन अधिक शान्तिपूर्ण एव सुखमय हो सकता है। यदि सभी मनुप्य विशेपत. धनवान व्यक्ति वास्तव मे अपरिग्रह का निष्ठापूर्वक पालन करे तो व्यक्ति और समाज दोनो के लिये सुख और शान्ति का

मार्ग प्रशस्त हो सकता है तथा अन्याय, शोषण एवं संघर्ष को रोका जा सकता है।

सम्पत्ति के सम्बन्ध में गाँधीजी ने ट्रस्टीशिप (न्यासधारिता) के सिद्धान्त को अपनाने का सुझाव दिया है। इसके अनुसार मूल रूप से साधनो पर निजी स्वामित्व ऐसा हो जैसा कि एक ट्रस्टी का होता है। व्यक्ति अपने साधनों का प्रयोग निजी उद्देश्यों मे न करके सामाजिक हित मे करे। साधनों को समाज का माने और अपने आपको उसका ट्रस्टी माने। इससे सभी आर्थिक विषमता का अन्त होता है तथा अप्रत्यक्ष रूप से यह अपरिग्रह पर जोर देता है। उनका कहना था कि 'यह धरती अपने प्रत्येक निवासी की आवश्यकताओ को पूरा कर सकती है लेकिन यह हर व्यक्ति के लालच को पूरा नही कर सकती है।'

प्रसिद्ध विचारक आचार्य **विनोबा भावे** ने गाँधी दर्शन को आगे बढ़ाते हुए, 'सर्वै भूमि गोपाल की' अवधारणा प्रस्तुत करते हुए श्रम दान, सम्पत्ति दान, ग्राम दान आदि की विचारधारा समाज के समक्ष रखी।

प्रसिद्ध भारतीय अर्थशास्त्री एव इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विषय के अध्यक्ष प्रोफेसर **जे. के. मेहता** ने भी आवश्यकताओ को कम से कम करने पर जोर दिया है। उनके अनुसार प्रत्येक आवश्यकता की उपस्थिति मनुष्य को दु.ख देती है। आवश्यकता की पूर्ति पर उसे क्षणिक सुख मिलता है। वे कहते है कि आवश्यकताओं की अभिवृद्धि का क्रम सुख में नही बल्कि दुःख में वृद्धि करने वाला होता है। उनके अनुसार परम सुख प्राप्त करने के लिये मनुष्य को आवश्यकता विहीन अवस्था को प्राप्त करना होगा। उनके अनुसार मनुष्य अपने जीवन मे सभवत: पूर्ण आवश्यकता रहित स्थिति को प्राप्त न कर सके, परन्तु जैसे-जैसे वह अपनी आवश्यकताओं में कमी करेगा परम सुख के समीप पहुँच जावेगा। इन विचारो मे भी स्पष्टत. अपरिग्रह की भावना दिखाई पड़ती है।

उपर्युक्त प्रस्तुत विचारो के निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि यदि वर्तमान मे राष्ट्र, समाज व व्यक्ति को आत्मिक शान्ति प्राप्त करनी है, नैतिक मूल्यो की पुनर्स्थापना करनी है, अपने आपको सुश्रावक प्रतिस्थापित करना है तो उसके सामने अपरिग्रह का व्रत अगीकार करने के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नही है।

• □ •

२७ | अपरिग्रह : पाश्चात्य विचार-दृष्टि

☐ डॉ. सी. एम. जैन

भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित अपरिग्रह सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह केवल धार्मिक दृष्टि से ही महत्त्व नही रखता वरन् समाज की सम्पूर्ण आर्थिक संरचना में एक विशेष स्थान रखता है। अपरिग्रह का सिद्धान्त धर्म और अर्थ के मध्य व्याप्त सम्बन्ध और इसके परिणामो को व्यापक रूप से अभिव्यक्त करता है। "अपरिग्रह" अथवा "परिग्रह" के स्वरूप, व्यवहार और प्रभाव का अंकन व्यक्ति, समाज व राष्ट्र के जीवन से स्पष्ट रूप से किया जा सकता है। अनेक अर्थशास्त्रियो, धार्मिक व राजनीतिक विचारधाराओ ने परिग्रह व अपरिग्रह की प्रवृत्ति का आर्थिक निरूपण भी किया है। प्रो. लेविस, मेक्सवेबर, कार्ल मार्क्स, लेनिनवाद, प्रोटेस्टेन्ट नीतिशास्त्र मे परिग्रह के स्वरूप व परिणामो की विवेचना की है जो धार्मिक तथा आर्थिक दोनो ही दृष्टियो से अध्ययनार्थ है।

इसके पूर्व कि हम परिग्रह तथा अपरिग्रह के स्वरूप व व्यवहार का विवेचन करे, दोनों के बीच व्याप्त अन्तर स्पष्ट करना उचित होगा। "परिग्रह" एक तृष्णा है जो सदैव अतृप्त रहती है। परिग्रह एक मूर्च्छाभाव है जो मनुष्य को विविध प्रकार की पापमय प्रवृत्तियों मे धकेलता है। यह एक आसक्ति है जो मानव को सासारिक पदार्थो के प्रति आसक्त रखती है। सक्षिप्त मे मूर्च्छाभाव से सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करने की प्रवृत्ति परिग्रह है।

दूसरी ओर अपरिग्रह (परिग्रह-परिमाण व्रत) एक अणुव्रत है जो इच्छाओ को सीमित करता है, इच्छाओ और आवश्यकताओ मे अन्तर करता है व साधनो की सीमितता को स्वीकार करते हुए उचित साधनो के माध्यम से आवश्यकताओ की पूर्ति पर जोर देता है। किसी लेखक ने अपरिग्रह की परिभाषा देते हुए "मोह के उदय से होने वाली 'पर' मे ममत्त्व वुद्धि से निवृत्त होना" कहा है। अपरिग्रह का अणुव्रत अनासक्ति पर जोर देता है। वह परिग्रह को अनेक पापो व वुराइयों का जन्मदाता मानता है। परिग्रह का वशवर्ती मनुष्य अब्रह्मचर्य, असत्य, चोरी व हिसा की ओर अग्रसर होता है। परिग्रह से ग्रसित व्यक्ति काम, मोह-माया के जंजाल मे फसा रहता है और अनुचित व अनावश्यक की प्राप्ति मे अपनी वुद्धि का प्रयोग करता है। आध्यात्मिक व धार्मिक दृष्टि से "परिग्रह"—

"आसक्ति" है और अपरिग्रह "अनासक्ति"। अपरिग्रह की प्रवृत्ति से ही मनुष्य मे ब्रह्मचर्य, सत्य, अस्तेय व अहिंसा का उदय हो सकता है अर्थात् भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित चारों अणुव्रतों की प्राप्ति अपरिग्रह के महत्त्वपूर्ण अणुव्रत पर निर्भर करती है।

संक्षेप में अपरिग्रह का उदात्त आदर्श परिग्रह को मूर्च्छा, अविवेक, आसक्ति, अनर्थों की जड़, पिशाच प्रवृत्ति मानता है। अपरिग्रह का मूल, संयम, इच्छा-शक्ति पर नियंत्रण अथवा अनासक्ति पर जोर देता है। अपरिग्रह के आदर्श के अनुसार परिग्रह के मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग पाँच कारण बताये है। आगम के अनुसार मिथ्यात्व, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और वेद आदि आन्तरिक परिग्रह के चौदह भेद है।

परिग्रह-अपरिग्रह का एक सैद्धान्तिक धार्मिक-आर्थिक पक्ष भी है। प्रो. स्पैंग्लर के अनुसार मनुष्य की आर्थिक नीतियो में धार्मिक प्रवृत्तियों का सफलता से प्रभाव देखा जा सकता है। उसने आर्थिक विकास का विश्लेषण करते हुए उनमे मानवीय प्रवृत्ति के मूल्यो को स्पष्ट किया है। प्रो लेबिस जैसे अर्थशास्त्री ने यह भी कहा है कि प्रायः आर्थिक व्यवहार मानव मूल्यो का संहार भी कर देता है। मेक्सवेबर ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "प्रोटेस्टेन्ट एथिक्स एण्ड स्प्रिट ऑफ केपिटलिज्म" मे स्पष्ट किया है कि आर्थिक जीवन पर धार्मिक मूल्यों के प्रभाव के महत्त्व को कम नही किया जा सकता। वेबर के अनुसार "धर्म को उद्योग व अपरिग्रह दोनो का समान विकास करने मे सहयोग करना चाहिये।" प्रोटेस्टेन्टवाद के अनुसार "उत्पादन बढ़ाना परिग्रह नही है वरन् उत्पादन-वृद्धि मे उत्पन्न अविवेकी आनन्द की ओर उन्मुख होना परिग्रह है और वह प्राकृतिक रूप से हानिकारक है।" अर्थशास्त्री रोबिन्स का "इच्छाओं पर संयम अथवा असीमित इच्छाये व सीमित साधन" का सिद्धान्त हमारे अपरिग्रह के सिद्धान्त के बहुत निकट है। गाधीजी ने सम्पत्ति को एक धरोहर माना है। उनका ट्रस्टी-शिप का सिद्धान्त आर्थिक परिग्रह के अनुचित प्रभावों से समाज को मुक्त करता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से सार रूप मे अपरिग्रह का सिद्धान्त मनुष्य को धन-सचय, सम्पत्ति-सचय अथवा अन्य प्रकार के लाभ-सचय से रोकता है।

परिग्रह-अपरिग्रह का एक व्यावहारिक आर्थिक पक्ष भी है जो विशेष महत्त्व का है। "परिग्रह" से ग्रसित चाहे व्यक्ति हो या राष्ट्र, सम्पूर्ण जगत् को आर्थिक पृष्ठभूमि में देखता है। समाज मे वर्गीय आधार को स्वीकार कर गरीब व अमीर का भेद करता है, आर्थिक प्रभाव को मानकर गरीब का शोषण करता है तथा अपनी आर्थिक प्रतिष्ठा को बढाता रहता है। राष्ट्रीय स्तर पर, परिग्रह की प्रवृत्ति, पूंजीवाद को जन्म देती है, आर्थिक शोषण-साम्राज्यवाद को प्रबल

करता है, उत्पादन बढाकर मंडियों के विस्तार पर जोर देता है तथा आर्थिक लाभ से प्रेरित राष्ट्र युद्ध व हिसा को समर्थन देने लगते है। मार्क्सवाद परिग्रह से उत्पन्न पूंजीवाद को समाप्त कर शोपणविहीन समाजवाद की चर्चा करता है। मार्क्सवाद के निम्न पाँच स्वरूप अपरिग्रह को समझने के लिये महत्त्वपूर्ण है। मार्क्सवाद के अनुसार :—

(१) मानव का इतिहास आर्थिक प्रभावों से प्रतिवन्धित है।
(२) समाज मे दो वर्ग हो गये है – शोषक व शोपित।
(३) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त।
(४) शोषक के विपरीत शोषित का आन्दोलन।
(५) अंत मे शोषित की विजय तथा एक नये समाजवादी समाज का निर्माण।

आर्थिक परिग्रह से परास्त राष्ट्र आर्थिक संग्रह को बढावा देते है, गरीव का आर्थिक शोषण करते है। आर्थिक साम्राज्यवाद को जन्म देते है तथा पूंजीवाद को बढावा देते है। इस प्रकार पूजीवाद परिग्रह का परिचायक है और समाजवाद अपरिग्रह पर आधारित विचारधारा है।

आज हमे अपरिग्रह के सिद्धान्त को केवल धार्मिक परिधि मे न देखकर उसे सम्पूर्ण समाज, राष्ट्र और विश्व के सन्दर्भ मे देखना चाहिये। इस दृष्टि से अपरिग्रह–सिद्धान्त, उत्पादन वृद्धि, नयी खोजो, तकनीकी विकास को सकुचित नही करता है बल्कि आर्थिक होड़, आर्थिक साम्राज्यवाद और आर्थिक हिसा की रोक पर जोर देता है। आज के सदर्भ में अपरिग्रह का सिद्धान्त व्यक्ति-विकास को सही गति प्रदान करता है और विश्व को अंधाधुन्ध होड से सयमित कर एक लोकतान्त्रिक समाजवादी शान्तिपूर्ण समाज के निर्माण मे सहयोग देता है। इस प्रकार अपरिग्रह का सिद्धान्त केवल व्यक्तिगत मूल्यों तक ही सीमित नही है बल्कि व्यापक अर्थ मे आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ राष्ट्र के निर्माण मे योग देने वाला सिद्धान्त है।

☐ ☐ ☐

परिग्रह–जल

जालस्स जहा अते रमति, मच्छा भय अयाणंता।
तह संगादिसु जीवा, रमति ससारमगणता ॥

—भगवती आराधना १२७५

जाल के भय को नही जानने वाली मछलियाँ जैसे जाल के समीप खेलती-कूदती है, वैसे ही संसारी जीव संसार-भय से रहित परिग्रह मे रमण करते है।

२८

उपभोग बनाम उपयोग

☐ डॉ० नरेन्द्र भानावत

मनुष्य अकेला जन्म लेता है। जन्म के साथ उसके पूर्व जन्म के संस्कार साथ आते है। शारीरिक विकास के साथ-साथ वे संस्कार माता-पिता, परिवार, समाज, धर्म, राजनीति आदि का परिवेश पाकर विकसित होते रहते है। सस्कार बीज रूप होते है। परिवेशगत खाद, पानी, हवा, प्रकाश आदि पाकर वे अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होते है। सामान्यत देखने मे आता है कि यदि बीज की नस्ल अच्छी होती है, उर्वरक होती है तो उससे अच्छा फल मिलता है। इसी प्रकार मनुष्य के सर्वागीण विकास मे सस्कारो की भूमिका उसकी विविध प्रवृत्तियों और गतिविधियो को वहुत दूर तक प्रभावित करती है।

मनुष्य के विकास मे प्रकृति और समाज का बडा योगदान है। सद्-संस्कार पाकर मनुष्य प्रकृति और समाज के साथ अपना आत्मीय और अनुरागात्मक सम्बन्ध जोड़ता है पर यदि संस्कार कुत्सित है तो वह प्रकृति और समाज की सुविधाओ का और शक्ति का केवल अपने स्वार्थ के लिए उपभोग करने का भाव विकसित करता है जिससे उसकी दृष्टि भोगमूलक बनती है और यदि उसमे अपने से परे जो शेप सृष्टि है, उसके प्रति प्रेम, दया, मैत्री और सहयोग का भाव जाग्रत होता है तो वह अपने संकुचित स्वार्थो से ऊपर उठकर प्रकृति और समाज की सम्पदा का उपयोग दूसरों के लिए करने के लिए, उसमें सहयोगी बनने के लिए, प्रवृत्त होता है। तब उसमें उपयोगमूलक परमार्थ दृष्टि विकसित होती है। प्रकारान्तर से प्रथम प्रकार की दृष्टि मे परिग्रह की भावना और दूसरे प्रकार की दृष्टि मे अपरिग्रह की भावना अनुस्यूत रहती है।

परिग्रह के मूल में ममता या मूर्च्छा भाव निहित रहता है, जो भोगेच्छा का परिणाम है। भोग का मुख्य साधन मन और इन्द्रियाँ है। यदि मन की वृत्ति भोगोन्मुखी होती है तो इन्द्रियाँ वेलगाम घोडों की भाँति विषयो की ओर दौडने लगती है। आज हम जिस सस्कृति मे जी रहे है, उसमे भोगवृत्ति की प्रधानता है। प्रकारान्तर से हम आज की सस्कृति को उपभोक्ता संस्कृति कह सकते है। इस सस्कृति मे वास्तविक अभाव को दूर करने के लिए उत्पादन क्षमता वढाने के साथ-साथ कृत्रिम अभाव पैदा कर, उपभोग की भूख वढाकर आवश्यकताओ का विस्तार किया जाता है। इस प्रकार पूर्ति की अपेक्षा माग वढाकर अतिरिक्त लालसा का क्षेत्र विस्तृत किया जाता है। व्यक्ति इस दुष्चक्र में सुख समझने

लगता है और उसके लिए येन-केन-प्रकारेण साधन जुटाने के लिए वेचैन और व्यग्र रहता है। आवश्यकताओ को इच्छा समझकर वह उनकी पूर्ति में अपनी चेतना और विवेक को निम्न स्तर पर उतार लाता है और ऐसी मानसिकता मे जीने लगता है जहाँ दूसरो से अधिक से अधिक प्राप्ति का भाव निरन्तर वना रहता है। यही नही जो अप्राप्त है उसे प्राप्त करने के लिए वह सदा चिन्तित रहता है।

कामना पूर्ति और भोग लिप्सा का दवाव मनुष्य की संवेदना को कुण्ठित कर देता है। अपने इर्द-गिर्द जो प्रकृति और समाज है, उसके प्रति लगाव के बजाय, बिखराव और दोहन के वजाय शोपण की वृत्ति पनपने लगती है। प्रकृति की थल, जल और वायु सम्बन्धी जो सतुलित सम्पदा है उसे असतुलित वनाकर वह अपने लिए अधिक भोग सामग्री जुटाना चाहता है। परिणामस्वरूप प्रदूपण के रूप में भयकर समस्या आज हमारे सामने आने लगी है।

भोग की लिप्सा व्यक्ति को जड और मूर्च्छित वना देती है। उसकी शक्ति का क्षरण होने लगता है और वह धीरे-धीरे अपनी प्राण चेतना खो वैठता है। सयम की शक्ति का क्षरण होने के कारण वह निम्नस्तरीय भोग भूमि का ससार जो अन्ततः दुःख रूप है, अपने चारो ओर विकसित कर लेता है। यही ससार नरक है जिसके शास्त्रो मे सात प्रकार बताये गये है। हमारी दृष्टि से पहले स्तर रत्नप्रभा में भोग का सुख रत्न की चमक की तरह आर्कषित करता है। सुख-प्रियता के भ्रम मे प्राणी डूबा रहता है। दूसरे स्तर शर्कराप्रभा मे शक्कर की मिठास की तरह भोग का सुख मधुर लगता है। तीसरे स्तर वालुका प्रभा मे रस रहता ही नही। भोग का सुख रेत की तरह नीरसता में बदल जाता है। चौथे स्तर पकप्रभा मे प्राणी विषय सुख के दलदल मे फसकर द्वन्द्व की स्थिति मे जीने लगता है। भोग-सुख की दासता मे आबद्ध प्राणी दुःखी होते हुए भी उसे छोड नही पाता। पाँचवे स्तर धूमप्रभा मे उसकी दृष्टि धूमिल हो जाती है और जीवन मे धुँआ की तरह निराशा छा जाती है। छठे स्तर तमप्रभा मे प्राणी विमूढ बन जाता है। उसे चारो ओर अधकार ही अधकार दिखाई पडता है। सातवे स्तर महातम प्रभा मे वह हीन भावना से ग्रस्त होकर निविड़तम में डूब जाता है दु.ख के गर्त मे फंस जाता है। ये सातों अनुभव भोगवृत्ति की पूर्ति के लिये किये गये आरम्भ-परिग्रह की प्रवृत्तियो और उनके दुखद परिणामो के क्रमिक स्तर को द्योतित करते है।

इस नारकीय दु.ख से तभी मुक्त हुआ जा सकता है जव उपयोग दृष्टि का विकास होता है। उपयोग दृष्टि मे विवेक का, कृतज्ञता का भाव होता है। उसमे इच्छाओ का नही आवश्यकताओ की पूर्ति का लक्ष्य रहता है, सयम और शक्ति का समुचित सतुलन रहता है। अपने से परे जो शेष सृष्टि है, उसके प्रति प्रेम, सौहार्द और आत्मीयता की भावना रहती है। इस कारण मानसिक वृत्तियाँ

बिखरती नही, जुड़ती है। उनमे बिखराव नही, भराव होता है। ममत्व नही, समत्व होता है। इसी उपयोग को जीव का लक्षण कहा गया है।

आज हम जिस व्यापक विश्व सकट से गुजर रहे है उसके मूल में उपभोग और उपयोग मूलक दृष्टि का द्वन्द्व है और उत्तरोत्तर यह द्वन्द्व अधिक बढता जा रहा है। इस द्वन्द्व को मिटाने के लिए यह आवश्यक है कि भोगलिप्सा को नियत्रित किया जाय, आवश्यकताओ को कम किया जाय और उपभोग-परिभोग के जो पदार्थ है उनका नियमन किया जाय। स्वैच्छिक राशनिग पद्धति से—आत्म-सयम से हम न केवल अपनी अत:प्रकृति को सतुलित करते है वरन् बाह्य पर्यावरण को भी शुद्ध बनाते है। सत कबीर ने भोगोन्मुखी मन को नियन्त्रित करने के लिए संयम रूप अकुश की जो बात कही है, वह बडी सटीक है—

मैमंता मन मारि के, घर ही माहे घेरि ।
जब ही चाले पीठि दे, अकुश देदे फेरि ।।

शब्द निरुक्ति की दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि उपभोग में 'उप' और 'भोग' दो शब्द है। भोग शब्द 'भुज्' धातु से बना है जिसके मुख्य दो अर्थ हैं। एक खाना, पीना, आस्वाद लेना, शारीरिक भूख मिटाना और दूसरा अर्थ है पालन करना, रक्षा करना। 'उप' का अर्थ है—समीपता या निकटता, चेष्टा और प्रयत्न। इस प्रकार उपभोग का एक अर्थ हुआ चेष्टापूर्वक पदार्थ के प्रति ममत्व स्थापित कर शारीरिक सुख पूर्ति के लिए उसका भोग करना और दूसरा अर्थ है पदार्थ के प्रति आत्मीय भाव स्थापित कर उसके पालन या रक्षण के लिए सचेष्ट रहना। यह दूसरा अर्थ आज गौण हो गया है। ज्यों-ज्यो यह दूसरा अर्थ प्रधान बनता जाता है त्यो-त्यो उपभोग मे उपयोग का भाव बढता जाता है। उपयोग मे भी दो शब्द है। 'उप' और 'योग'। योग 'युज' धातु से बना है जिसका अर्थ है मिलना, जुडना, स्थिर होना। 'उप' का अर्थ है योग्यतापूर्वक। इस प्रकार उपयोग का अर्थ हुआ योग्यतापूर्वक मिलना या जुड़ना अर्थात् अपनी समस्त योग्यताओ को परस्पर जोडने मे संयुक्त करना। इस प्रवृत्ति में भोग की अपेक्षा त्यागभाव की प्रधानता रहती है। यह त्यागभाव दूसरो के प्रति आत्मीय और समर्पण का भाव विकसित करता है। इससे दृष्टि विशुद्ध बनती है। यह विशुद्ध दृष्टि हंस की तरह है जो सार तत्त्व को ग्रहण करती है। उसके विपरीत जो भोग दृष्टि है वह बगुले की तरह है जो विषय रूप जल का आचमन कर, संसार-सागर को दूषित कर देती है—

बगुली नीर बटालिया, सायर चड्या कलक ।
और पखेरू पी गये, हस न बोवे चच ।।

ऐसी उपयोग दृष्टि अहिसा, सयम और तप रूप धर्माराधना से ही सम्भव है। OOO

२६

भोगवृत्ति और इन्द्रिय-निग्रह

☐ श्री चाँदमल कर्णावट

भारतीय संस्कृति और विशेषत: जैन या श्रमण संस्कृति भोग प्रधान न होकर त्याग प्रधान रही है। सामान्य गृहस्थ से लेकर सेठ साहूकार और राजा महाराजा तक भोगो को ठुकराकर त्याग मार्ग पर अग्रसर होते रहे है। त्यागी आत्माओ के चरणो में सभी के मस्तक झुकते रहे है। वास्तविकता यह है कि यहाँ सुख की अवधारणा ही भोग के स्थान पर त्याग मे निहित मानी गई है।

मानव मन की शुभाशुभ वृत्तियाँ ही शुभाशुभ प्रवृत्तियो की जनक हैं। युद्ध, सहार और अशांति सर्वप्रथम मानव मन मे ही उद्भूत होती है और तब वे बाहर प्रकट होती है। विश्वव्यापी सघर्ष और मूल्यो के महान् सकट का मूल कारण मानव-मन की भोगवृत्ति ही है। मनोवैज्ञानिक इनकी चुनौतियो का सामना करने मे विफल ही रहे है।

भोगवृत्ति—अर्थ एवं अवधारणा

भोगवृत्ति को विजय करने के लिए इसे समझना आवश्यक है। वृत्ति एक आतरिक अवधारणा है। यह एक विचारणा और भावना है जो मन और विचारो से संबंधित प्रत्यय है। हमारी वृत्तियाँ ही हमारे विभिन्न व्यवहारो का कारण है। यही कारण है कि भगवान् महावीर आदि सभी तीर्थंकरो ने ससार की समस्याओं का मूल कारण बाहरी जगत् मे न खोजकर मानव के अतर्जगत मे खोजा है।

भोगवृत्ति पदार्थों एवं परिजनो के प्रति आसक्ति की भावना है। वह ममत्व का व्यवहार है जिसके दल-दल मे फँसा हुआ प्राणी उससे मुक्ति का उपाय जानते हुए भी मुक्त नही हो सकता। 'उत्तराध्ययन' सूत्र मे बताया गया है कि भोगवृत्ति वाला मानव कीचड़ मे फँसे हाथी की तरह उसमे धँसता जाता है। स्थल देखकर भी किनारे नही आ सकता।[1]

भोगासक्त मानव मन भोग्य पदार्थो को ही सारभूत समझता है। वह इन्द्रिय विषयो को ही सार्थक मानते हुए उनमे सुखानुभूति करता है और उन्हे शाश्वत मानता है। शास्त्रकारो ने 'सल्लकामा, विसकामा' कहकर इन्द्रिय विषयो को

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन १३, गाथा ३०

विषतुल्य बताया है ।[१] परन्तु भोगी आत्मा उनमे अमृत तत्त्व का दर्शन करती और उन्हे सुखदायक मानती है । शास्त्रो में जहाँ भोगो को क्षणिक सुख देने वाला और अनर्थो की खान माना है[२] वहाँ भोगी मन उन्हे शाश्वत एव सार्थक मानने वाला होता है ।

भोगों की लालसा मानवमन को पागल बना देती है । भोग्य पदार्थो मे तन्मय बना वह अपने आत्मस्वरूप का भान भुला देता है । उसका भोगासक्त मन भोगो के परिणाम का विचार न करते हुए भोगान्ध बन जाता है ।[३] वह विवेकशून्य बनकर भोग भोगने मे ही जीवन की सफलता समझने लगता है । भोगी मन इन्द्रिय विषयो को भोगते हुए कभी सतोष का अनुभव नही करता और अमर्यादित जीवन जीते हुए इन्द्रिय विषयो मे डूबा रहता है । आचार्य हेमचन्द्र ने समभाव की साधना की चर्चा करते हुए निर्ममत्व भाव का उल्लेख किया है ।[४] इससे ज्ञात होता है कि भोगवृत्ति का एक घटक ममत्व भाव है । यह मेरापन, पदार्थो के साथ मेरेपन का भाव भोगवृत्ति को प्रोत्साहन देने वाला होता है ।

भोगवृत्ति एक व्यापक अवधारणा है जो खानपान की वस्तुओ तक ही सीमित न होकर सभी इन्द्रियो के विषयो का समावेश करती है । खान-पान के अतिरिक्त देखने, सूंघने, सुनने एव स्पर्श करने सबधी सभी पदार्थो का भोग भी भोगी मन करना चाहता है और उनमे सुख अनुभव करता है । सभी इन्द्रिय-विषयों की अपेक्षा से भोगवृत्ति की यह व्यापक धारणा स्वीकार की जानी चाहिए, केवल भोगी या केवल कामी इन्द्रियो की अपेक्षा से ही नही ।

भोगवृत्ति की इस व्याख्या के बाद अब इन्द्रिय-निग्रह की अवधारणा को समझ लेना उपयोगी होगा ।

इन्द्रिय-निग्रह—अर्थ एवं अवधारणा

जैन दर्शन में इन्द्रिय-निग्रह का अर्थ इन्द्रियों पर नियत्रण करना या इन्द्रियो को वश मे करना ही है, परन्तु उसका स्वरूप जैन दर्शन का अपना है । उसके साधन और उसका साध्य अपना है । जैन दर्शन इन्द्रियों के अज्ञानपूर्वक दमन के स्थान पर शमन पर बल देता है । इन्द्रिय-निग्रह के लिए यहाँ इन्द्रिय-सवर, इन्द्रिय-सयम, इन्द्रिय-शमन तथा इन्द्रिय विषयों की मर्यादा जैसे नामो का

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन ९, गाथा ५३
२ वही, अध्ययन १४, गाथा १३
३ उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन १९, गाथा १८
४ योग सूत्र—आचार्य हेमचन्द्र, चतुर्थ प्रकाश, श्लोक ५५

प्रयोग हुआ है । इन्द्रियों के विषय है और वे इन्द्रियो के समक्ष आएँगे ही। परन्तु हमारी चेतना इन्द्रिय-विषयो के माध्यम से विकार ग्रस्त न हो, शुभाशुभ विषयो में राग-द्वेष की परिणति न करे, यही इन्द्रिह-निग्रह की अवधारणा है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप को उपलब्ध करना साध्य है और इन्द्रिय-निग्रह उसका साधन है। प्रभु महावीर का कथन है कि जब तक इन्द्रियाँ हीन नही हो जाती, तब तक धर्मा-चरण करलो । क्योंकि इनके बिना धर्म भी नही हो सकता ।[1] मुक्ति के साध्य के लिए इन्द्रिय-सवर की साधना का प्रयोग ज्ञानपूर्वक होना चाहिए । इन्द्रिय-संवर चारित्र का एक अग है, जिसकी साधना सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनपूर्वक होनी चाहिए।

'उत्तराध्ययन' सूत्र मे संयम और तप से आत्मा को वश करने की बात कही गई है, बन्धन और दण्ड से नही ।[2] इससे भी इन्द्रिय निग्रह की धारणा स्पष्ट होती है कि इन्द्रिय निग्रह सयम और तप से करना उचित है। इन्द्रिय और मन को मारना नही अपितु उन्हे साधना ही जैन धर्म का आघोष है। इन्द्रिय-सयम और इन्द्रिय-सवर दोनो में सम्यक्ज्ञानपूर्वक, विवेकपूर्वक इन्द्रियो को जीतने का कथन है ।

मनोवैज्ञानिको के उदात्तीकरण (Sublimation) की प्रक्रिया से भी उच्च भावना जैन दर्शन की इन्द्रिय-निग्रह की धारणा में निहित है जो केवल अशुभ से शुभ तक ही सीमित न होकर चेतना के शुद्ध स्वरूप तक पहुँचाने की व्याख्या करती है । वीतरागता की साधना उसी का उच्चतम रूप है ।

इच्छाओ को सीमित करने मे भी इन्द्रिय-निग्रह की ही सकल्पना निहित है । इन्द्रियो के विषयो को आवश्यकतानुसार मर्यादित करके भी इन्द्रिय-निग्रह की विवेकपूर्वक साधना की जा सकती है । अमर्यादित जीवन खतरनाक है और मर्यादित जीवन सुख-शान्ति का आधार है । 'ज्ञाताधर्मक्थांग' मे दो कछुओ के दृष्टात से इसे स्पष्ट किया गया है । कछुए की तरह अपनी इन्द्रियो को संयमित करने में ही जीवन का हित निहित है ।

'योगसूत्र' में हेमचन्द्राचार्य ने समभाव की साधना की चर्चा करते हुए उदासीनता या तटस्थता के भाव का उल्लेख किया है ।[3] उनके अनुसार इन्द्रिय विपयो के होते हुए भी उनके प्रति तटस्थ रहकर अथवा उदासीन रहकर उनमे रुचि नही लेते हुए, इन्द्रिय-निग्रह की साधना की जा सकती है ।

---

१ महावीर की साधना का रहस्य, मुनि नथमल, पृ ७२

२ उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन १, गाथा १६

३ योग सूत्र—आचार्य हेमचन्द्र, प्रकाश ४, गाथा ५५-५६

जैन साधना पद्धति मे तपोयोग में समिति, ग्रन्थि और इन्द्रिय प्रति-संलीनता की व्याख्या के सन्दर्भ में इन्द्रिय विषयो के अग्रहण और प्राप्त विषयो में राग-द्वेष नही करने का उल्लेख है। इन्द्रिय निग्रह के लिए यहाँ अंतर्मुखी बनने की प्रेरणा दी गई है। बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बनने की साधना भी इन्द्रिय निग्रह की साधना है।[1]

भोग से त्याग की ओर

भोगवृत्ति एवं इन्द्रिय निग्रह की अवधारणा को दृष्टि मे रखते हुए भोग से त्याग की ओर प्रवृत्ति जैन दर्शन का अभीष्ट है। संपूर्ण त्याग ही श्रेष्ठ और उत्तम है परंतु आगार धर्म के अनुसार गृहस्थ भोग्य पदार्थों की मर्यादा करके उनका परिमाण करके भी त्यागमय जीवन जी सकता है।

नैतिक शान्तिपूर्ण एव स्वस्थ जीवन के लिए भोगोपभोग वस्तुओं का परिमाण सुखमय जीवनयापन के लिए आवश्यक है। 'भोगे रोगभयम्' के अनुसार भोग रोगो का घर है। भोग अनेकविध रोगों को जन्म देकर जीवन को भार बना सकते है जिससे स्वास्थ्य चौपट होकर जीवन की शाति भग हो जाती है। व्यक्ति जितनी अधिक आवश्यकताएँ बढाएगा, उन्हे मर्यादित और सीमित नही करेगा, उतना ही स्वयं के लिए तथा समाज के लिए हानिकारक सिद्ध होगा। बढी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे अन्याय और अनीति का सहारा लेना होगा और यही से अनैतिकता की बुनियाद पड़ जायगी। वह समाज की आँखो मे काँटे की भाँति खटकने लगेगा। वीतराग परमात्मा ने इसीलिए आगार धर्म का उपदेश दिया।

न्यायपूर्ण सामाजिक जीवन के लिए भोगोपभोग-परिमाण का जीवन जीने की श्रेष्ठ कला है। 'उपासकदशाग' सूत्र मे आनन्दादि श्रावकों द्वारा ग्रहण किया गया व्रती जीवन, मर्यादित जीवन-गृहस्थो के लिए आदर्श है। आनंद आदि ने श्रीमन्त होते हुए भी आहार-विहार आदि में अन्य लोगों के समान ही अपनी स्थिति बना रखी थी, जिससे विषमता का निवारण हुआ। लोगो के मन मे ईर्ष्या के स्थान पर उनके प्रति समाज में श्रद्धा के भाव जागृत हुए। सामाजिक जीवन मे व्याप्त विषमता के निवारण हेतु, सुखी जीवन हेतु भोगोपभोग परिमाण वरदान सिद्ध हुआ है।

मनोविजय, इन्द्रिय-विजय एव श्रुत-साधना द्वारा भोगवृत्ति पर विजय पाने का प्रयास भोगोपभोग परिमाण के लिए आवश्यक है। 'उत्तराध्ययन' सूत्र के २३वे अध्याय मे केशी-गौतम संवाद के माध्यम से बताया गया है कि मन

---

१. जैन साधना पद्धति मे तपोयोग, मुनि श्रीचन्द्र 'कमल', पृष्ठ ६६

पर विजय करके पाँचों इन्द्रियों पर विजय की जा सकती है और फिर क्रोधादि कषायों को भी जीता जा सकता है। उन्मार्ग में जाते हुए मन को श्रुत रूपी रस्सी से साधा जा सकता है। "इन्द्रियों पर काबू किये विना कषायों को जीतने के लिए कोई समर्थ नही हो सकता।"[1]

भोगवृत्ति पर विजय करने के लिए वैराग्य भावना परम सहायक है। मन यदि ससार की तन, धन एवं परिवार की नश्वरता का विचार करे तो उसमे इन भोगों के प्रति विरक्ति उत्पन्न होगी। यह विरक्ति भाव मानव मन को नया मोड़ देने मे समर्थ है। फिर अभ्यास तो सबसे बडा गुरु है। क्रमशः कुछ परिमाण करते हुए उपभोग परिभोग परिमाण के पूर्णव्रत को ग्रहण करने मे कठिनाई नही होगी।

पदार्थो की ओर से मन को हटाकर मानव मन यह चितन करे कि जिन पदार्थो को प्राप्त करने मे भी दुःख है, प्राप्त भोगों के सरक्षण में भी दुःख है और पदार्थो के वियोग मे भी दुःख है। पदार्थो की नश्वरता, उनकी जड़ता और आत्मा की अमरता, चेतनता के विचार से भेद विज्ञान के द्वारा भोगो से उपरति विकसित हो सकेगी। पदार्थो को केवल पदार्थ रूप मे ही देखकर उनके प्रति कोई प्रतिक्रिया नही करने का अभ्यास त्यागवृत्ति को दृढ़ीभूत कर सकेगा। केवल ज्ञाताद्रष्टा बनकर कोई प्रतिक्रिया नही करने का अभ्यास निश्चित ही भोगो के प्रति आकर्षण को समाप्त कर सकेगा। ममत्व भाव के घटाने से समत्व भाव की वृद्धि होगी। संसार के सारे पदार्थ मिल जायें तब भी भोगों से तृप्ति संभव नही। यह तो सतोष और मर्यादा से ही संभव है। इन विचारों का पुनः-पुनः अभ्यास भोगवृत्ति के विजय योग्य आचार को मूर्त रूप दे सकेगा। योग साधना इसके हल में अत्यत सहायक हो सकती है। योग साधक इस पर विचार कर हल सुझावे।

वृत्तियो और विशेषतः भोगवृत्ति पर विजय के लिए मनोवैज्ञानिको, शरीरवैज्ञानिको, धर्म एव दर्शनवेत्ताओ के मिलेजुले प्रयास अपेक्षित है।

□ □ □

१. आचार्य हेमचन्द्र—योगसूत्र, श्लोक २४, चतुर्थ प्रकाश

३०

भोगवृत्ति के चार रूप

☐ श्री केशरीकिशोर नलवाया

भोग प्रकृति की प्रधान व्यवस्था है। सामग्रियाँ उपभोग की साधन मात्र है। योग अमरत्व देता है। भोग मृत्यु। रतिपति कामदेव रसराज शृंगार के स्वामी है। शृंगार की अनुभूति, भोग, उपभोग और सभोग से होती है। जीव मात्र भोग से जन्मा, भोग-उपभोग मे पला, बड़ा हुआ और भोग मे ही काल-कवलित हो जाता है।

लेकिन मानव! मानव तो सर्व ससारी जीवों में श्रेष्ठतम प्राणी है। ऐश्वर्य से युक्त, सर्वेन्द्रियो से परिपूर्ण, मन, मस्तिष्क एव आत्मज्योति से ज्योतित एवं मडित है।

आत्मज्योति का मूलाधार प्रेम और सत्य है। यही उसके आदर्श है। त्याग उनकी प्राप्ति का प्रशस्त पथ है। चिर अमरत्व चरित्र प्रधान है। प्रेम और सत्य शाश्वत है। मोह बन्धन है। वासना नश्वर है। भोग निकृष्ट और संभोग निकृष्टतम है।

परिग्रह की सम्पन्नता, सत्ता का मद और यौवन का दर्प मानव को दानव वना देता है। उसे एक ही रस प्यारा होता है—शृंगार और भोग। जो इनसे विरत हो जाते है वे दानव से मानव, मानव से देव और देव से सिद्ध बन जाते है।

पहला रूप

मैने शृगार को भोगना चाहा। उसे संवारना चाहा, भोग और सभोग से मैने सुख और वैभव की पराकाष्ठा को देखा और देखा भोगविलास की चरम सीमा को। सुनी—भूख-प्यास की चीखे और क्रन्दनयुक्त चीत्कारे। प्रकृति का ताडव और चीत्कारों की वीभत्स ध्वनियाँ। किये प्रकृति के सौन्दर्य मे भयावह विद्रूपता के दर्शन। फिर भी मै उसकी गहराइयो मे गोते लगाता रहा। मैने देखा कि वह जीर्ण, शीर्ण, स्वादहीन अपने कर्मो पर सिर धुनता हुआ रो रहा था। अपने मित्र विरह और करुणा के साथ।

दृश्य अत्यन्त ही वीभत्स और दयनीय था। मैं सिहर उठा।

दूसरा रूप

मै भूख और प्यास से त्रस्त विश्व के हर द्वार पर गया। मुझे न भोजन मिला न पानी। मिला सिर्फ परिहास, घृणा, धुतकार, उपेक्षा और मृत्यु। मै थकित कंकाल लिये एक भव्य अट्टालिका के द्वार पर रुका। अन्दर झांका। अन्तरग में रंगरेलियाँ मनाई जा रही थी। नारी के पद चापो की मंद-मंद थिरकन और मृदंग की थाप पर घुंघरुओं की रुनझुन सुनी जा सकती थी। नाना प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजनों की भीनी-भीनी महक। सभी कुछ मन-मस्तिष्क को मोहित एव मर्माहत करने के लिये काफी था।

मैने द्रुत वाणी मे पुकारा—मै भूखा हूँ। प्यासा हूँ। मुझे कुछ खाने को दो। पीने को दो। भीतर से नाना प्रकार के लोग आये, जिनमे नर-नारियाँ दोनों थी। एक अनन्य सुन्दरी अनावृत्त रूप मे मेरे समक्ष आकर बोली—"लो, मुझ से अपनी भूख मिटालो। अपनी प्यास बुझालो। ये सब भी यही कर रहे है।" इस तरह मेरा उपहास करती हुई विकृत हँसी हँसने लगी। खडा हुआ समाज भी हँसने लगा।

मेरी पहली भूख-प्यास तो शात हुई नही। दूसरी भूख-प्यास जागृत हो गई। मै चीख उठा। भूख-प्यास,के गठबन्धन ने मेरे प्राण ले लिये।

'कामातुराणां न भय न लज्जा।"

भोग की अतृप्ति मनुष्य को भूखा भेड़िया बना देती है।

तीसरा रूप

त्रेता युग की बात है। नगर के बाहर बावड़ी पर कुछ नारिया अर्ध अनावृत्त होकर स्नान कर रही थी। आठ दस वर्ष का एक नग्न बालक, सहज भाव से बावड़ी की ओर देखता हुआ दौड़कर निकल गया। नारियां नहाती रही। उनमे न कोई हरकत हुई न किसी तरह की परेशानी। उनका कार्य यथावत् चलता रहा।

बावड़ी के पास ही एक तपस्वी ऋषि का आश्रम था। दो मिनट बाद ऋषि आश्रम से बाहर निकले नगर मे जाने के लिये। मार्ग में बावडी पडती थी। अपने गतव्य की ओर गमन करते हुए ऋषि के मन मे कुछ विकृति आ गई। में विकार था। एक पल के लिये ऋषि की दृष्टि नहाती हुई नारियो की ओर उठ गई।

नारियो मे एकाएक हलचल मच गई। किसी ने मस्तक ढक लिया। किसी ने वक्षस्थल। कोई सिकुड़ कर बैठ गई। किसी ने दूसरी की ओट लेली। एक महिला से रहा नही गया। बोल उठी—"मुए के पैर तो मसानो मे लटक गये

है। मुनि होकर भी मन नहीं मार सका। ढोंगी कहीं का, बड़ा तपस्वी बना फिरता है।"

बात ऋषि के कानों तक नहीं पहुँच सकी। ऋषि चला गया।

घटे भर बाद जब मुनि वापस लौटे, नारियां नहा चुकी थीं। वस्त्र समेट रही थीं। मुनि ने बावड़ी पर विराम कर नारियों से पूछा—"मेरे जाने के पूर्व दस वर्ष का एक नग्न बालक इधर से गुजरा था आप सबको निहारते हुए। लेकिन आप में किसी तरह की हरकत या हलचल नहीं हुई थी। किसी तरह का ऐतराज भी नहीं किया था। मुझ को इधर से जाते हुए देखकर आप सब इतनी घबरा क्यों गई थीं?"

एक वृद्ध महिला ने उत्तर दिया—"आपके प्रश्न का उत्तर आप अपनी आँखों से पूछिये। ये आँखे ही तो सब अनर्थो की जड़ हैं। ऋषिवर! भोग मे अतृप्ति, वैराग्य मे विकृति का पथ प्रशस्त करती है।" ऋषि का मस्तक शर्म से झुक गया। बिना कुछ बोले, ऋषि नतमस्तक आश्रम को चले गये।

चौथा रूप

शिव पार्वती विश्व-भ्रमण पर निकले। मार्ग में एक बानर भूखा प्यासा ज्वर से पीड़ित धूप में पड़ा तड़प रहा था। ममतामयी पार्वती से उसका दारुण दु:ख देखा नही गया। दया से द्रवित हो विनम्र शब्दों मे बोली—"प्राणनाथ! इस दु:खिया को कष्ट मुक्त कर दीजिये।"

"विषयों के लोभी इस बानर की मृत्यु सन्निकट है। इसे अपने कर्मो का फल भुगतने दो।" शिव ने कहा।

"नही देव! इस दु:खिया का दु:ख तो आपको दूर करना ही होगा।" पार्वती ने दृढ किन्तु विनम्र शब्दो मे प्रार्थना की।

"तुम नही मानोगी, पार्वती! अच्छा–उपाय करता हूँ" कहते हुए शिव ने बानर से पाँच कदम दूर एक गोल घेरा बनाकर, उसमे एक पका हुआ केला रख दिया। पश्चात् बानर से बोले—"हे बानर! तुम मुक्ति चाहते हो या मृत्यु?"

"मुक्ति कौन नही चाहता, भगवन्!" बानर का स्वर उभरा।

"तब देखो—तुम्हारे से पाँच कदम दूर एक गोल घेरे मे पका हुआ केला रखा है। यदि दस मिनट तक तुम इसे नही खाओगे तो तुम्हे मुक्ति मिल जायेगी। खा लिया तो मृत्यु निश्चित है।" शिव ने कहा और चल दिये। बानर शात था। शिवजी की बात सुनते ही श्रवणेन्द्रिय जागृत हो गई। श्रवणेन्द्रिय ने चक्षुइन्द्रिय को इशारा किया। वह भी सचेष्ट हो गई। केले को देखा। केला पका हुआ, पीला-पीला और मधुर सुगन्धी से युक्त है। दृष्टि विचलित हुई।

दूसरा रूप

मै भूख और प्यास से त्रस्त विश्व के हर द्वार पर गया। मुझे न भोजन मिला न पानी। मिला सिर्फ परिहास, घृणा, धुतकार, उपेक्षा और मृत्यु। मैं थकित कंकाल लिये एक भव्य अट्टालिका के द्वार पर रुका। अन्दर झाका। अन्तरंग में रंगरेलियाँ मनाई जा रही थी। नारी के पद चापों की मद-मंद थिरकन और मृदंग की थाप पर घुंघरुओं की रुनझुन सुनी जा सकती थी। नाना प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजनों की भीनी-भीनी महक। सभी कुछ मन-मस्तिष्क को मोहित एव मर्माहत करने के लिये काफी था।

मैने द्रुत वाणी मे पुकारा—मै भूखा हूँ। प्यासा हूँ। मुझे कुछ खाने को दो। पीने को दो। भीतर से नाना प्रकार के लोग आये, जिनमे नर-नारियाँ दोनों थी। एक अनन्य सुन्दरी अनावृत्त रूप में मेरे समक्ष आकर बोली—"लो, मुझ से अपनी भूख मिटालो। अपनी प्यास बुझालो। ये सब भी यही कर रहे है।" इस तरह मेरा उपहास करती हुई विकृत हँसी हँसने लगी। खडा हुआ समाज भी हँसने लगा।

मेरी पहली भूख-प्यास तो शात हुई नही। दूसरी भूख-प्यास जागृत हो गई। मै चीख उठा। भूख-प्यास,के गठबन्धन ने मेरे प्राण ले लिये।

'कामातुराणां न भयं न लज्जा।''

भोग की अतृप्ति मनुष्य को भूखा भेड़िया बना देती है।

तीसरा रूप

त्रेता युग की बात है। नगर के बाहर बावड़ी पर कुछ नारियां अर्ध अनावृत्त होकर स्नान कर रही थी। आठ दस वर्ष का एक नग्न बालक, सहज भाव से बावडी की ओर देखता हुआ दौडकर निकल गया। नारिया नहाती रही। उनमे न कोई हरकत हुई न किसी तरह की परेशानी। उनका कार्य यथावत् चलता रहा।

बावड़ी के पास ही एक तपस्वी ऋषि का आश्रम था। दो मिनट बाद ऋषि आश्रम से बाहर निकले नगर मे जाने के लिये। मार्ग में बावडी पड़ती थी। अपने गतव्य की ओर गमन करते हुए ऋषि के मन में कुछ विकृति आ गई। में विकार था। एक पल के लिये ऋषि की दृष्टि नहाती हुई नारियो की ओर उठ गई।

नारियो मे एकाएक हलचल मच गई। किसी ने मस्तक ढक लिया। किसी ने वक्षस्थल। कोई सिकुड़ कर बैठ गई। किसी ने दूसरी की ओट लेली। एक महिला से रहा नही गया। बोल उठी—"मुए के पैर तो मसानों मे लटक गये

है। मुनि होकर भी मन नहीं मार सका। ढोंगी कहीं का, बड़ा तपस्वी बना फिरता है।"

बात ऋषि के कानों तक नहीं पहुँच सकी। ऋषि चला गया।

घंटे भर बाद जब मुनि वापस लौटे, नारियां नहा चुकी थी। वस्त्र समेट रही थी। मुनि ने बावड़ी पर विराम कर नारियों से पूछा—"मेरे जाने के पूर्व दस वर्ष का एक नग्न बालक इधर से गुजरा था आप सबको निहारते हुए। लेकिन आप मे किसी तरह की हरकत या हलचल नही हुई थी। किसी तरह का ऐतराज भी नही किया था। मुझ को इधर से जाते हुए देखकर आप सब इतनी घबरा क्यों गई थी ?"

एक वृद्ध महिला ने उत्तर दिया—"आपके प्रश्न का उत्तर आप अपनी आँखो से पूछिये। ये आँखे ही तो सब अनर्थों की जड है। ऋषिवर ! भोग में अतृप्ति, वैराग्य मे विकृति का पथ प्रशस्त करती है।" ऋषि का मस्तक शर्म से झुक गया। बिना कुछ बोले, ऋषि नतमस्तक आश्रम को चले गये।

चौथा रूप

शिव पार्वती विश्व-भ्रमण पर निकले। मार्ग में एक बानर भूखा प्यासा ज्वर से पीड़ित धूप में पड़ा तड़प रहा था। ममतामयी पार्वती से उसका दारुण दु.ख देखा नही गया। दया से द्रवित हो विनम्र शब्दों मे बोली—"प्राणनाथ ! इस दुःखिया को कष्ट मुक्त कर दीजिये।"

"विषयों के लोभी इस बानर की मृत्यु सन्निकट है। इसे अपने कर्मों का फल भुगतने दो।" शिव ने कहा।

"नही देव ! इस दुःखिया का दुःख तो आपको दूर करना ही होगा।" पार्वती ने दृढ किन्तु विनम्र शब्दो मे प्रार्थना की।

"तुम नही मानोगी, पार्वती ! अच्छा—उपाय करता हूँ" कहते हुए शिव ने बानर से पाँच कदम दूर एक गोल घेरा बनाकर, उसमे एक पका हुआ केला रख दिया। पश्चात् बानर से बोले—"हे बानर ! तुम मुक्ति चाहते हो या मृत्यु ?"

"मुक्ति कौन नही चाहता, भगवन् !" बानर का स्वर उभरा।

"तब देखो—तुम्हारे से पाँच कदम दूर एक गोल घेरे मे पका हुआ केला रखा है। यदि दस मिनट तक तुम इसे नही खाओगे तो तुम्हे मुक्ति मिल जायेगी। खा लिया तो मृत्यु निश्चित है।" शिव ने कहा और चल दिये। बानर शात था। शिवजी की बात सुनते ही श्रवणेन्द्रिय जागृत हो गई। श्रवणेन्द्रिय ने चक्षुइन्द्रिय को इशारा किया। वह भी सचेष्ट हो गई। केले को देखा। केला पका हुआ, पीला-पीला और मधुर सुगन्धी से युक्त है। दृष्टि विचलित हुई।

दूसरा रूप

मैं भूख और प्यास से त्रस्त विश्व के हर द्वार पर गया। मुझे न भोजन मिला न पानी। मिला सिर्फ परिहास, घृणा, धुतकार, उपेक्षा और मृत्यु। मैं थकित कंकाल लिये एक भव्य अट्टालिका के द्वार पर रुका। अन्दर झाका। अन्तरग में रगरेलियाँ मनाई जा रही थी। नारी के पद चापो को मंद-मंद थिरकन और मृदंग की थाप पर घुंघरुओं की रुनझुन सुनी जा सकती थी। नाना प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजनों की भीनी-भीनी महक। सभी कुछ मन-मस्तिष्क को मोहित एवं मर्माहत करने के लिये काफी था।

मैने द्रुत वाणी मे पुकारा—मै भूखा हूँ। प्यासा हूँ। मुझे कुछ खाने को दो। पीने को दो। भीतर से नाना प्रकार के लोग आये, जिनमे नर-नारियाँ दोनों थी। एक अनन्य सुन्दरी अनावृत्त रूप मे मेरे समक्ष आकर बोली—"लो, मुझ से अपनी भूख मिटालो। अपनी प्यास वुझालो। ये सव भी यही कर रहे है।" इस तरह मेरा उपहास करती हुई विकृत हँसी हँसने लगी। खडा हुआ समाज भी हँसने लगा।

मेरी पहली भूख-प्यास तो शात हुई नही। दूसरी भूख-प्यास जागृत हो गई। मै चीख उठा। भूख-प्यास के गठबन्धन ने मेरे प्राण ले लिये।

'कामातुराणा न भय न लज्जा।"

भोग की अतृप्ति मनुष्य को भूखा भेड़िया बना देती है।

तीसरा रूप

त्रेता युग की वात है। नगर के बाहर बावड़ी पर कुछ नारियां अर्ध अनावृत्त होकर स्नान कर रही थी। आठ दस वर्ष का एक नग्न बालक, सहज भाव से वावड़ी की ओर देखता हुआ दौडकर निकल गया। नारिया नहाती रही। उनमे न कोई हरकत हुई न किसी तरह की परेशानी। उनका कार्य यथावत् चलता रहा।

वावड़ी के पास ही एक तपस्वी ऋषि का आश्रम था। दो मिनट वाद ऋषि आश्रम से वाहर निकले नगर मे जाने के लिये। मार्ग मे बावडी पड़ती थी। अपने गतव्य की ओर गमन करते हुए ऋषि के मन में कुछ विकृति आ गई। मे विकार था। एक पल के लिये ऋषि की दृष्टि नहाती हुई नारियों की ओर उठ गई।

नारियो मे एकाएक हलचल मच गई। किसी ने मस्तक ढक लिया। किसी ने वक्षस्थल। कोई सिकुड कर वैठ गई। किसी ने दूसरी की ओट लेली। एक महिला से रहा नही गया। वोल उठी—"मुए के पैर तो मसानो मे लटक गये

है। मुनि होकर भी मन नहीं मार सका। ढोंगी कहीं का, बड़ा तपस्वी फिरता है।"

बात ऋषि के कानों तक नही पहुँच सकी। ऋषि चला गया।

घटे भर बाद जब मुनि वापस लौटे, नारिया नहा चुकी थी। वस्त्र समे रही थी। मुनि ने बावडी पर विराम कर नारियो से पूछा—"मेरे जाने के पू दस वर्ष का एक नग्न बालक इधर से गुजरा था आप सबको निहारते हुए। लेकिन आप में किसी तरह की हरकत या हलचल नही हुई थी। किसी तरह का ऐतराज भी नही किया था। मुझ को इधर से जाते हुए देखकर आप सब इतनी घबरा क्यों गई थी?"

एक वृद्ध महिला ने उत्तर दिया—"आपके प्रश्न का उत्तर आप अपनी आँखो से पूछिये। ये आँखे ही तो सब अनर्थो की जड है। ऋषिवर! भोग मे अतृप्ति, वैराग्य मे विकृति का पथ प्रशस्त करती है।" ऋषि का मस्तक शर्म से झुक गया। बिना कुछ बोले, ऋषि नतमस्तक आश्रम को चले गये।

चौथा रूप

शिव पार्वती विश्व-भ्रमण पर निकले। मार्ग में एक बानर भूखा प्यासा ज्वर से पीड़ित धूप में पड़ा तडप रहा था। ममतामयी पार्वती से उसका दारुण दु:ख देखा नही गया। दया से द्रवित हो विनम्र शब्दों मे बोली—"प्राणनाथ! इस दु:खिया को कष्ट मुक्त कर दीजिये।"

"विषयों के लोभी इस बानर की मृत्यु सन्निकट है। इसे अपने कर्मो का फल भुगतने दो।" शिव ने कहा।

"नही देव! इस दु:खिया का दु:ख तो आपको दूर करना ही होगा।" पार्वती ने दृढ किन्तु विनम्र शब्दो मे प्रार्थना की।

"तुम नही मानोगी, पार्वती! अच्छा—उपाय करता हूँ" कहते हुए शिव ने बानर से पाँच कदम दूर एक गोल घेरा बनाकर, उसमे एक पका हुआ केला रख दिया। पश्चात् वानर से बोले—"हे वानर! तुम मुक्ति चाहते हो या मृत्यु?"

"मुक्ति कौन नही चाहता, भगवन्!" वानर का स्वर उभरा।

"तब देखो—तुम्हारे से पाँच कदम दूर एक गोल घेरे मे पका हुआ केला ा है। यदि दस मिनट तक तुम इसे नही खाओगे तो तुम्हे मुक्ति मिल गी। खा लिया तो मृत्यु निश्चित है।" शिव ने कहा और चल दिये। वानर था। शिवजी की बात सुनते ही श्रवणेन्द्रिय जागृत हो गई। श्रवणेन्द्रिय ुइन्द्रिय को इशारा किया। वह भी सचेष्ट हो गई। केले को देखा। केला हुआ, पीला-पीला और मधुर सुगन्धी से युक्त है। दृष्टि विचलित हुई।

३१ उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत की महत्ता

☐ पं० शोभाचन्द्र जैन

गृहस्थ धर्म (श्रावक धर्म) का विधान

भारतीय संस्कृति वैदिक व श्रमण सस्कृति का समन्वय रूप है। वैदिक परम्परा प्रवृत्ति प्रधान तथा श्रमण-परम्परा निवृत्ति मार्ग (सन्यास मार्ग) प्रधान है। आगे चलकर उभय विचारधारा के सहज सान्निध्य ने परस्पर विचारधारा को ग्रहण करने का प्रयत्न किया। गृहस्थ प्रवृत्ति विचारधारा को जहा वैदिक धर्म ने मुख्य रूप से ग्रहण किया वहाँ जैन परम्परा मे भी गृहस्थ विचारधारा को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। इसी प्रकार निवृत्ति मार्ग से वैदिक संस्कृति भी प्रभान्वित हुई। चतुर्विध संघ की स्थापना व्यवस्था से श्रावक-श्राविका (गृहस्थ धर्म) को तीर्थ रूप स्थान मिला। तीर्थंकर, जैन परम्परा में सर्वोच्च व्यक्ति हैं, महामानव है, वे भी अपनी देशना के प्रारम्भ मे "नमो तित्थस्स" तीर्थ को नमस्कार करते है। तीर्थ कहे, सघ कहे, एक ही बात है। श्रावक-श्राविका (गृहस्थ) धर्म भी तीर्थ मे समाविष्ट है।

श्रावक धर्म की महत्ता

'सूत्र कृतांग' सूत्र मे स्पष्ट रूप से निर्देश है कि गृहस्थ धर्म का स्थान भी आर्य है तथा समस्त दु.खों का अन्त करने वाला मोक्षमार्ग है। यही नही 'उत्तराध्ययन' सूत्र मे यहाँ तक कह दिया है 'सति एगेहि भिक्खुहि गारत्था संजयोत्तरा' अर्थात् कुछ गृहस्थ ऐसे भी है जो श्रमणो की अपेक्षा सयम के पालन मे श्रेष्ठ होते है। यह वह समय था जब गृहस्थ केवल उपासक मात्र ही नही, वह श्रमण साधकों के चारित्र का सहायक था। उसे यह भी अधिकार प्राप्त था कि यदि कोई मुनि या आर्यिका श्रमण धर्म का सम्यक् रूप से पालन नही करता है तो उसको पृथक् भी कर देता था। उसकी आध्यात्म साधना का स्तर भी उच्च था।

श्रावक के बारह व्रत

श्रावक के बारह व्रतो मे पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रत हैं। आगम द्वारा प्रतिपादित यह श्रावकाचार इस लोक और परलोक दोनो दृष्टियो से कल्याणकारी है। इसके व्यवहार से ऐहिक और आगामी जीवन दोनो ही श्रेष्ठ बन सकते है। श्रावक के बारह व्रत हैं—(१) अहिंसा अणुव्रत

(२) सत्य अणुव्रत (३) अचौर्य-अणुव्रत (४) स्वपत्नी सतोष व्रत (५) परिग्रह परिमाण व्रत (६) दिक् परिमाण व्रत (७) उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत (८) अनर्थ दण्ड विरमण व्रत (९) सामायिक व्रत (१०) देशावकासिक व्रत (११) पौषधोपवास व्रत (१२) अतिथि संविभाग व्रत ।

उपर्युक्त बारह व्रत एक अच्छे नागरिक की आचार सहिता है । इनके अतिचारो (दोषो) का गहन चिन्तन किया जाय तो कौटुम्बिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन सुखी बन सकता है । समाज मे व्याप्त अनैतिकता, तस्करी, मांसाहार, मद्यपान, विलासिता तथा संग्रह वृत्ति को दूर करने के लिये बारह व्रतो के प्रचार की उपादेयता आज अधिक बढ गयी है । मै सोचता हूँ इसके चिन्तन व पालन से समाज नयी करवट ले सकेगा ।

बारह व्रतों में गुणव्रतों का स्थान

जो व्यक्ति महाव्रत स्वीकार नही कर सकते है, उनके लिये शास्त्रो में पॉच अणुव्रतो का विधान है । पर अणुव्रतो के पालन करने मे भी ऐसी अनेक बाधाएँ उपस्थित होती है जिनके कारण कठिनाइयॉ आती है । उनसे बचने के लिये तीन गुणव्रतो और चार शिक्षाव्रतो का विधान किया है । तीन गुणव्रत, अणुव्रत-पालन में शक्ति सचार के साथ उन्हे निर्मल रखने में भी सहायता प्रदान करते है । जिस तरह शरीर तब ही उपयोगी व सार्थक है जब तक उसमें प्राण है, उसी तरह गुणव्रत होने पर ही मूल अणुव्रत उपयोगी व कार्य साधक हो सकते है । दिक् परिमाण व्रत अगीकार करने वाले को वृत्ति-संकोच और ममत्व का त्याग करना पडता है । जहॉ दिक्व्रत द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर के पदार्थो के भोग की निवृत्ति होती है वहॉ उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत मे मर्यादित क्षेत्र मे रहे हुए पदार्थो के उपभोग-परिभोग की मर्यादा हो जाती है । वस्तुतः इस व्रत द्वारा साधक के जीवन को सात्विक और सादा बनाने का प्रयास किया गया है तथा अनर्थदण्ड परित्याग व्रत मर्यादित छूट मे भी निष्प्रयोजन किये जाने वाले पाप कर्मो से उपासक को बचाता है । इस प्रकार से ये एक-दूसरे के पूरक है व मूल अणुव्रतो को पुष्ट व शुद्ध बनाते है ।

उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत विवेचन

श्रावक के बारह व्रतो मे ७वॉ व्रत उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत है । यह व्रत दिक्व्रत द्वारा मर्यादित क्षेत्र मे रहे हुए उपभोग-परिभोग की मर्यादा बाँधता है । जीवन-निर्वाह के लिये पदार्थो का उपभोग-परिभोग आवश्यक है । उपभोग पदार्थ वे है जो एक बार काम में लाने पर दूसरे समय पुनः उपभोग नही किये जा सकते । उपभोग के टीकाकार ने इस प्रकार व्याख्या की है— "उपभोगः सकृद्भोगः स चासनपानुलेपनादिनाम्" अर्थात् जो एक बार भोगा

जाने पर पुनः न भोगा जा सके। जैसे एक बार जो भोजन दाल, रोटी हमने खा ली है उसे पुनः खाया नही जा सकता। इस प्रकार की वस्तुएँ उपभोग के अन्तर्गत आती है। इसके विरुद्ध जो वस्तु एकवार से अधिक वार यानि पुनः-पुनः काम मे लायी जा सके वे वस्तुएँ परिभोग पदार्थो के अन्तर्गत आती है। दूसरे शब्दों में जो वस्तु शरीर के आतरिक भाग से भोगी जा सकती है, उसको भोगना उपभोग और जो शरीर के वाहरी भोगो से भोगी जा सकती है, उस वस्तु को भोगना परिभोग है।

इस प्रकार उपभोग्य और परिभोग्य वस्तुओं के विपय मे मर्यादा करना ही उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत का उद्देश्य है। अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य वे वस्तुएँ जो शरीर रक्षा व क्षुधा मिटाने के लिये आवश्यक हैं वे अशन के अन्तर्गत है। जो वस्तुएँ पेय है अर्थात् पीने योग्य है वे 'पान' है। वे वस्तुएँ जो उपभोजन (नाश्ता) के रूप मे खायी जाती है उनकी गणना खाद्य मे की जाती है। जो पदार्थ केवल स्वाद के लिये या मुख शुद्धि के लिये खाये जाते है उनकी गणना स्वाद्य में है। सारांश यह है कि श्रावक को सात्विक आहार ग्रहण करना चाहिये, राजस-तामस आहार उसके लिए त्याज्य है। सातवां व्रत अंगीकार करने वाले व्यक्ति के लिये खान-पान की मर्यादा आवश्यक है, इसी तरह परिभोग मे आने वाली वस्तुओं की भी मर्यादा अनिवार्य है। इस व्रत द्वारा गृहस्थ अपने दैनिक जीवन मे उपयोग आने वाली प्रत्येक वस्तु की संख्या, मात्रा आदि निर्धारित करता है। उपभोग और परिभोग में आने वाली वस्तुओं को ग्रंथकारो ने २६ बोलो में संगृहीत किया है वे निम्न है—

(१) उल्लणिया विहि परिमाण—हाथ-मुंह पोछने के लिये रुमाल, टुवाल आदि की मर्यादा।

(२) दन्तणविहि परिमाण—दन्त धावन सम्वन्धित पदार्थो की मर्यादा,

(३) फलविहि परिमाण—मस्तक को स्वच्छ करने के लिये आंवला, त्रिफला आदि फल की मर्यादा।

(४) अभ्यगणविहि परिमाण—त्वचा सम्वन्धी विकारो को दूर करने के लिये तैलादि द्रव्यों की मर्यादा।

(५) उवट्टणविहि परिमाण—शरीर में स्फूर्ति और मैल हटाने के लिए उवटन के सम्वन्व में मर्यादा करना।

(६) मज्भणविहि परिमाण—स्नान विधि का परिमाण अर्थात् स्नान की मर्यादा या स्नान के लिये जल परिमाण करना।

(७) वत्थविहि परिमाण—वस्त्र मर्यादा।

(८) विलेपणविहि परिमाण—वस्त्र परिधान बाद शरीर को शीतल तथा सुशोभित करने वाले चंदन, केसर, कुंकुम आदि की मर्यादा ।

(९) पुष्फविहि परिमाण—पुष्पों की मर्यादा ।

(१०) आभरणविहि परिमाण—शरीर पर धारण किये जाने वाले आभूषणो की मर्यादा ।

(११) धूपविहि परिमाण—वायु शुद्धि के लिये धूपादि की मर्यादा ।

(१२) पेज्जविहि परिमाण—पेय पदार्थ–जिनसे अजीर्णादि विकार मिट कर क्षुधा आदि की वृद्धि होती है, उनकी मर्यादा ।

(१३) भक्खणविहि परिमाण—नाश्ते के रूप मे खाये जाने वाले पदार्थो की मर्यादा ।

(१४) ओदणविहि परिमाण—अग्नि द्वारा उबाल कर खाये जाने वाले पदार्थो जैसे चावल, थूली आदि की मर्यादा ।

(१५) सुप्पविहि परिमाण—दाल आदि की मर्यादा ।

(१६) विगयविहि परिमाण—विगय वे पदार्थ है जो भोजन को स्वादिष्ट एव पौष्टिक बनाते है, जैसे दूध-दही, घृत, तेल, गुड, शक्कर की मर्यादा । (मधु और मक्खन विशेष विगय है, मद्य और मॉस महा विगय है जो सर्वथा त्याज्य है ।)

(१७) सागविहि परिमाण—सूखे या हरे शाक की मर्यादा ।

(१८) माहुरविहि परिमाण—मधुर फल, आम, जामुन इसी प्रकार सूखे फल द्राक्षा-बादाम आदि की मर्यादा ।

(१९) जिमणविहि परिमाण—क्षुधा निवारणार्थ खाये जाने वाले पदार्थ जैसे रोटी बाटी, पूड़ी आदि की मर्यादा ।

(२०) पाणीविहि परिमाण—पानी की मर्यादा ।

(२१) मुखवासविहि परिमाण—मुख शुद्धि के लिये खाये जाने वाले पदार्थो की मर्यादा ।

(२२) उवाहणविहि परिमाण—उपानह अर्थात् जूते, खड़ाऊ, चप्पल की मर्यादा ।

(२३) वाहणविहि परिमाण—वे साधन जिन पर चढ़ कर भ्रमण या प्रवास किया जाता है जैसे हाथी, घोड़ा, ऊँट, बैलगाड़ी, टैम्पो, टैक्सी, कार आदि की मर्यादा ।

(२४) सयणविहि परिमाण—सोने-बैठने के काम में आने वाली वस्तुओ की मर्यादा। जैसे—पलंग, खाट, आसन-मेज कुर्सी आदि।

(२५) सचित्तविहि परिमाण—सचित्त यानि जीव सहित पदार्थों की मर्यादा।

(२६) दव्वविहि परिमाण—इस बोल द्वारा उपर्युक्त जिन पदार्थों की मर्यादा की है, उन पदार्थों को द्रव्य रूप मे संग्रह कर उनकी मर्यादा (जो वस्तु स्वाद की भिन्नता के लिये अलग से प्रयोग मे की जाती है वह भिन्न द्रव्य है)।

उल्लिखित २६ बोल में से प्रथम ११ बोल शरीर को स्वच्छ, स्वस्थ व सुशोभित बनाने वाले पदार्थों से सम्बन्धित है। मध्य के १० बोल खान-पान मे आने वाले पदार्थों से सम्बन्धित है। शेष अन्त के ५ बोल शरीर-रक्षा और गृहस्थाश्रम को प्रतिष्ठित करने वाले है।

उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत के अतिचार

उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत दो प्रकार का है—भोजन सम्बन्धी और कर्म सम्बन्धी। शास्त्रकारो का कथन है कि 'उपभोग परिणाम वए दुविहे पन्नते, तंजहा भोयणाओ य कम्मओय'। प्रथम भोजन परिमाण व्रत के पाँच अतिचार है—

(१) सचित्ताहारे—इसका अर्थ है सचित्त पदार्थ का आहार। जिस आहार मे जीव विद्यमान है, उसे सचित्त कहते है—जैसे धान, बीज, जल, वनस्पति आदि। ऐसी वस्तुओं की मर्यादा होने पर भी भूल से खाना अतिचार है।

(२) सचित्त पडिबद्धाहारे—अर्थात् वस्तु तो अचित्त है पर उस अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु सम्बन्धित कर खाना सचित्ताहार है। जैसे हरे पत्तो के द्रोण में दूध, मिठाई आदि का सेवन करना।

(३) अप्पोलिओसहिभक्खणया—यानि जो वस्तु पूर्ण पक्व नही है तथा जिसे कच्ची भी नही कह सकते, ऐसी वस्तु खाना। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी ऐसी वस्तुएँ जो पूरी तरह न पकी है, लाभ की अपेक्षा हानिदायक होती है।

(४) दुप्पोलिओसहिभक्खणया—ऐसी वस्तु जो पकी हुई तो है परन्तु बहुत अधिक पक गयी है पक कर बिगड़ गयी है या जिसे पकाने की रीति घृणित है, ऐसी वस्तु का भक्षण करना इस अतिचार के अन्तर्गत है।

(५) तुच्छोसहिभक्खणया—अर्थात् तुच्छ औषध से तात्पर्य उन वस्तुओ मे है जिनमें क्षुधा निवारक मात्रा भाग कम होता है तथा व्यर्थ या फैंकने का भाग अधिक होता है।

कर्मादान अतिचार

सातवे व्रत के कर्म सम्बन्धी १५ अतिचार है जिन्हें कर्मादान के अतिचार कहा जाता है। श्रावक के लिये इन साधनों (कर्मो) द्वारा आजीविकोपार्जन करने का निषेध किया गया है। आजीविका का प्रभाव उपभोग-परिभोग पर पड़े बिना नहीं रह सकता। इनमे से कुछ कर्मादान ऐसे भी हैं जो संसार मे निन्दनीय माने जाते है तथा जिनके कारण जीवो की अत्यन्त विराधना होती है। कर्मादान पन्द्रह है जो निम्न है—

(१) इगालकम्मे—यानि अगार कर्म—कोयले बनाकर बेचना तथा इससे अपनी आजीविका चलाना।

(२) वणकम्मे यानि वन कर्म—जगल के वृक्षों व बाँस आदि काट-काट कर तथा बेचकर आजीविका चलाना।

(३) साड़ीकम्मे यानि साटिककर्म—बैलगाड़ी-घोड़ागाड़ी आदि वाहन बना कर बेचना।

(४) भाड़ीकम्मे यानि भाड़ी कर्म—पशुओं को किराये पर देकर आजीविका करना।

(५) फोड़ीकम्मे यानि फोड़ी कर्म—कुदाली हल, सुरंग आदि से पृथ्वी का विदारण करना और उससे निकले हुए पत्थर, मिट्टी, धातु आदि खनिज पदार्थ को बेचना।

(६) दन्त वाणिज्जे—दाँत का व्यापार करना।

(७) लक्खवाणिज्जे—लाख वृक्षों का रस है, उसमे त्रस जीवो की अधिक हिसा होती है और लाभ अधिक नही होता।

(८) रसवाणिज्जे यानि रस का व्यापार—यहाँ रस से मतलब मदिरा ही है। गुड़, शक्कर, तेल, घृत, दूध और दही आदि का व्यापार रस वाणिज्य के अन्तर्गत नही आता। शास्त्र में रस वाणिज्य से सुरा आदि निषिद्ध वस्तुओ को ही लिया गया है।

(९) विष वाणिज्जे यानि विष का व्यापार—जीवन नाशक अफीम, सखिया आदि पदार्थो की गणना इसके अन्तर्गत आती है।

(१०) केसवाणिज्जे यानि केश व्यापार—दासियों के क्रय-विक्रय से सम्बन्धित है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे कन्या विक्रय, दहेज प्रथा इसी के अन्तर्गत है।

(११) जतपीलणया कम्मे यानि यंत्र द्वारा पीलने का कार्य—यह कर्म महा आरम्भी है—ऐसे कार्य से अनेक त्रस जीवो की हिसा होती है।

(१२) निलछ्रण कम्मे—यानि पशुओं को नपुंसक बनाकर आजीविका चलाना ।

(१३) दवग्गीदावणया कम्मे यानि वन दहन करना—दहन क्रिया द्वारा भूमि को स्वच्छ करने की प्रक्रिया द्वारा जीविका चलाना ।

(१४) सरदहतलाय सोसणया कम्मे—यानि तालाव, नदी आदि के जल सुखा कर भूमि को कृषि योग्य बनाने का धंधा करना ।

(१५) असईजण पोसणिया कम्मे—कुल्टा स्त्रियों का पोषण करना तथा व्यभिचार कराकर द्रव्य प्राप्त कर आजीविका चलाना ।

ऊपर लिखित दस कर्म और पाँच वाणिज्य ये पन्द्रह कर्मादान श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है । ये व्यवसाय जनता को प्राकृतिक लाभ से वंचित रखने वाले भी है । आज के परिप्रेक्ष्य मे उनके पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है। आज भी प्रथम दो कर्म के कारण,वृक्ष कटते जा रहे है—प्रदूषण वढ़ रहा है। वृक्षों के अभाव में स्वास्थ्यवर्द्धक वायु (आक्सीजन) की कमी हो रही है। वृक्षारोपण आज की अनिवार्य आवश्यकता हो गयी है । फोड़ी कम्मे के अन्तर्गत खेती के लिए भूमि तैयार करना अभीष्ट नहीं । शास्त्रकारों ने कृषि कर्म को फोडी कर्म माना होता तो आनन्द को श्रावक पद से प्रशसित नही करते । रस वाणिज्य का रोग भी बढ़ रहा है । मदिरा पान या उसके व्यवसाय से कौटुम्बिक व राष्ट्रीय चरित्र का ह्रास हो रहा है । केश-वाणिज्जे का अर्थ भी नये सन्दर्भ मे करना होगा—दहेज प्रथा का भीषण रूप हमारे सामने है । समाज के अनेक युवक-युवतियों का इस दुष्प्रथा के कारण शोषण हो रहा है । जंतपीलणया कम्मे-यह व्यवसाय आज मुख्य हो गया है– पर सच तो यह है कि यत्रवाद के प्रभाव से लोगो का जीवन परावलम्बी होता जा रहा है । अल्पारभी कुटीर उद्योग नष्ट हो रहे है । राष्ट्र का चारित्रिक पतन व स्वास्थ्य का भी नाश हो रहा है। भोपाल की गैस त्रासदी इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है ।

साराश यही कि पन्द्रह कर्मादान का त्याग मूल व्रतो में गुण उत्पन्न करने वाला तथा चित्त में समाधि स्थापित करने वाला है, अत. ये श्रावक के लिए त्याज्य है ।

श्रावक का उत्तरदायित्व

वर्तमान मे हमने यही समझ लिया है कि धर्म, संस्कृति-रक्षण तथा आध्यात्मिक साधना श्रमण वर्ग का ही कार्य है । श्रावक वर्ग ने अपने कर्तव्यो और उसके लिए निर्धारित आचारवृत्ति को सर्वथा विस्मृत कर दिया है । हम आचार साधु समाज मे ही देखना चाहते है । श्रावक-श्राविका के चारित्र का

कोई मापदण्ड नही रहा है । श्रमण वर्ग के शिथिलाचार का उ… श्रावक वर्ग का ही है । आज हमें न श्रमण जीवन के आध्यात्मिक मू… है और न अपने कर्तव्यो का । श्रावक जीवन की शुद्धि की प्राथ… सप्तव्यसनो की पृथकता है । आज दुर्व्यसन समाज मे बढते जा रहे है… जिसके कारण वैयक्तिक, पारिवारिक व सामाजिक जीवन नि.शेष होता जा रहा है । नये सिरे से वर्तमान देशकाल को देखते हुए श्रावक की आचार सहिता बनानी होगी, जिससे श्रावक की पहचान हो सके ।

उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत की उपर्युक्त समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि गृहस्थो (श्रावकों) के लिये व्रत प्रतिपादित आचार-नियम वर्तमान सामाजिक, राष्ट्रीय सन्दर्भ मे अत्यन्त उपयोगी है । ये आचार युगानुकूल देश-काल के परिप्रेक्ष्य में नये अर्थो में परिवर्तन की अपेक्षा रखते है । आज पुनः श्रावक की आचार विधि पर गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिये, तब ही पुनः प्राचीन प्रतिष्ठा उपार्जित कर सकेंगे तथा जीवन मे शान्ति का अनुभव कर सकेंगे ।

□ □ □

निःस्वार्थता का फल

फारस देश का बादशाह नोशेरवां अपनी न्यायप्रियता के लिए विख्यात् था । एक बार वह जगल मे शिकार करके लौट रहा था । रास्ते मे उसने देखा कि एक बूढ़ा-सा व्यक्ति सडक के किनारे अखरोट का एक छोटा-सा पौधा लगा रहा है ।

बादशाह ने घोडे से उतर कर कहा —"जानते हो यह पौधा वृक्ष का रूप धारण करेगा और इसमे अखरोट लगने मे कई वर्ष लगेगे । तब तक तुम शायद ही जीवित रह पाओगे । तब तुम क्यो मेहनत कर रहे हो ?"

विनम्रता से वह वृद्ध बोला—"राजन् ! मै अब तक दूसरो के लगाये वृक्षो के बहुत फल खा चुका हूँ, इसलिये मेरा भी कर्तव्य बनता है कि मुझे भी दूसरो के लिये पेड लगाने चाहिये । अपने फल खाने की आशा से ही पेड लगाना तो स्वार्थ है ।"

बादशाह उसका जवाब सुनकर बडा प्रसन्न हुआ और उसे दरबार मे सलाहकार के पद पर नियुक्त कर दिया ।

—मनोज आंचलिया

३२ जैन आगमों में अपरिग्रह-विचारणा

□ श्री केवलमल लोढ़ा

श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने 'दशवैकालिक सूत्र' अ. ६, गा. ११ मे प्ररूपणा की है कि 'सव्वे जीवावि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं'—सभी जीव जीना चाहते है न कि मरना। यहाँ कौन से जीवन की अपेक्षा है तो प्रभु ने 'आचारांग सूत्र' १-श्रु, २-अ, ३-उ में फरमाया कि—'सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्ख पडिकूला'—समस्त प्राणी दु:ख के प्रतिकूल सुख की अभिलाषा करते है। उस सुखमय जीवन हेतु मनुष्य प्राय: मनोनुकूल विषयो मे निरन्तर गतिशील रहते है, परन्तु उन विषयो में सुख अल्प और वहुधा दु.ख ही प्रतिफलित होता है। ऐसा क्यों ? क्या अपनाया हुआ मार्ग वास्तविक सुख का कारण न होकर, दु:ख का मूलभूत हेतु है ? इसका विश्लेषण करते हुए देवाधिदेव ने तथ्य को प्रगट किया कि मनोवांछित विषय आश्रव रूप होने से दु.खजन्य है। इस आश्रव व उसके प्रतिपक्षी सवर का विशद् विवेचन दसवे अंग 'प्रश्न व्याकरण सूत्र' में गुम्फित है।

आश्रव व सवर की परिभाषा ग्रन्थकारों ने यह की है कि आश्रव 'आ-समन्तात श्रवन्ति प्रविशन्ति कर्माणि येन स: आश्रव' अर्थात् जिन कारणों से आत्मा में कर्म चारो ओर से प्रविष्ट होते है वह आश्रव है। 'संव्रियन्ते निरूध्यन्ते कर्म कारणानि येन भावेन स संवर:।' यानि आत्मा मे जिन कारणों से प्रविष्ट होते हुए कर्म रुक जावे, वह सवर है। आश्रव नवीन कर्मो का प्रवाह, ससार का हेतु है और संवर मोक्ष का यानि ससार क्षय करके अव्याबाध सुख की प्राप्ति।

हिसा, असत्य, चौर्य, अवभ (मैथुन) और परिग्रह ये पाँच मुख्य आश्रव के भेद है और इनके विपरीत अहिसा, सत्य, अचौर्य, व्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच सवर है। सामान्यतया पाँचो ही सवर आत्मगुणों के वृद्धिकरण, उपयोगी, आनंददायक और अन्ततोगत्वा मोक्ष फल के दायक है; परन्तु यहाँ अपरिग्रह का कथन करना इष्ट है। अत: इसका विवेचन किया जा रहा है।

पाँचो संवरो में मूल भूमिका रूप अपरिग्रह है क्योकि अपरिग्रह अहिसा का पोपक है। लोभ विना द्वेप नही होता और द्वेष ही हिसा का जनक है। अत: फलित हुआ कि लोभ के अभाव मे हिसा नही पनपती। यानि हिंसा का नींव रूप सृजक लोभ ही है। लोभ या लालचवश मनुष्य धन के अर्जन, सग्रह,

सरक्षण मे झूठ बोलता है, चोरी करता है और परिग्रह के मद में व्यभिचार करने मे भी नही हिचकता। निर्लोभी क्यों झूठ बोलेगा, क्यों चोरी करेगा और वह व्यभिचारी भी क्यों होगा ? इन दोनो का ३६ का अंक—अर्थात् जहाँ प्रकाश है वहाँ ये अँधेरे रूप अवगुण नही रह सकते। इसलिये अहिसा, सत्य, अचौर्य की जड **अपरिग्रह** है। और 'आचारांग सूत्र' अ. ५, उ. २, सूत्र १५५ मे कहा है कि जो परिग्रह से विरत है उसमे ब्रह्मचर्य होता है। अर्थात् अपरिग्रही ब्रह्मचारी है।

अपरिग्रह को समझने के लिये परिग्रह का ज्ञान पहले होना आवश्यक है। आगमकारों ने परिग्रह की व्याख्या करते हुए कहा है—'परिगृह्यते आदीयतऽस्मादिति परिग्रहः। मूर्छाभावेन ममेति बुद्धया गृह्यते इति परिग्रह.।' किसी वस्तु का समस्त रूप से ग्रहण करना अथवा ममत्व बुद्धि से, मेरेपन की बुद्धि से मूर्च्छावश जिसे ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह है। परिग्रह द्रव्य से ९ प्रकार का—क्षेत्र, वत्थु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, कुविय (घर बिखरी का सामान) और भाव से १४ प्रकार का है—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद। 'दशवैकालिक' अ. ४ व आचाराग (श्रु. १, अ. ५, उ. २) मे परिग्रह ६ प्रकार का बतलाया है। से अप वा, बहु वा, अणु वा, थूल वा, चितमत वा अचितवत वा एतेसु चेव परिग्रहावंती। परन्तु भगवती सूत्र श. १८, उ. ७ मे परिग्रह के तीन-तीन भेद भी किये है। १. कम्मपरिग्गहे, २. सरीर परिग्गहे, ३. बाहिर भडमतोवगरण परिग्रहे उपधि ममत्व बुद्धया परिग्रहमाणस्तु परिग्रह। सचित्त, अचित्त, सीसाए। इस सूत्र मे यह भी स्पष्ट किया है कि भवनपति से वैमानिक देव, चक्रवर्ती, वासुदेव, राजा, सेठ, साहूकार आदि मनुष्य, तिर्यच और नारकी सभी परिग्रही है। पन्नवणाजी सूत्र पद ८ मे आहार, भय, मैथुन और परिग्रह रूप चार संज्ञाओं की चारो गति के जीवो के अल्पबहुत्व मे बतलाया है कि इन चारो सज्ञाओ में परिग्रह सज्ञा सबसे कम तिर्यचो मे, नारकी मे आहार और मैथुन से परिग्रह सज्ञा वाले अधिक, मनुष्य में भय और आहार सज्ञा से परिग्रह संज्ञा वाले ज्यादा और देवगति मे तीनो सज्ञाओ से परिग्रह सज्ञा वाले संख्यात गुणा अधिक है। इससे प्रमाणित होता है कि समस्त ससारी जीव लोभ रूपी पिशाच से ग्रसित है और यही प्रमुख कारण है कि लोभ को 'पाप का बाप' की सज्ञा दी गई है। धन का आकाक्षी जीव हिसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि किसी भी पाप-कुकर्म करने से नही डरता। परिग्रह मे हस्ती के पैर की तरह समस्त पाप समाये हुए है। यह मोक्ष के लिये बाधक अर्गला रूप प्रतिबंधक है।

राग-द्वेष रूपी आत्म परिणाम भाव परिग्रह है और उनसे जो पुद्गलों का सचय होता है वह द्रव्य परिग्रह है। आत्मा का शुद्ध परिणाम भाव संवर है जो आते हुए कर्मो का निरूधक है। भाव सवर मे अपरिग्रह मुख्य है जिसकी

व्याख्या आगमकारों ने यह की है—"न विद्यते धर्मोपकरणाद्दते शरीरोपभोगाय स्वलोऽपि परिग्रह यस्य स यथा । प्रत्याख्यात परिग्रहे साधी ।" अभिधान राजेन्द्र कोष, प्रथम भाग ।

न विद्यते परिसमन्तात सुखार्थ गृह्यति इति परिग्रह । यस्यां साव-परिग्रह—जिसने किसी भी प्रकार का पदार्थ शारीरिक सुख हेतु ग्रहण नही किया है । उसे अपरिग्रह कहते है । ऐसे सम्पूर्ण रूप से अपरिग्रही विश्व में पंच महाव्रतधारी श्रमण निर्ग्रन्थ ही है । 'आवश्यक सूत्र' में यह उनका पाँचवां महाव्रत है ।

श्रमण निर्ग्रन्थ तीन करण तीन योग से समस्त प्रकार के परिग्रह के त्यागी है । फिर भी वे अपने शरीर के निर्वाह के लिए शीत, गर्मी की रक्षा व धार्मिक क्रिया करने हेतु वस्त्र, पात्र, धार्मिक उपकरण आदि रखते ही है । क्या यह परिग्रह नही है ? इसके समाधान मे स्वय चरम तीर्थकर ने 'दशवैकालिक' सूत्र अ. ६, गाथा २१ में प्ररूपणा की है—

ण सो परिग्गहो वुत्तो, णायपुत्तेण ताइणा ।
"**मुच्छा परिग्गहो वुत्तो**" इह वुत्त महेसिणो ।।

छः कायों के रक्षक, ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर ने अनासक्ति भाव से वस्त्र, पात्र आदि रखने को परिग्रह नही कहा है, किन्तु मूर्छाभाव को ही (वस्तु पर आसक्ति रखने को) परिग्रह कहा है । इसी अध्ययन की १९वी गाथा मे प्रभु ने चेतावनी दी है कि पदार्थ का सग्रह करना तो दूर, सिर्फ संग्रह की इच्छा (मानसिक सकल्प) करने वाला साधु, साधु नही वरन् गृहस्थ है—

लोहस्सेस अणुप्फासो, मण्णे अण्णयरामवि ।
जे सिया संणिहिकामे, गिही पव्वाइए ण से ।।

अनेक आगम शास्त्रो मे अपरिग्रह सम्बन्धी वर्णन उपलब्ध है परन्तु उसका सागोपांग विवेचन 'प्रश्नव्याकरण सूत्र' मे ही है । इसके पंचम अपरिग्रह संवर द्वार मे निम्न विन्दुओ पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है—

(१) अन्तरंग परिग्रह से विरति ।

(२) अपरिग्रह का महत्त्व व स्वरूप ।

(३) अपरिग्रह की पहिचान ।

(४) अपरिग्रह व्रत को पुष्ट करने वाली पाँच भावनाएँ ।

श्रमण निर्ग्रन्थ समस्त वाह्य परिग्रह का त्याग कर अकिंचन भिक्षु होता है, फिर भी उसके मन मे व्यक्त वस्तुओ पर ममता मोह रूप अन्तरंग परिणाम न होवे और दोषो से जागरूक हेतु इस संवर द्वार मे ३३ वोलो की प्ररूपणा की

गई है जैसे एक प्रकार का असंयम, दो भेद राग, द्वेष, इस तरह से एक २ बोल की वृद्धि करते हुए तैंतीसवें बोल में तैंतीस प्रकार की आशातना टालने का निर्देश है। हेय, ज्ञेय, उपादेय रूप इन बोलों की आराधना करने से अपरिग्रही साधक अपनी मंजिल की ओर निर्विघ्नता से प्रगति करता है।

अपरिग्रह की महिमा और स्वरूप का कथन आगमकारों ने श्रेष्ठ वृक्ष की उपमा द्वारा किया है।

महावीर स्वामी के श्रेष्ठ वचनों से प्ररूपित परिग्रह-निवृत्ति ही उसका विस्तार है और सम्यक्त्व ही उस वृक्ष की मूल है। धृति (धैर्य) ही उसका स्कंध और विनय-नम्रता उसकी वेदिका (थला) है। अपरिग्रह का तीन लोक में विस्तृत यश इसका तना है और पाँच महाव्रत रूप इसकी विशाल शाखायें है। अनित्य आदि बारह भावनायें अपरिग्रह वृक्ष की त्वचा (छाल) और शुभध्यान, प्रशस्त योग और ज्ञानरूप पत्ते और अंकुर से यह वृक्ष शोभित है। निर्लोभ आदि गुण रूप फूलो से यह वृक्ष अलंकृत है और शील ही उसका सौरभ है। अनाश्रव नवीन कर्मो का अग्रहण ही उसका फल है। इस अपरिग्रह का बीज मोक्ष का बोधि बीज रूप है और यही उसकी मिना सार रूप है। इस उपमा के अन्त में शास्त्र-कार बतलाते है कि मेरू पर्वत के शिखर के चोटी के समान यह मोक्ष जाने के लिए निर्लोभता श्रेष्ठ मार्ग का शिखर रूप है, यानि अपरिग्रह मोक्ष के मार्गों में सबसे श्रेष्ठ है।

अपरिग्रही के लिए बहुमूल्य, अल्पमूल्य वस्तुओ का सग्रह न करना, सचित्त पदार्थ त्याज्य है और प्रासुक एषणीय पदार्थ ही ग्राह्य है। व कौन कौनसे दोष टालना, वस्त्र, पात्र आदि कितने रखने का कल्प है। इन सब प्रवृत्तियों के विधि-निषेध रूप आचरण आगम पाठ 'जत्थ न कप्पइ.......भायणभंडोगहि उवगरण' में दृष्टव्य है।

अपरिग्रही साधक की पहिचान उसके समता, क्षमा, सरलता, मृदुता, सत्य आदि गुणो और तदरूप आचरण से प्रतिबिम्बित होती है, जिसका विस्तृत विशद वर्णन मूल पाठ 'एव से संजते विमुते एगे चरेज धम्मं' में निहित है। उसकी कुछ झाकी यहाँ प्रस्तुत है।

१. निम्ममे, निन्नेह बंधणे — परिग्रह से अममत्व भाव और स्नेह बधन से रहित।

२. वासी चदण समाण कप्पे — अपकारी और उपकारी पर समान दृष्टि रखने वाला।

३. समे य माणवमाणणाए — मान-अपमान मे समभावी।

४.	समित राग दोषे	— राग-द्वेष का शमन करने वाला।
५.	सव्व भूयाण शरणे	— सभी प्राणियों का शरणभूत (आश्रय देने वाला)।
६.	सव्व जग वच्छले	— विश्व वात्सल्य भाव से परिपूर्ण।
७.	सच्च भाषके	— सत्य भाषी।
८.	सुह दुक्ख निव्विसेसे	— सुख और दुःख जिसके लिये समान है।
९.	पोक्खर पतं व निरूव लेवे	— कमल के पत्ते के समान निर्लेप।
१०	अनिलोव्व अपडिवद्धे	— वायु के समान प्रतिवन्ध से रहित।
११.	जीविय मरणास विप्पमुक्के	— जीने और मरने की इच्छा से रहित।
१२.	निस्सयं निव्वण चरित्त धीरे कायेण फासयते	— चरित्र परिणाम के विच्छेद से रहित। निरतिचार चारित्र का धारीसाधक काया से पालन करने वाला।
१३.	सततं अज्झप्पज्झाण जुतं	— निरन्तर अध्यात्म ध्यान में संलग्न।
१४	निहुए	निभृत (उपशांत)।
१५.	एग चरेज्ज धम्मं	— एकाकी चारित्रधर्म का आचरण करने वाला।

त्यागी के रूप मे अपरिग्रही को 'दशवैकालिक सूत्र' अ. २, गाथा ३ मे—

जे य कंते विपे भोए, लद्धे विपिट्ठिकुव्वइ।
साहिणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ॥

प्रदर्शित किया है। जो मनोहर प्रिय भोगने योग्य वस्तुओं को प्राप्त कर और भोगने मे स्वाधीन होते हुए भी उनकी तरफ पीठ कर देता है अर्थात् त्याग देता है, वही सच्चा त्यागी अर्थात् अपरिग्रही है।

ऐसे महात्यागी साधक आगम के पृष्ठों में यत्र तत्र चमक रहे है। उनमे से दो उदाहरण 'उत्तराध्ययन' सूत्र के यहाँ प्रस्तुत है—

अध्ययन ९—नमिराज ऋषि

से देव लोग सरिसे, अतेउरवरगओ वरेभोए।
भुंजित्तु नमिराया, वुद्धो भोगे परिच्चयई॥ ३॥

मिहिल सपुर-जणवय, वलमोरोह च परियण सव्वं।
चिच्चा अभिनिक्खंतो, एगत महिड्डिओ भवय॥ ४॥

देवलोक के समान उत्तम काम भोगों, अन्त.पुर, राज्यलक्ष्मी सवको त्याग कर नमिराज ऋषि दीक्षित हो गये।

अध्ययन १४—इषुकार नरेश और उनकी कमलावती रानी

चइत्ता विउलं रज्ज, काम भोगे य दुच्चए ।
निव्विसया निरामिसा, निन्नेहा निप्परिग्गहा ।। ४६ ।।

विशाल राज्य और दुस्त्यज्य काम भोगो को छोडकर राजा और रानी भी विषय आसक्ति से रहित, इच्छाओं से रहित, स्नेह (कुटुम्बीजनों के प्रेम) रहित, बाह्य-अन्तरंग परिग्रह से मुक्त हुए ।

आगमज्ञो ने अपरिग्रह व्रत की सुरक्षा हेतु पॉच भावनाओ का निर्देशन किया है । सबसे प्रथम मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों के कर्णगोचर होने पर साधक कैसी दृष्टि रखे, उसका कथन निम्न प्रकार से किया है । श्रोत इन्द्रिय की जय करने की भावना—

मणुन्न भद्दएसु ण तेसु समणेण, सज्जियव्व, न रज्जियव्व, न गिज्झियव्व, न हसियव्व, न मुज्झियव्व, न विनिग्घाय, आवज्जियव्व न लुभिथव्वन न तुसियत्व ।

मनोज्ञ और प्रिय शब्दों को सुनने पर संयमी को उन पर आसक्ति नही रखनी चाहिए और राग भी नही करना चाहिए, न गृद्धि भाव रखे और न विस्मयपूर्वक हॅसे, उनमे मूर्च्छित न होवे, न उन पर न्योछावर हो । उनको पाने के लिए ललचावे नही और प्राप्ति होने पर प्रसन्नता प्रकट न करे ।

अमणन्नु पावएसु ण तेसु समणेण रूसियव्व, न हीलियव्व, न निदियव्व, न खिसियव्व न छिदियव्व, न भिदियव्व न वहे यव्व ।

अमनोज्ञ और अशुभ पापकारी वचनों को सुनकर श्रमण रोष नही करे, न उनकी हीलना, अवज्ञा, निदा करे, न उन पर खीझना चाहिए और न उस वस्तु को तोडे (भागे) भेदन कर भयानवे शब्दो से डरावे और न मारपीट करे ।

जिस प्रकार श्रोतेन्द्रिय के शुभ-अशुभ शब्दों के कर्णगोचर होने पर सम भाव रखने की शिक्षा दी गई है, वैसे ही चक्षु इन्द्रिय के विषय सुन्दर प्रिय रूप और कुरूप अप्रिय रूप देखकर, मनमोहक सौरभ और दुर्गन्धयुक्त पदार्थो का घ्राण इन्द्रिय के सयुक्त होने पर, मधुर स्वादिष्ट और कडवे नीरस व्यंजनो के रसना इन्द्रिय के सयोग होने पर और कोमल, मृदु और रूक्ष-कठोर पदार्थो के स्पर्श होने पर सयमी अनुकूल सयोग पर हर्ष से आह्लादित न होवे और विपरीत प्रसंगो पर डाट फटकार, तिरस्कार, नाक भौह सिकोड़ना, घृणा नफरत न करता हुआ ऐसा चिन्तन करे कि यह तो पुद्गलो का पूरन गलन धर्मा स्वभाव है, जो पलटता ही रहता है । जो वस्तु आज आकर्षक और लुभावनी है, वही कालान्तर मे अदर्शनीय और घृणा पात्र बन जाती है । युवावस्था में जो शरीर का निखार

होता है वही बुढापे में कुरूप हो जाता है। पुद्गलों के गुण धर्म परिवर्तन सम्बन्धी छठे अंग 'ज्ञाताधर्म कथाग' के बारहवें अध्ययन मे सुबुद्धि प्रधान ने खाई (नगर के गंदे नाले) के पानी को जो महा दुर्गन्धमय, अशुभ वर्ण, गंध, रसवाला था, उसको प्रयोग द्वारा सुगन्धित, स्वादिष्ट और पथ्य रूप मे परिवर्तन कर नृप को आस्वादन कराया। राजा भी उस पानी को पीकर विस्मित हुआ। इसका सुन्दर अनुपम दृष्टान्त है। 'उत्तराध्ययन सूत्र' के ३२ वे अध्ययन मे भी प्रभु ने यही भाव दर्शाये है। उसका सार निम्न गाथा में निचोड रूप में भर दिया है—

> जे सद्द रूव रस गंधमागए, फासे य सपप्प मणुण्णपावए।
> गेही पओसं न सरेज्ज पंडिए, स होति दंते, विरए, अकिंचणे॥

जो मनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श की प्राप्ति में राग नही करता और अमनोज्ञ पर द्वेष नही करता, वही पंडित है, विरत, शांत, अकिंचन यानि अपरिग्रही है।

परिग्रह यानि दुष्ट सयोग पर प्रीति-रतिभाव और अनिष्ट पर अप्रीति-अरति भाव ये दोनो ही मानसिक सकल्प विकल्प, जन्म-मरण रूप ससार है और अपरिग्रह यानि इन भावों से विमुक्त होना या समभाव रखना ही ससार से किनारा करना है। दूसरे शब्दो मे अपरिग्रह मोक्ष का भव्य द्वार है जिसके आराधन से जीव साधक कालान्तर मे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होता है।

गरीब या दुःखी ?

'लू' नगर की एक पिछडी बस्ती में रहते थे दार्शनिक 'युआन सीन'। फूस की झोंपड़ी, टूटा छप्पर, गीला फर्श, मटकों से बनी खिड़की। ऐसे टूटे-फूटे घर में वे रहते थे और फुरसत के समय मस्ती से भरे हुए एकतारा बजाया करते थे।

अमीर 'त्सी कुंग' अपनी शानदार बग्घी मे बैठकर उनसे मिलने गये। गली इतनी छोटी थी कि उनकी बग्घी उसमें घुस ही न सकी। उन्हे पैदल जाना पडा।

युआन सीन अतिथि का स्वागत करने दरवाजे पर आये। फटा जूता, पत्तो की टोपी, पुराने कपडे पहने उन्हे देखकर कुंग ने कहा—"ओह, सन्त, आप इतने दु:खी, दरिद्र, सकटग्रस्त।"

युआन मुस्कराये और बोले—"मैने सुना है—धन के अभाव में मनुष्य गरीब भर रहता है। दु:खी वे है जो अज्ञानग्रस्त है। बताओ तो—मैं गरीब हुआ या दु:खी?'

त्सी कुंग सिटपिटाये से एक कौने में खडे थे।

☐ डॉ० भैरूंलाल गर्ग

३३ मसीही धर्म में अपरिग्रह सिद्धान्त

☐ डॉ० ए० बी० शिवाजी

विश्व के समस्त धर्मों में किसी न किसी रूप मे अपरिग्रह की चर्चा की गई है। अपरिग्रह का प्रत्यय सदाचार के अन्तर्गत आता है। वास्तव मे अपरिग्रह सद्गुण है जिसका पालन करने से समस्त क्लेशों से वचा जा सकता है और मानव, यदि आस्तिक हो तो अपने मोक्ष पाने के मार्ग को सरल वना सकता है। यदि नास्तिक हो, तो सुखपूर्वक अपने जीवन का निर्वाह कर सकता है। यदि अस्तित्ववादी हो तो उसे अपने प्रामाणिक (authentic) अस्तित्व का ज्ञान हो सकता है। अपरिग्रह जहाँ नकारात्मक प्रत्यय है वही मानव अस्तित्व सकारात्मक है। इसी कारण ऋषियो ने, मुनियो ने, संतों ने अपरिग्रह भावना पर वल दिया है।

भारतीय संस्कृति में अपरिग्रह को सद्गुण के रूप मे देखा जाता है। पातजलि ने अपरिग्रह की परिभाषा में इसे असांसारिकता संन्यास का दृष्टिकोण वताते हुए कहा है कि अपरिग्रह भौतिक सम्पन्नता के प्रति उदासीनता की दृष्टि है जिसका पालन न करने से हिंसा और अन्य कई दुष्कर्म होते हैं। इस कारण परिग्रह असत्य और हिंसा को जन्म देते है। विज्ञान भिक्षु ने इसकी व्याख्या अलग प्रकार से की है। उनका मत है कि परिग्रह की भावना मे दम्भ और आसक्ति, स्वामित्व की भावना के साथ युक्त-रहती है।[1]

जैन धर्म मे अपरिग्रह के सिद्धान्त की व्याख्या व्यापक रूप से की गई है। जैन धर्म ने ही आन्तरिक एवं वाह्य परिग्रह में भेद किया है। जैन धर्म यह वताता है कि "दु:ख का मूल परिग्रह है और सुख का मूल अपरिग्रह।" जैसा कि कहा गया है—

"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इह वुत्तं महेसिणा।"[2]

अपरिग्रह के स्वरूप के विपय में श्री मधुकर मुनि के शब्दों को स्मरण रख सकते हैं। उनके शब्द है "केवल प्राप्त वस्तुओं का संग्रह ही परिग्रह नहीं

१ Ethics of Hindus S. K. Maitra, P 223

२ दशवैकालिक ६/२१

है, किन्तु जो अप्राप्त है, पर उनके लिए मन में लालसा हो तो वे भी परिग्रही है, यानी जिनकी कामना की जा रही है वे अप्राप्त वस्तुएँ भी परिग्रह है।"[१]

वर्तमान की भौतिकवादी एवं असंतुलित विचारधारा मे अपरिग्रह की विचारधारा ही मानव के लिए सम्वल वन सकती है। अपरिग्रह भावना ही मानव अस्तित्व को सर्वनाश से बचा सकती है।

'श्रीमद् भगवद् गीता' में आसक्ति शब्द का प्रयोग किया गया है। 'गीता' इस तथ्य पर जोर देती है कि चाहे संग्रह करो, किन्तु उस संग्रह की वस्तु मे आसक्ति न हो। यह तथ्य मानव मनोविज्ञान के विपरीत है, क्योंकि संग्रह करना ही प्रवृत्ति के अन्तर्गत है। यद्यपि 'गीता' में अर्जुन द्वारा वोले गये कई सवाद अपरिग्रह की विश्लेषणात्मकता को प्रकट करते है फिर भी अपरिग्रह का क्षेत्र इतना व्यापक है कि मनुष्य का अस्तित्व और उसका सार दोनो ही एक ही शब्द में व्याप्त हैं।

बौद्ध धर्म ने अपना नीति शास्त्र, चार आर्य सत्यों पर ही आधारित किया है। गौतम बुद्ध की दृष्टि मे दुःख, दुःख का कारण, दुःख निरोध और दुःख दूर करने के उपाय ही मानव को अपरिग्रही वना सकते है। जीवन की हर तृष्णा संसार के जीवों को बांधे रखती है किन्तु, तृष्णा पर विजय पाना ही मानवीय दुःखो से, चाहे भौतिक दुःख हो, आधिभौतिक हो अथवा आध्यात्मिक दुःख हो, मुक्त होना है। यहाँ हम एक बात कहना चाहेगे कि मानवीय जीवन में दुःख सवसे बड़ा शिक्षक है। दुःख ही वह सोपान है जिसके द्वारा सुख तक पहुँच कर, दुःख रूपी सोपान को गिरा दिया जाना चाहिए। समय की मांग है कि हम मानवीय अस्तित्व को अपरिग्रह के संदर्भ में देखे और मानवीय जीवन के उच्च मूल्यो को स्थापित करने में सहायक हो।

मसीही धर्म मे अपरिग्रह सिद्धान्त की विवेचना का भी अपना महत्त्व है क्योकि यीशु मसीह का जीवन स्वयं में एक अपरिग्रही का जीवन था और इस कारण उन्होंने अपने प्रवचनो में कई स्थानो पर परिग्रही होने की निन्दा की है और अपने जीवन के द्वारा यह वताने का यत्न किया है कि अपरिग्रह ही वह मार्ग है जो आत्मोन्नति मे सहायक वनता है। उनके अपरिग्रही होने का सवसे वड़ा प्रमाण उनके ही शब्दो मे दिखाई पड़ता है जव कि एक शास्त्री ने उनसे कहा था, 'हे गुरु, जहाँ कही तू जायेगा, मै तेरे पीछे हो लूंगा।' तव यीशु मसीह ने उत्तर मे कहा था, "लोमडियो के भट और आकाश के पक्षियों के वसेरे होते है, परन्तु मनुष्य के पुत्र (यीशु मसीह) के लिए सिर घरने की भी जगह नहीं है।"[२] अर्थात् यीशु मसीह के लिए कोई ऐसा स्थान नही था जिससे उन्हें

---

१ अपरिग्रह-दर्शन : मधुकर मुनि, पृ ८-९

२ मत्ती ८ : १९-२०

आसक्ति हो। न उनमें वाह्य और न ही आन्तरिक परिग्रह की भावना थी। प्रभु यीशु मसीही दिव्य पुरुष थे। अपरिग्रह पर उनके वचन किसी सामान्य पुरुष के नही अपितु ऐसे अवतार के है जिसने बिना पाप के पृथ्वी पर जन्म लेकर, क्रूस की मृत्यु सहकर, यह सार्थक कर दिया कि जीवन जीने के लिए एक अपरिग्रही का क्या महत्त्व है।

आज के युग मे धन, सम्पत्ति का सग्रह मानव जीवन के लहू मे इस प्रकार मिल गया है कि मनुष्य ने अपने अस्तित्व को ही खो दिया है। वह यह भूल गया है कि हर तथ्य की अधिकता ही बुराई है (Every thing in excess is bad)। इस धन, सम्पत्ति के सग्रह ही ने भयकर विष का रूप ले लिया है जो सतुष्टि तो प्रदान नही करता अपितु मानवीय वेदना को प्रतिक्षण बढाता ही जाता है। प्रभु यीशु मसीह का कथन है कि "मनुष्य केवल रोटी ही से नही, परन्तु हर एक वचन से, जो परमेश्वर के मुख से निकलता है, जीवित रहेगा।"[1] इसी कारण मसीही धर्म धन को इतना महत्त्व नही देता क्योकि ईश्वर और धन दोनो मे विरोधाभास है। मनुष्य दोनों को चुन नही सकता। एक सुन्दर उदाहरण देकर प्रभु यीशु मसीह कहते है कि "कोई मनुष्य दो स्वामियो की सेवा नही कर सकता, क्योंकि वह एक से बैर और दूसरे से प्रेम रखेगा, वह एक से मिला रहेगा और दूसरे को तुच्छ जानेगा, 'तुम परमेश्वर और धन दोनो की सेवा नही कर सकते।' इसलिये मै तुम से कहता हूँ, कि अपने प्राण के लिए यह चिन्ता न करना कि हम क्या खाएँगे? और क्या पीएँगे? और न अपने शरीर के लिए कि क्या पहिनेंगे? क्या प्राण भोजन से और शरीर वस्त्र से बढकर नही? आकाश के पक्षियों को देखो। वे न वोते है, न काटते है और न खल्लो मे बटारोते है, तो भी तुम्हारा स्वर्गीय पिता उनको खिलाता है, क्या तुम उनसे अधिक मूल्य नही रखते।"[2] प्रश्न मानव मूल्य का है। आज मानव मूल्यो का पतन हो चुका है।

मानव मूल्यों के पतन मे मनुष्य को धनी वनने के लिए नाना प्रकार से परिश्रम और कार्य करना पड़ता है। वह धनी वनने के लिए उतावला है। किसी भी रूप से वह धन कमाना चाहता है। पुराने नियम की पुस्तक 'नीति वचन' मे इस पर प्रकाश डाला गया है। वहाँ लिखा है "धनी होने के लिए परिश्रम न करना"[3] तथा "लोभीजन धन प्राप्त करने मे उतावली करता है और नही जानता है कि वह घटी मे पडेगा।"[4] इसका अर्थ यह नही है कि मसीही धर्म निष्क्रियता सिखाता है किन्तु यह एक चेतावनी का रूप है जिसका

---

१ मत्ती ४ · ४
२ मत्ती ६ . २४–२६
३ नीति वचन २३ · ४
४ नीति वचन २८ : २२

मनोवैज्ञानिक कारण है । यही आसक्ति का रूप है । प्रभु यीशु मसीह का कथन है कि "जहाँ तुम्हारा धन है, वहाँ तुम्हारा मन भी लगा रहेगा ।"[1]

मसीही धर्म का स्पष्ट मत है कि जीवन का मूल्य धन, सम्पत्ति से आका नही जा सकता । पवित्र शास्त्र मे स्पष्ट वर्णन मिलता है कि "किसी का जीवन उसकी सम्पत्ति की बहुतायत से नही होता ।"[2] इस सदर्भ मे प्रभु यीशु मसीह ने एक दृष्टान्त मे कहा था कि "किसी धनवान की भूमि मे वडी उपज हुई। तब वह अपने मन में विचार करने लगा कि मै क्या करूँ, क्योकि मेरे यहाँ जगह नही, जहाँ अपनी उपज इत्यादि रखूँ । कुछ सोचने के बाद उस धनी पुरुष ने कहा, "मै अपनी बखारियाँ तोड़कर उनसे वड़ी वनाऊँगा और वहाँ अपना सब अन्न और सम्पत्ति रखूँगा और अपने प्राण से कहूँगा, कि प्राण, तेरे पास बहुत वर्षो के लिए बहुत सम्पत्ति रखी है । चैन कर, खा, पी, सुखी रह ।" इतना कहने के बाद वह ईश्वर की आवाज, अर्थात् अन्तर्तम की आवाज सुनता है कि "हे मूर्ख, इस रात तेरा प्राण तुझसे ले लिया जाएगा । तब जो कुछ तूने इकट्ठा किया है, वह किसका होगा ?"[3] प्रभु यीशु मसीह आगे कहते है कि "ऐसा ही वह मनुष्य भी है जो अपने लिए धन बटोरता है, परन्तु परमेश्वर की दृष्टि मे धनी नही ।" वास्तविकता यह है कि मसीही धर्म को धन, सम्पत्ति बढाने पर एतराज नही है । मसीही धर्म इस बात की शिक्षा देता है कि "चाहे धन, सम्पत्ति बढे तो भी उस पर मन न लगाना ।"[4]

प्रभु यीशु मसीह ने दृष्टान्तो का बहुत अधिक प्रयोग किया है ताकि जन-साधारण भी उनकी बातो को समझ ले । वे एक दृष्टान्त मे बताते है कि उनके पास एक व्यक्ति आया और पूछने लगा, "हे गुरु, अनन्त जीवन का अधिकारी होने के लिए मै क्या करूँ ?" यीशु मसीह ने कहा, तुझमे एक बात की घटी (कमी) है, जा, जो कुछ तेरा है, उसे बेच कर कगालो को दे और तुझे स्वर्ग मे धन मिलेगा और आकर मेरे पीछे हो ले । इस बात से उसके चेहरे पर उदासी छा गई और वह शोक करता हुआ चला गया, क्योकि वह बहुत धनी था ।[5] यीशु मसीही ने चारो ओर देखकर शिष्यो को उपदेश दिया कि "धनवानो को परमेश्वर के राज्य मे प्रवेश करना कैसा कठिन है ।" आगे उन्होने कहा— "परमेश्वर के राज्य मे धनवान के प्रवेश करने से ऊँट का सूई के नाके मे से निकल जाना सहज है ।"[6]

१ लूका १२ : ३४
२ लूका १२ . १५
३ लूका १२ . १६–२०
४ भजन सहिता ६२ : १०
५ लूका १० २१–२२
६ लूका १० : २५

मसीही धर्म में एक धनवान और गरीब मनुष्य की कथा है जो रोचक होने के साथ ही शिक्षा भी प्रदान करती है। कथा इस प्रकार है :—

एक धनवान मनुष्य था जो बैंगनी कपडे और मलमल पहनता और प्रतिदिन सुख-विलास और धूमधाम के साथ रहता था और लाजर नाम का एक कगाल घावो से भरा हुआ उसकी डेवढी पर छोड़ दिया जाता था और वह चाहता था कि धनवान की मेज पर की जूठन से अपना पेट भरे। कुत्ते भी आकर उसके घावों को चाटते थे और ऐसा हुआ कि वह कगाल मर गया। स्वर्ग के दूतों ने उसे लेकर इब्राहीम की गोद मे पहुँचाया। वह धनवान भी मरा और गाड़ा गया। अधोलोक मे उसने पीड़ा में पडे हुए अपनी आँखे उठाई, और दूर से इब्राहीम की गोद मे लाजर को देखा तो उसने पुकार कर कहा—"हे पिता इब्राहीम, मुझ पर दया करके लाजर को भेज दे, ताकि वह अपनी अगुली का सिरा पानी में भिगोकर मेरी जीभ को ठंडी करे, क्योकि मै इस ज्वाला मे तड़फ रहा हूँ।" परन्तु इब्राहीम ने कहा, "हे पुत्र, स्मरण कर कि तू अपने जीवन मे अच्छी वस्तुएँ ले चुका है और वैसे ही लाजर बुरी वस्तुएँ। परन्तु अब वह यहाँ शान्ति पा रहा है और तू तडप रहा है।"[१]

इसी प्रकार एक लोभी भण्डारी की कथा है। कथा के विस्तार से मैं उसको यहाँ उद्धृत नही कर रहा हूँ किन्तु उसके मुख्य अश मै यहाँ प्रस्तुत करता हूँ। कहा गया है कि "जो थोडे-से-थोड़े मे सच्चा है वह बहुत मे भी सच्चा है और जो थोडे मे अधर्मी है, वह बहुत में भी अधर्मी है, इसलिये जब तुम अधर्म के धन मे सच्चे न ठहरे, तो जो तुम्हारा है, उसे तुम्हे कौन देगा ?"[२]

मसीही धर्म भले कामो मे धनी बनने की सलाह देता है। पवित्र शास्त्र मे लिखा है—"अपने लिए पृथ्वी पर धन इकट्ठा न करो, जहाँ कीडा और काई बिगाडते है और जहाँ चोर सेध लगाते और चुराते है परन्तु अपने लिए स्वर्ग मे धन इकट्ठा करो, जहाँ न तो कीड़ा और न काई बिगाडते है और जहाँ चोर न सेध लगाते और न चुराते है।[३]

प्रभु यीशु मसीह के चेले भी अपरिग्रह का पालन करते हुए लोगो को सिखाते रहे। पौलुस जिसने मसीही धर्म का सबसे अधिक प्रचार किया, अपने एक पत्र मे लिखता है कि "क्योकि रुपये का लोभ सब प्रकार की बुराइयो की जड है, जिसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हुए कितनो ने विश्वास से भटक कर

---

१ लूका १६ १९–३१

२ लूका १६ १–१३

३ मत्ती ६ · १९–२०

अपने आपको नाना प्रकार के दुःखो से छलनी वना लिया है।"[1] इसी प्रकार एक अन्य पत्र मे विश्वासियों (अनुयायियो) को लिखता है कि "तुम हमारे प्रभु यीशु मसीह का अनुग्रह जानते हो कि वह धनी होकर तुम्हारे लिए कगाल वना कि उसके कंगाल हो जाने से तुम धनी हो जाओ।"[2]

उपर्युक्त सभी बातो को ध्यान मे रखकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि हम अपनी सचित पूँजी का सदुपयोग इस रीति से करे कि गाँव-गाँव मे अस्पताल हों, लघु-उद्योग हो, ताकि गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाला हर व्यक्ति मानव-कल्याण के उस दर्शन को समझ सके जिसमे मानव मूल्य सर्वोत्तम हों। मानव-धर्म आज के युग की पुकार है। क्या हम सुनेगे ? □

---

१ तिमुथियुस की पत्री ६ १०
२ करिन्थियो की पत्री ८ ९

भारतेन्दु की दानशीलता

एक बार भारतेन्दुजी की प० अम्बिकादत्त व्यास के साथ साहित्यिक चर्चा चल रही थी। भारतेन्दुजी किसी उक्ति पर वेहद खुश हो गये थे। उस समय भारतेन्दुजी के पास द्रव्य का अभाव था। परन्तु उनके शरीर पर लगभग डेढ हजार की पोषाक एवं कीमती चीजे थी। उसी समय मानस शकावली' वाले प. नन्दन पाठक आ पहुँचे। उनके साथ एक गरीब ब्राह्मण था। भारतेन्दुजी को गरीब ब्राह्मण की ओर इशारा करके वताया—"इनकी कन्या विवाह के योग्य हो चुकी है पर इनके पास द्रव्य का अभाव है। आपकी दानशीलता से परिचित है, इसलिये आपके पास आये है। आप इनकी कुछ सहायता कोजिये।"

भारतेन्दुजी पाठकजी को बात सुनकर मुस्कराये। बोले—"इस समय मेरे पास रुपये तो है नही, परन्तु अपनी कुल पोषाक दिये देता हूँ। शहर मे इसको वेचने से कन्या के विवाह लायक द्रव्य तो निकल आयेगा।"

इतना कहकर उन्होने सारी पोषाक उतार कर देदी। साथ-ही-साथ घडी, छड़ी आदि भी देकर व्यासजी का दुशाला ओढ लिया। इस पर व्यासजी ने एक दोहा कहा जिसका आशय था—काशी की पश्चिमी सीमा पर सतयुग मे राजा हरिश्चन्द्र ने अपना सव कुछ दान दे दिया था और आज के युग मे वादशाह हरिश्चन्द्र ने काशी की पूर्वी सीमा पर अपना सर्वस्व दान दे दिया है। इस उक्ति पर प्रसन्न होकर भारतेन्दुजी ने अपने हाथ की नगजडी अगूठी निकाल कर व्यासजी की अंगुली मे पहना दी। एक हाथ से उन्होने अगूठी पहनाई दूसरा हाथ उनके मुख पर रखकर कहा—"अव आगे कुछ मत कहना मेरे पास अव कुछ देने को नही है।"

—डॉ० भैरूंलाल ग

"जो नमाज कायम करते है और जकात देते है और वे ऐसे है जो आखिरत पर विश्वास करते है ।"   (सूरे अन्नमूल, ३)

"मेरे जो बदे 'ईमान' लाए है उनसे कह दो कि ये 'नमाज' कायम करें और हमने जो कुछ दिया है उसमे से छिपाकर और खुले रूप मे खर्च करे, इससे पहले कि वह दिन आये जिसमें न कोई सौदा होगा और न कोई मित्रता होगी (यानि योमे-हिसाब या निर्णय का दिन) ।   (सूरे-इब्राहीम, ३१)

'जकात' अरबी भाषा का शब्द है जिसके मानी है—पाक और शुद्ध होना, बढना, विकसित होना । पारिभाषिक रूप मे जकात उस निश्चित धन को कहते है जिसको अपनी कमाई और माल में से निकालना और उसे अल्लाह के बताए हुए शुभ कार्यो मे व्यय करना आवश्यक है । जैसे मुसाफिरो, मुहताजो और दीन-दु:खियो की सेवा करना, ऋणी व्यक्तियो को ऋण के बोझ से छुटकारा दिलाना, अल्लाह के दीन के लिए की जाने वाली चेष्टाओ मे खर्च करना आदि ।

जकात को जकात इसलिए कहा जाता है कि इसके द्वारा मनुष्य की आत्मशुद्धि होती है और उसे विकसित होने का अवसर मिलता है । मनुष्य का मन, बढी हुई सासारिक मोहमाया से छुटकारा पाता है और उसका माल भी पाक हो जाता है और उसमे बरकत होती है । जकात की व्यवस्था मे पूरे समाज का कल्याण है ।

'जकात' देना आखिरत को याद रखने का उत्तम उपाय है । आदमी अपना माल खर्च करके उसे उसकी ओर लौटाता है जिसने उसे यह माल दिया था । इसी प्रकार उसे अपनी जान को भी उसी की ओर लौटाना है, अतः इसके साथ विनम्रता का होना भी आवश्यक है । इस पहलू से इसमे नमाज की विशेषता आ जाती है ।

जो व्यक्ति अल्लाह के दिये हुए धन में से अल्लाह के बन्दो का हक नही निकालता उसका धन भी अपवित्र ही रहता है और मन और आत्मा को भी शुद्धता प्राप्त नही होती ।   (कुरआन, रामपुर, पृ. १२३०)

वार्षिक आमदनी पर जकात फर्ज है, अनिवार्य है । इसका निर्धारण नौकरी, व्यापार, पशुधन, भवन, उपवन, कृषि-उत्पादन, मूल्यवान वस्तुओ आदि पर किया जाता है । जव मनुष्य को वर्ष मे कभी भी अचानक आमदनी होती है तो उस आमदनी का ५वाँ भाग 'खुम्स' के रूप मे खैरात करना अनिवार्य है । 'खुम्स', 'जकात' से पृथक् है । और जव मनुष्य स्वय परिश्रम करके कुछ उपलब्ध करता है तो उस उपलब्धि का १०वाँ हिस्सा उसे खैरात करना होता है । इस प्रकार 'जकात', खुम्स' और 'अश्र' अनिवार्य दान या खैरात के अन्तर्गत आते है । जकात से ईश्वर की कृपादृष्टि मिलती है ।

इस्लाम मे 'सदका' देना भी आवश्यक समझा गया है, इसका निर्देश भी कुरान मे अकित है । सदका देने से मनुष्य को बुराइयो से छुटकारा मिलता है । उसका मन-मस्तिष्क शुद्ध होता है—

"और यदि तुम खुले तौर पर सदका दो तो यह भी अच्छी बात है और यदि उसे छिपाकर गरीबो को दो, तो यह तुम्हारे लिए ज्यादा अच्छा है और वह तुम्हारी कितनी ही बुराइयो को दूर कर देगा ।" (सूरे-अल-बकर, २७१)

"हे नबी ! तुम उनके मालो मे से सदका लेकर उन्हे पाक करो और उनकी आत्मा को विकसित करो तथा उनके लिए दुआ करो । नि.संदेह तुम्हारी दुआ उनके लिए सन्तोष-निधि है ।" (सूरे-अल-तौबा, १०३)

खुदा की राह मे दान देना या खैरात करना सदका कहलाता है । 'सदका' शब्द 'सिद्क' से व्युत्पन्न है और इसका अर्थ है सच्चाई और निष्ठा । सदका देने से मनुष्य का ईमान, उसका धर्म पुख्ता होता है, वह अधिक निष्ठावान बनता है, उसका ईमान-धर्म और अधिक सच्चा होता है । जो खुदा का सच्चा बदा होता है वह खुदा की राह मे सदका देता है । जकात', 'खुम्स', 'अश्र', 'सदका' या और कोई खैरात वही अल्लाह को स्वीकार्य है जो अपने खून-पसीने से कमाई जाने पर दान की जाए । पूर्ण ईमानदारी से कमाया गया धन शुद्ध धन है और उसी मे से जकात, सदका आदि देना जायज है, उचित है, वरना बेईमानी से, चार सौ बीसी से, स्मगलिग से, जमाखोरी से कमाई गई दौलत से जकात या सदका आदि नही स्वीकार किया जा सकता है । जो लोग रुपया बैंक आदि मे जमा कर उस पर सूद लेते है और उस सूद को जकात, सदका आदि मे खर्च कर धर्मनिष्ठ या दानशील बनते है, खुदा की नजर मे ऐसा सूद का रुपया स्वीकार्य नही, मान्य नही । इस्लाम में सूद लेना और सूद देना दोनों 'हराम', वर्जित घोषित किये गये है ।

"तुम नेकी और वफादारी के दर्जे को नही पहुँच सकते जब तक कि अपनी उन चीजो मे से खर्च न करो जो तुम्हे प्रिय है, और जो चीज भी तुम खर्च करोगे अल्लाह उसका जानने वाला है ।" (सूरे अल-इमरान, ९२)

अल्लाह की राह में प्रिय वस्तु दान देना, खैरात करना बहुत उच्च स्थान रखता है । यहाँ धन-सम्पत्ति, बाग, कारखाने, औलाद यदि खुदा की याद मे बाधक हो तो मनुष्य यकीनन घाटे मे रहेगा । इसलिए कुरान मे साफ-साफ उल्लेख कर दिया गया है—"ऐ ईमान वालो ! माल और औलाद की मुहब्बत तुमको खुदा की याद से गाफिल न करदे, जो ऐसा करेगा वह स्वय खसारे (घाटे) मे रहने वाला है ।"

कुरान और फरमाता है—

"अल्लाह की राह मे खर्च करो और अपने हाथ से अपने आपको हलाकत मे न डालो कि खुदा की राह मे खर्च न करने के मानी हलाकत और बरबादी के है।"

"और जो लोग सोने-चाँदी के खजाने जमा करके रखते है और उनको अल्लाह की राह मे खर्च नही करते, उनको सख्त अजाब (यातना) की खुशखबरी सुना दीजिए।"

"सोने-चाँदी की टिकयों को तपा-तपा कर उनसे उनकी पेशानियो को दागा जायेगा।"

खुदा तो यह भी पसन्द नही करता कि मनुष्य ऐसा व्यापार, कारोबार करे जिससे वह खुदा को भूल जाये— "ला तुल ही हिम तिजारातुन-वला बईउन अन जिक्रिल्लाह।" इससे स्पष्ट है कि मनुष्य जो भी कामधधा करे वह हर समय अल्लाह का स्मरण करे, उसकी याद से विमुख न हो, उसकी कृपा, मेहरबानी का हरदम शुक्र करता रहे। जो कुछ देता है उसे सिर आँखो पर रखे, न लालची बने और न ही कजूस बने कि जो अल्लाह ने दिया है उसमे से अल्लाह की राह मे, उसके नाम पर कुछ खर्च ही न करे।

आज समाज मे भौतिकवाद की दुहाई दी जा रही है। चारों तरफ लूट-खसोट का बाजार गर्म है। रिश्वत, भ्रष्टाचार, धोखाधडी, असत्य हमारे जीवन का अग बनते जा रहे है, हमारा समाज बुरी तरह परिग्रहवाद के अभिशाप मे जकडता जा रहा है। इस्लामी समाज भी परिग्रहवादी बन रहा है। वह कुरान के रास्ते से, पैगम्बर मुहम्मद साहब की शिक्षाओं से दूर होता जा रहा है। धन ने इतनी गहरी जडे जमाली है कि प्रत्येक व्यक्ति अब दुआ-सलाम भी धन-स्तर को देखकर करता है। इस्लामी संस्कृति भौतिकतावादी नही है, लेकिन आज वह भी घोर भौतिकतावादी बनती जा रही है। इस्लाम धर्म के अनुयायी भी काले-धन के व्यापार मे जुटे है। वे भी बैंक मे रुपया जमाकर उस पर से सूद ग्रहण करना हराम नही समझते। अजीब तरह के पतन की ओर जा रही है इस्लामी सस्कृति भी। इस्लामी समाज मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता को तस्लीम किया गया है लेकिन शोषण को स्वीकार नही किया गया। किसी व्यक्ति को कम मजदूरी देना या अधिक काम लेना उचित नही। मजदूर का पसीना सूखने से पहले उसे उसके काम की उजरत मिल जानी चाहिए। "माल हराम पर पला हुआ मास परवान नही चढता, बल्कि उसका असल ठिकाना जहन्नुम की आग है।" (तिरमिजी हदीस) कुरान का इर्शाद है—"ए लोगो! जो ईमान लाये हो आपस मे एक दूसरे के माल बातिल तरीको (अनुचित साधनो) से न खाओ।" (अन्निसा

२६) । इस्लाम ने जहाँ अनुचित साधनो से दौलत जमा न करने की बात कही है वहाँ जमाखोरी व जखीराअन्दोजी को भी बहुत बुरा और समाज के, व्यक्ति के लिए हानिकारक माना है । अंधाधुन्ध दौलत कमाने को इस्लाम नापसद करता है । उसने जमाखोरी करके, बनावटी अभाव व किल्लत पैदा करके अनुचित लाभ उठाने को पसन्द नही किया, यह एक ऐसा अपराध है जिसे इस्लाम क्षम्य नही समझता । पैगम्बर साहब फरमाते है—"जिसने चालीस दिन तक खाद्य सामग्री को जमा करके रखा उसको अल्लाह से कोई वास्ता नही, न अल्लाह को उसकी परवाह है ।" इस्लाम ने चोरी-डकैती की सजा भी सख्त रखी है । यहाँ चोरी मे हाथ काटना तक जायज करार दिया गया है । यह सजा हिसात्मक और अमानवीय जरूर लगती है, लेकिन समाज को अपराधो से पाक रखने के लिए इस प्रकार की कठोर सजा का विधान आवश्यक और उचित है ।

इस्लाम मे फजूलखर्ची भी पसन्द नही की गई और न ही कजूसी पसन्द की गई । यहाँ हद से गुजरना दोनो रूपो मे बुरा ठहराया गया है । कुरान मे इर्शाद है—"फजूलखर्ची न करो, फजूलखर्च लोग शैतान के भाई है और शैतान अपने रब का नाशुक्रा (कृतघ्न) है ।"

बनीइस्राईल २६, २७ मे एक स्थान पर कहा गया है—"खाओ पीओ, मगर हद से न गुजरो, अल्लाह हद से गुजरने वालो को पसन्द नही करता ।"

(अल-एराफ ३१)

इस्लाम ने जकात, सदका को बड़ा दर्जा दिया है, उन्हे इबादत मे शामिल किया है । जैसे रोजा, नमाज इबादत है और फर्ज है उसी प्रकार जकात, सदका भी फर्ज और इबादत मे शामिल है । लेकिन यहाँ गरीबो, असहायों, अनाथों, कगालो को धनी लोगो के रहमोकरम पर, उनकी दयादृष्टि पर नही छोड़ दिया गया है, बल्कि इसमे धनी लोगों से धन प्राप्त करने को उनका हक-अधिकार दिया है, यह कोई धनी लोगो का एहसान नही है । यह तो कानून से भी प्राप्त किया जाता है । अन्य हकूमतों मे टैक्स द्वारा धनी वर्ग से धन वसूल किया जाता है, सरकार आयकर, सम्पत्तिकर आदि लगाती है, लेकिन यहाँ जकात, सदकात द्वारा निर्धन वर्ग धनी वर्ग पर कर लगाता है ।

मुसलमान रमजान में एक महीने के रोजे रखते है । रोजा या उपवास का अन्य धर्मो मे भी विशेष महत्त्व है । रमजान के रोजो से धनी को भी भूख-प्यास की शिद्दत का एहसास होता है और उसमे भी मानवीय गुणो का विकास होता है, वह भी सयम या परहेजगारी को सीखता है । रोजों की समाप्ति पर जिस दिन ईद मनाई जाती है उस दिन नमाज जाने से पूर्व प्रत्येक व्यक्ति पर जिसके पास साढे बावन तोला चाँदी या सात तोले सोना हो या जिसने एक

मकान किराये पर उठाया हो और एक मकान मे स्वय रहता हो वह सदका देने का पाबन्द है। और उसे अपने घर वालों का प्रति व्यक्ति पौने दो सेर गेहूँ या इसका मूल्य फित्रे के रूप मे देना होता है, जिस पर जकात देना फर्ज होता है उस व्यक्ति पर सदका-फित्रा भी वाजिव, अनिवार्य होता है। और जो व्यक्ति सदका देता हो या सदका देने की हैसियत रखता हो उसे जकात लेना उचित नही है। सदका फित्र देने से गरीव आदमी भी ईद की खुशियो मे शरीक हो सकते है, वे भी अपने को समाज का एक अभिन्न अंग समझ सकते हैं।

जैन धर्म मे अपरिग्रह मे आवश्यकता, इच्छापरिमाण के अनुसार धन-सग्रह को उचित ठहराया गया है और वस्तुओ के प्रति 'मूर्च्छा' या 'ममत्व' को परिग्रह कहा है। इस्लाम मे भी धनसग्रह मे सयम और उचित साधनो को आवश्यक माना है। इस्लाम मे मनुष्य की आवश्यकता को भी नजर मे रखा गया है, जिस व्यवस्था मे मनुष्य की आवश्यकतानुसार वस्तुएँ न मिले, जरूरत की चीजे प्राप्य न हो उस समाज मे शाँति कैसे रहेगी ? इस्लाम इस वात को स्वीकार नही करता कि एक तरफ तो दौलत का दरिया वहता हो और दूसरी तरफ लोग अभाव और तगी का जीवन व्यतीत करते हो। पैगम्वर मुहम्मद साहब ने 'माले-गनीमत' को तकसीम करते हुए एक हिस्सा अविवाहित को और दो हिस्से विवाहित को देना निश्चित किया। हजरत अली ने टैक्स वसूल करने के नियम को रसूले अकरम की नीति के अनुसार निर्धारित किया और टैक्स वसूल करने वालो को हिदायत दी कि लोगो के गर्मी या जाडे के वस्त्र, खाने का सामान, सवारी के पशु मत बेचना, और न टैक्स वसूल करते हुए किसी को कोडे लगाना।

इस्लामी अर्थव्यवस्था न्याय और सतुलन पर आधारित है। यहाँ धनसग्रह को न्याय, ईमानदारी, मेहनत, सयम की सीमा मे ही उचित ठहराया गया है। धन सम्पत्ति मे से खैरात करना, सदका, जकात आदि देना भी आवश्यक घोपित किया है। इस्लामी समाजवाद की अपनी एक अलग अर्थव्यवस्था है, यहाँ सूद, जुआ, सट्टा, शराब या अन्य नशीले पदार्थो के द्वारा धन कमाने को 'हराम' (वर्जित) घोपित किया गया है। राज्य के लिए यह सव हराम माने गये है। इस्लाम मे तो मेहनत की कमाई को हलाल (उचित) माना गया है। पैगम्वरे-खुदा का इर्शाद है—

"खुदा के सामने प्रतिष्ठित, आदरणीय वह है जो ज्यादा परहेजगार है।"

"परहेजगारी के सिवाय और किसी वस्तु की विना पर एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति पर फजीलत नही है। सव लोग आदम की औलाद है और आदम मिट्टी मे वने थे।" एक उदाहरण देखिए—जैसे मनुष्य काँटो से अपना दामन

बचाकर चलता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति बुराई से, गुनाह से अपना दामन बचायेगा वही परहेजगार कहलायेगा।

इस्लाम में सम्पत्ति एकत्रित करना अनुचित माना गया है। धन संग्रह करना, उसे छिपाकर रखना या खर्च न करना इस्लाम के विरुद्ध है। ऐसा करने से समाज की अर्थव्यवस्था बिगडती है और मनुष्य-मनुष्य के बीच सम्बन्धों में दरार पड़ती है, साथ ही मनुष्य और ईश्वर के सम्बन्ध भी प्रभावित होते है। धन लिप्सा मनुष्य को ईश्वर से विमुख करती है। मनुष्य से पूछा जायेगा कि उसने यह माल-दौलत कैसे प्राप्त की और कैसे खर्च की ? इस्लाम में भिक्षावृत्ति को अच्छा नही समझा, लेकिन धन को अनाथों, मिस्कीनों, गरीबों, मुसाफिरों मे बाँटना उचित ठहराया। इस्लाम का अपरिग्रह-विचार का सम्बन्ध दोनों लोको से, जहाँ इहलोक को सुविधाओं, सुख-साधनों से पूर्ण बना सकते है, वहाँ आध्यात्मिक क्षेत्र में भी इसका महत्त्व है। यह मोक्ष का, नजात का साधन बन सकता है। □□□

ख़लीफ़ा का वज़ीफ़ा

खलीफा का वजीफा तय करना निहायत मुश्किल काम था। लोग सोच न पाये कि उन्हें कितना वजीफा दिया जाय। जब कोई हल न सूझा तो उन्होंने निर्णय किया कि खलीफा से ही कहा जाए कि वे अपना वजीफा बाँध लें।

वे सब मिलकर खलीफा के पास पहुँचे। उन्हें परेशान देखकर खलीफा ने पूछा, "आप सब लोग किस बात से परेशान है ?" लोगों ने अपनी परेशानी बताई, तो वे हँस पड़े, "इतनी सी बात। अच्छा यह बताइये, मदीना में किसी मजदूर को आप रोजाना कितनी मजदूरी देते है ?"

"मजदूर की रोजाना मजदूरी तो बहुत कम है। न तो उससे आपका गुजारा होगा और न वह आपके रुतबे के लायक होगी।"

"रुतबे से मजदूरी का क्या ताल्लुक। फिर एक बात और है। मजदूर जितनी मजदूरी लूंगा, तो मुझे यह भी मालूम होगा कि एक मजदूर उतने में किस तरह गुजारा करता है। यदि मुझे लगेगा कि वह कम है, तो मैं मजदूरो की तनखाह बढाने की कोशिश करूँगा। इससे मेरा वजीफा भी बढ जाएगा।"

ये खलीफा और कोई नहीं हजरत अबूबकर थे।

—डॉ० भैरूंलाल गर्ग

३५ परिग्रह-त्याग का क्रम

□ श्री श्रीचन्द गोलेछा

परिग्रह का सामान्य अर्थ किसी वस्तु का ग्रहण करना है। जैन धर्म के अध्यात्म अर्थ में कर्मों का ग्रहण तथा ग्रहण करने के साधनों व कारणों को परिग्रह कहा गया है। कर्मरूपी परिग्रह का क्षेत्र बहुत व्यापक है। परिग्रह के इस भावात्मक (आभ्यंतरिक) रूप के बुद्धि द्वारा भेद करे तो अनन्त भेद हो सकते है। इन भेदो अथवा अवस्थाओं को हम मुख्य रूप से छह भागो मे बाँट सकते है:—

१. **असंयत अवस्था**—मिथ्यात्व से लेकर अविरति सम्यक्दृष्टि गुणस्थान तक यह अवस्था होती है। इस अवस्था में भोग (परिग्रह) त्यागने योग्य है, यह अनुभूति तो होती है परन्तु भोग त्यागा नही जाता।

२. **संयत-असंयत अवस्था**—इस अवस्था मे इन्द्रियों पर क्रमशः नियत्रण करते हुए विषय-त्याग की ओर बढ़ा जाता है। ज्यों-ज्यो विषय-त्याग होता जाता है त्यों-त्यो बाह्य भोगो के साधन और कारण छूटते जाते है।

३. **प्रमत्त संयत अवस्था**—इस अवस्था मे इन्द्रिय-नियंत्रण एव भोग-सामग्री के त्याग के साथ-साथ चित्तवृत्ति पर भी नियन्त्रण होता जाता है। जिससे प्रमत्तता मे कमी आती है।

४. **संयत अवस्था**—इस अवस्था मे इन्द्रियो पर नियत्रण होने के फलस्वरूप विषय-सुख की अभिलाषा पर नियत्रण करने का सामर्थ्य बढता जाता है।

५. **मोह-विजय अवस्था**—इस अवस्था में चैतसिक संस्कारो के कारण उत्पन्न क्रोध, मान, माया आदि विकारों पर विजय प्राप्त करते हुए मोह कर्म को क्षय किया जाता है। इस अवस्था मे किंचित् लोभ के संस्कार शेष रह जाने से इन्द्रियों में जो उत्तेजना होती है, वह संस्कार नाश के साथ समाप्त हो जाती है।

६. **सयोगी केवली अवस्था**—इस अवस्था में मोह के क्षय हो जाने के कारण ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय कर्म पूर्ण क्षय हो जाते है। यहाँ इन्द्रियाँ पदार्थो के सम्पर्क मे आने पर भी उनसे किंचित् भी प्रभावित नही होती। यह अपरिग्रह-जीवन की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। □□□

द्वितीय खण्ड

अपरिग्रह : व्यवहार

३६ तेते पाँव पसारिए

☐ युवाचार्य श्री मधुकर मुनि

सरोवर मे जिस प्रकार जल आने के मार्ग होते है उसी प्रकार जल के निकलने के भी मार्ग होते है। यदि किसी सरोवर मे जल आता तो रहे, परन्तु जाने का कोई मार्ग न हो तो सरोवर की क्या स्थिति होगी ? पाल टूट जायेगी, तट टूट जावेंगे और जल ऊपर से बह निकलेगा। और यदि जल बहता ही बहता रहे, आने के रास्ते बन्द हो गये हो तो ? धीरे-धीरे सरोवर सूख जावेगा।

गृहस्थ जीवन भी एक सरोवर है। जल की तरह उसमे भी धन आने-जाने के रास्ते बने होते है जिन्हे 'आय' और 'व्यय' कहते है। यदि केवल आय ही आय हो, धन आता रहे, पर व्यय का कोई समुचित कार्य न हो तो गृहस्थ जीवन की मर्यादा टूट जायेगी और यदि व्यय ही व्यय होता रहे, आय का द्वार वन्द हो गया तब भी जीवन का सरोवर सूख जावेगा, दरिद्रता छा जावेगी। इस प्रकार गृहस्थ जीवन मे आय और व्यय के दोनों मार्ग समुचित रूप से चलते रहने चाहिये। आय के अनुसार व्यय और व्यय के अनुकूल आय ये दोनो स्रोत जब व्यवस्थित रहते है तो जीवन का सरोवर सदा हरा-भरा और परिपूर्ण रहता है। इस सिद्धान्त को आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने, जो स्वय एक महान् नीतिज्ञ आचार्य थे, इस प्रकार व्यक्त किया है—

व्ययमायोचित कुर्वन् वेष वित्तानुसारत.।

गृहस्थ आय के अनुसार व्यय करता हुआ और वैभव के अनुरूप रहन-सहन रखता हुआ सुखी होता है।

चार पुरुषार्थों की जीवन-दृष्टि

सद्‌गृहस्थ की मर्यादा को बताने वाले ये दो सूत्र-जीवन की आर्थिक नीति के आधार स्तम्भ कहे जा सकते है। जीवन मे चार प्रकार के पुरुषार्थ बताये गये है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म सबसे पहला पुरुषार्थ है, जीवन के अभ्युदय एवं श्रेयस् का यह मूल आधार है। धर्म की व्याख्या ही आचार्यो ने की

है—यतोऽभ्युदययनिश्रेयससिद्धिः स धर्म[1]। जिससे जीवन का भौतिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास हो, वह धर्म है। धर्म के वाद जीवन में अर्थ का महत्त्व है। इसमें भी दो दृष्टियां है- पहली दृष्टि यह है कि अर्थ से ही जीवन के व्यावहारिक कार्य सिद्ध होते है। अर्थ गृहस्थ जीवन की धुरी है, इसी के आधार पर सब व्यवहार बनते है और चलते है। आचार्य सोमदेव ने अर्थ की परिभाषा करते हुए कहा है—

यतः सर्वप्रयोजन् सिद्धिः सोऽर्थः[2]।

जिससे सब अर्थ (प्रयोजनो) की सिद्धि हो सकती हो वह है अर्थ। अर्थ के बिना सब व्यर्थ है। इसलिये भौतिक जगत् मे अर्थ का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है, जैसा कि आध्यात्मिक जगत् में धर्म का है। इसलिये अर्थ के वाद धर्म को महत्त्व दिया है।

दूसरी दृष्टि यह —कि जीवन मे अर्थ का महत्त्व तो है, किन्तु अर्थ ही सब कुछ नही है। अर्थ वही सार्थ (सफल) है जो धर्म से प्राप्त हो, जो न्याय-नीति एवं मर्यादा के अनुसार प्राप्त हो सके वही अर्थ जीवन में सुख एव आनन्द दे सकता है। इसलिये धर्म के बाद अर्थ को रखने का अभिप्राय है धर्म से अनुबंधित अर्थ। धर्म रहित अर्थ-अनर्थ होता है—"अर्थोह्यनर्थमूल" जैसा शंकराचार्य ने कहा है, वह उसी धर्म भावना रहित अर्थ के लिये कहा है।

अर्थ के बाद "काम" बताया गया है, इसका भी भाव यही है कि अर्थ जब होगा तभी तो "काम" होगा। काम का अर्थ है—इन्द्रियो की तृप्ति—'सर्वेन्द्रिय प्रीतिः स कामः'[3]। समस्त इन्द्रियो की प्रीति-प्रसन्नता, वस्तुओं के उपभोग से प्राप्त तृप्ति—यह है काम। अर्थ के बिना काम सध नही सकता। पास मे पैसा होगा तभी मनुष्य उसका उपभोग कर सकेगा। पास मे फूटी कौड़ी न हो, ठनठनपाल मदनगोपाल हो और रोज रबडी रसगुल्ला उडाना चाहे तो ? कोई हलवाई काका-मामा है जो मुफ्त मे देता रहे। बिना पैसे के मनुष्य इच्छा पूर्ति नही कर सकता, इसलिये अर्थ के वाद "काम" को पुरुषार्थ बताया गया है। आचार्यो ने कहा है—"अर्थ" धर्म के अनुकूल रहना चाहिये और काम-धर्म एव अर्थ दोनों के अनुकूल होना चाहिये—धर्मार्थाविरोधेन- कामं सेवेत तत. सुखीस्यात्[4] धर्म एव अर्थ को ध्यान में रखकर जो "काम" का सेवन करता है, वह जीवन मे कभी दु खी नही होता।

१—वैशेपिकदर्शन, सूत्र १

२—नीतिवाक्यामृत (अर्थ समुद्देश १)

३—नीतिवाक्यामृतत (काम समुद्देश १)

४—नीतिवाक्यामृत (काम समुद्देश २)

मोक्ष अन्तिम पुरुषार्थ है, वह तीनो पुरुषार्थो का अन्तिम प्राप्तव्य है, मजिल है। तीनों पुरुषार्थ जब इस मजिल की ओर बढते है, तभी वे महत्त्वपूर्ण है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने यहाँ तक कह दिया है कि—मोक्ष के अभिमुख चलने वाले धर्म, अर्थ एव काम परस्पर विरोधी नही, किन्तु सहयोगी हो सकते है और जिन शासन मे उनका निषेध नही है।[1]

धन का नियोजन

अब प्रश्न यह है कि नीतिपूर्वक कमाये हुए धन का नियोजन किस प्रकार करे कि आय-व्यय का सन्तुलन बना रहे और जीवन की गाड़ी मे रुकावट न आये।

कौटिल्य अर्थशास्त्र और प्राचीन सूत्रो आदि मे भी इस विषय का वर्णन मिलता है कि गृहस्थ सर्वप्रथम अपनी आय पर विचार करे कि वह कितना कमाता है और कैसे कमाता है? अन्याय से कमाया हुआ एक पैसा भी उसके धन मे मिलना नही चाहिये, नही तो जैसे मन भर दूध को काजी की एक बून्द फाड डालती है वैसे ही समस्त धन दूषित हो जाता है।

कमाई के शुद्ध उपायो पर विचार करके फिर यह सोचना चाहिये कि जितना वह कमा रहा है उससे उसके परिवार का भरण-पोषण किस प्रकार हो, धर्म एवं परोपकार के कार्य कैसे सध सकें, घर पर आये अतिथि की सेवा कैसे हो, व्यापार आदि का संचालन किस प्रकार करे और भविष्य मे समय पर काम आने के लिये कुछ पचाकर कैसे रखे? इन सब व्यवस्थाओ को सोचकर समुचित प्रबन्ध करना ही अर्थ का उचित नियोजन कहलाता है। प्राचीन समय मे अर्थ का नियोजन चार प्रकार से किया जाता था।[2]

१. धन का एक भाग व्यापार मे लगा रहता था।
२. एक भाग से घर की व्यवस्था, अतिथि-सेवा तथा दान आदि कार्य किये जाते थे।
३. एक भाग अपने आश्रित व्यक्तियो के भरण-पोषण मे लगाया जाता था।
४ एक भाग भविष्य के लिये, निधि रूप मे सुरक्षित रखा जाता था।

१—धम्मो अत्थो कामो भिन्नेते पिंडिया पडिनवत्ता।
जिणवयण मि उ तिन्ना, असवत्ता होंति नायव्वा॥
—दशवैकालिक निर्युक्ति २६२

२—देखिए—उपासकदशाग व रायपसेणी सूत्र

कही-कही इसी से मिलते-जुलते तीन क्षेत्रों में धन लगाने का भी वर्णन आया है—

> एकेन भोगे भुञ्जेय्य दीहि कम्म पयोजयो ।
> चतुर्थ च निधापेय्य आपदासु भविस्सति ।।
>
> —दीघनिकाय ३/८/४

गृहस्थ धन का एक भाग अपने स्वय के खर्च के लिए उपयोग करे, दो भाग व्यापार आदि कर्म क्षेत्र मे लगाये तथा चौथा भविष्य मे विपत्ति आदि में काम आने के लिये रक्षित रख छोड़े ।

भगवान् महावीर के दस श्रावको मे आनन्द श्रावक सबसे प्रथम था। उसका जीवन वास्तव मे ही आनन्दमय था । उसके पास बारह करोड की सम्पत्ति थी । उसने अपनी सम्पत्ति का तीन भागो मे बंटवारा कर रखा था। चार करोड सोनैये भूमि मे सुरक्षित रखे थे । चार करोड व्यापार मे लगे हुए थे और चार करोड़ घर वगैरह, भूमि, आभूषण, जायदाद आदि में बिखरे हुए थे। इस प्रकार उसने अपनी सम्पत्ति का नियोजन एक सुन्दर तथा व्यवस्थित रीति से कर रखा था । व्यापार मे जब कभी उसे आवश्यकता होती तो दूसरो से मागने की या कर्ज लेने की जरूरत नही थी । भूमि मे सुरक्षित धन का उपयोग यही था कि वह समय पर काम आ सके । आज जो काम बैको से लिया जा रहा है, किसी समय में वही काम भूमिगत धन से लिया जाता था। जब आवश्यकता हुई उपभोग किया, जब आवश्यकता नही रही, भूमि मे डाल दिया । पुराने लोगो की व्यापारिक बुद्धि बडी तीक्ष्ण थी । वे नफे-नुकसान के लिये सदा सावधान और उसे बर्दाश्त करने की तैयारी रखते थे । कहा जाता है—व्यापार समुद्र की यात्रा के समान है । उसमें कब कोई झोका आ जाये और नाव को डगमगादे, कुछ पता नही चलता । समुद्र यात्री अपनी मजिल पर पहुँचकर मालामाल हो सकता है पर बीच में उसे हमेशा सावधान और खतरे का सामना करने को तैयार रहना पड़ता है । यही स्थिति व्यापार की है। उसमे लाभ की आशा रहती है पर हानि के लिये भी अपने को तैयार रखना पड़ता है । नुकसान मे घबरा जाने वाला, थोडे से घाटे मे दिवाला निकालने वाला, सच्चा व्यापारी नही हो सकता ।

नीतिकारो ने बताया है—व्यापारी दो प्रकार के होते है । कुछ व्यापारी वट वृक्ष के समान होते है और कुछ एरड के समान । वट वृक्ष धीरे-धीरे बढता हुआ सैकडो-हजारो शाखाएँ फैलाकर महावृक्ष का रूप धारण कर लेता है। हजारो वर्षो तक सर्दी, गर्मी, वर्षा और आँधी तूफान मे खडा रहता है । इसका रहस्य है—वह बाहर मे जितना विशाल होता है, उसकी जड़े भूमि मे उतनी ही गहरी होती है ।

वट वृक्ष की तरह जो व्यापारी होते है बाहर में उनके व्यापार का जितना फैलाव होता है, भीतर में उनकी आर्थिक नीव उतनी ही मजबूत होती है। सैकड़ों-हजारो वर्षो की प्रतिष्ठा और पूँजी उनकी गहराई में जमी रहती है। बाजार के जबर्दस्त उतार-चढ़ाव और हानि-लाभ मे भी उनकी नीवे हिलती नही, हर आँधी-तूफान का मुकाबला करने की शक्ति होती है उनमे।

एरंड का वृक्ष भी आपने देखा होगा। कितना जल्दी तैयार होता है। आज बीज डाला और चार महीने मे लहलहाने लग गया। साल भर मे तो उसकी कतारे तैयार हो जाती है और समाप्त होने मे भी कितना समय लगता है। एक हवा का तेज झोंका आया, थोड़ी जोरदार गर्मी पडी और एरंडिया का नामोनिशान भी नही रहता। ऐसा क्यो होता है? कहते है एरड बाहर मे तो काफी फैल जाता है, किन्तु जमीन के अन्दर उसकी नीव नही रहती। और जिसकी जड़ नही, वह ससार मे कितने दिन टिकेगा?

कुछ व्यापारी—काले-धोले करके हाथ फेरी और बेईमानी करके बहुत जल्दी ही बढ जाते है, बाहर में बडा भारी दिखावा करते है। पूँजी हजार की और शान करोड़ की। परन्तु उनकी नीव कितनी होती है? बरसाती मेंढ़क की तरह आज जो टर्र-टर्र कर रहे है, थोड़ी धूप निकलते ही उनका कही पता नही चलता। जिन्हे बनते देर नही लगती, उन्हे बिगडते भी क्या देर लगेगी। और इतनी जल्दी वे कैसे बनते है? न्याय की कमाई बरकत जरूर करती है, किन्तु बाढ के पानी की तरह रातो-रात नही बढती। जिन्हे रातो-रात लखपति बनने की हवस होती है वे अन्याय करते है, गलत रास्तो से धन कमाने की चेष्टा करते है, उनके सामने न्याय-नीति का महत्त्व नही होता, केवल पैसे का महत्त्व होता है। किन्तु आप जानते है, अन्याय का पैसा जैसे आता है वैसे ही चला भी जाता है।

मैने एक कहानी पढी थी। एक लोमडी किसी बगीचे के पास से निकली। बगीचे मे सेब, दाडिम, अगूर आदि देखकर उसके मुँह में पानी छूट आया। बगीचे की तार की बाड़ थी, उसमे से घुसने की कोशिश की, किन्तु शरीर मोटा ताजा था इसलिये घुस नही सकी। लोमड़ी ने सोचा शरीर को कुछ पतला करके इसमे घुसूँ और फिर मनमाने फल खालूँ। तो वह तीन दिन तक वहाँ भूखी-प्यासी पड़ी रही, पेट कुछ पतला हुआ तो तार मे घुसकर बगीचे मे चली गई।

लोमडी ने बगीचे मे खूब फल खाये। पहले से भी ज्यादा मोटी हो गई। अब बाहर निकलने के लिये तार मे घुसी तो फिर फँस गई। बिचारी छटपटाई पर कोई रास्ता नही था, अब फिर तीन-चार दिन भूखी रही और कुछ दुबली हुई तो बाहर निकल सकी।

तो लोमडी का फल खाना क्या भाव पडा ? पाप की कमाई भी इसी तरह की है। वह एक वार दिखावा लाती है पर कुछ ही दिन में व्याज सहित वापस जाने मे भी देर नही लगाती ।

खर्च की व्यवस्था

मै बता रहा था—गृहस्थ जीवन मे आय का स्रोत सबसे महत्त्वपूर्ण है, वह जितना शुद्ध और सुदृढ होगा उतना ही वह धन चिरस्थायी होगा। इसीलिये व्यापार नीति भी शुद्ध होनी चाहिये, विवेकपूर्ण होनी चाहिये। खरी कमाई सदा बरकत करती है और खोटी कमाई तकलीफदेह होती है।

आय का स्रोत शुद्ध होने के बाद गृहस्थ अपने व्यय के स्रोत पर भी विचार करता है। व्यय के सम्वन्ध मे सबसे पहली वात तो यह सोचता है कि उसकी आय से व्यय कम होना चाहिये। जैसा कि पहले वताया है—आय का एक भाग भविष्य के लिये सुरक्षित रखना चाहिये। नीति का कथन है—'आपदर्थ धन रक्षेत।' आपत्ति काल के लिए कुछ धन वचाकर रखना चाहिये। गृहस्थ के पीछे परिवार है, माता-पिता, पत्नी-पुत्र और नौकर-चाकर आदि अनेक व्यक्तियो का सम्बन्ध उसके साथ जुडा रहता है। वीमारी, विवाह, शिक्षा आदि अनेक ऐसे आकस्मिक प्रसग आते है जिन पर उसे एक साथ अधिक खर्च करना पडता है। अब यदि उसके पास कुछ सुरक्षित निधि नही है, थोड़ी वहुत पूँजी जमा नहीं है तो क्या हालत होती है, आप ही जानते है।

भविष्य के लिये बचाने के बाद जो बचता है, उसी मे से गृहस्थ अपने चालू खर्च की व्यवस्था करता है। यदि खर्च कम और आमदनी अधिक है तब तो कोई चिन्ता की बात नही, किन्तु यदि इससे उलटा है तब अवश्य ही चिन्ता की वात है। नीति का कहना है—'आयमनालोच्य व्ययमानो वैश्रमणोऽपि श्रमणायते।' आय का विचार किये बिना अर्थात् आय से अधिक व्यय करने पर तो कुबेर भी भिखारी वन जाता है, कारू का खजाना भी खाली हो जाता है तो साधारण गृहस्थ की वात तो क्या ? राजस्थानी में एक कहावत है—

> दीवालो काढे तीन जणा, हुण्डी, चिट्ठी विणज घणा ।
> तू क्यो रोवे चौथा जणा ? म्हारे आमद कम, खर्चा घणा ॥

हुण्डी, चिट्ठी और व्यापार वाले तीन आदमी फिकर मे घूम रहे थे उन्होने जव एक चौथे आदमी को मुँह लटकाये वैठे देखा तो पूछा—"भाई ! क्या वात है, हम तो रोए तो रोए, तू क्यो रोता है ?"

उसने कहा—"भाई ! क्या करूँ ? मेरे तो खर्च ज्यादा है, आमदनी कम है वस, इसी फिकर मे रात-दिन रोना आता है।"

इस तरह आमदनी से ज्यादा खर्च वाला हमेशा चिन्तित रहता है। इसलिये पुराने सत कहा करते है—

"तेते पॉव पसारिए, जेती लांबी सौड़।"

अर्थात् जितनी लम्बी रजाई हो उतने ही पॉव फैलाने चाहिये। रजाई छोटी हो, और पैर रात में इधर-उधर बाहर निकालोगे तो सर्दी मे ठिठुर कर ठाकुर बन जाओगे। उसी प्रकार आमदनी कम हो, और खर्चा ज्यादा करोगे तो गाडी चल नही सकेगी।

कंजूसी नहीं, किफायतशारी

मै देखता हूँ, आज के युग मे साधारण परिवारो की स्थिति बडी नाजुक है। अर्थशास्त्रियो का कहना है कि संसार में भारत के आदमी की प्रति व्यक्ति औसतन आय सबसे कम है। अमेरिका का एक व्यक्ति जहां दस रुपये रोज कमाता है वहा भारत का एक व्यक्ति प्रतिदिन दो आने से आठ आने तक औसतन कमाता है। यह आँकड़ा अवश्य ही भारतीयो की कम आय का सूचक है। किन्तु यह भी तो बात है कि भारतवासियो का जीवन स्तर या रहन-सहन का खर्च भी ससार में, शायद सबसे कम है। आय मे जितना अन्तर है, उतना ही रहन-सहन के स्तर में भी अन्तर है, इस कारण यह विषमता इतनी दु:खदायी भी नही है। फिर ससार के अन्य देशो में आज जितनी फैशन और फिजूलखर्ची बढी है, भारत में अब भी उतनी नही है। हाँ, अब भारत मे धीरे-धीरे फैशन और फिजूलखर्ची का रोग बढ रहा है, और इसी कारण सामान्य गृहस्थ का जीवन अस्त-व्यस्त होता जा रहा है।

गाँधीजी ने एक जगह लिखा है—"मनुष्य अर्थ की कमी के कारण उतना परेशान नही है जितना आर्थिक अव्यवस्था के कारण। वास्तव मे यह एक तथ्य है। मनुष्य अपनी आमदनी के अनुसार व्यवस्था रखे, ठीक से बजट बनाकर चले तो वह अनेक परेशानियो और फिजूलखर्चियो से बच सकता है। यह ठीक है कि खर्च-वर्च मे कजूसी करना भी बुरा है, रहन-सहन का स्तर नीचा रखना भी उचित नही और अपनी इज्जत, प्रतिष्ठा एवं पद के अनुसार उसे समय पर खर्च करना तो पड़ता है, पर आप जानते है—कंजूसी और चीज है व किफायतशारी और चीज। कजूसी बुराई है, किफायतशारी गुण है। इसी प्रकार फैशन और फिजूलखर्ची दुर्गुण है, किन्तु सफाई, स्वच्छता तथा उदारता सद्गुण है। आज के युग मे आप लोग कहते है—महगाई से परेशान हो गये। किन्तु मैं सोचता हूँ वास्तव मे लोग महगाई से उतने परेशान नही है. जितने कि फिजूलखर्ची से है। खाने-पीने मे, रहन-सहन मे, शादी-विवाह मे जिस प्रकार अव्यवस्थित एव अनावश्यक खर्च किये जाते है, उन पर यदि सोचा जाय और कुछ नियत्रण किया जाय तो सम्भव है महगाई की पीड़ा इतनी नही सताये। □

३७ अपरिग्रह की व्यावहारिक भूमिका

☐ श्री रतन मुनि

सर्वथा अपरिग्रही होना गृहस्थ के लिये दुर्लभ है। फिर भी अपरिग्रह वृत्ति के उपाय हो सकते है।

अपरिग्रह वृत्ति के उपाय

पहला उपाय यह है कि व्यक्ति अधिक साधन-सामग्री का सग्रह होने पर उसे अपना न माने, समाज का माने। अर्थात् जो कुछ भी सजीव-निर्जीव पदार्थ उसके पास है, उन्हे वह समाज की धरोहर समझे, यहाँ तक कि अपने शरीर को भी समाज या राष्ट्र की सम्पत्ति समझे, स्वयं को उन सब सामग्री का ट्रस्टी (संरक्षक) माने। अथवा उन सबको वह पराया (समाज की मालिकी का) माने, स्वयं को केवल उनकी व्यवस्था करने वाला मुनीम या मैनेजर समझे। बाहर से सभी व्यवहार करते हुए भी अन्तर से वह इन सबसे अलग रहे।

शास्त्र में दो प्रकार की मक्खी का दृष्टान्त देकर इसे समझाया गया है। एक बूरे की मक्खी होती है, जो जब चाहे तब बूरे पर से उड जाती है और दूसरी होती है—चासनी की मक्खी। चासनी पर बैठने वाली मक्खी, चासनी मे आसक्त होकर उसमे फँस जाती है, वह उड़ नही सकती। वह वही चासनी मे फँस कर अपने प्राण खो बैठती है।

इसी प्रकार जो व्यक्ति अपरिग्रह वृत्ति का होता है, वह कितनी ही श्रेष्ठ भौतिक साधन-सामग्री क्यो न हो, या कितने ही निकट के रक्त सम्बन्ध क्यो न हों, उनके ममत्व मे नही फसता। वह बूरे की मक्खी की तरह जब चाहे तब उड सकता है। मगर जो चासनी की मक्खी की तरह परिग्रह वृत्ति वाला होता है, वह सग्रह किये हुए साधनो या सम्बन्धो मे फस जाता है और अपनी जिन्दगी उसी में खत्म कर देता है।

सम्यग्दृष्टि श्रावक इन सब भौतिक साधनो या सम्बन्धो को पर वस्तु समझता है। वह इनमे आसक्त या ग्रस्त नही होता। जैसा कि 'वृहदालोयणा' में कहा है—

"जै जै समदृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल ।
अन्तर से न्यारो रहे, ज्यूं धाय खिलावे बाल ।।"

सम्यग्दृष्टि श्रावक लोक दृष्टि में जिन्हे बाह्य परिग्रह कहते है, उन सबको रखता है, परन्तु उन सबको वह अपना नही मानता । जैसे मालिक के लडके को स्तनपान कराने वाली धायमाता बच्चे को खिलाती-पिलाती है, उसका सब तरह से पालन-पोषण करती है, परन्तु अन्तर मे वह समझती है, यह मेरा लडका नही, मालिक का है। मै तो सिर्फ इसकी संरक्षिका हूँ। इसी प्रकार की निर्लिप्तता का आदर्श श्रावक या सम्यग्दृष्टि सद्‌गृहस्थ रखे। वह उसकी मोह-ममता मे फसे नहीं, इससे उसका कुछ भी बिगड़ेगा नही और न हो किसी प्रकार का व्यवहार रूकेगा बल्कि अनिष्ट सयोग या इष्ट वियोग के समय उसे किसी प्रकार का शोक या आर्तध्यान नही होगा ।

जैसे एक मुनीम है, वह अपने सेठ की दुकान पर बैठता है, लाखों रुपये अपने हाथ से वह रखता व देता है, किन्तु दुकान मे मुनाफा या घाटा होने पर वह यही सोचता है कि यह तो सेठ का है, मेरा इसमे कुछ भी नही । इसी प्रकार अपरिग्रह वृत्ति वाला व्यक्ति अपने पास के धन को समाज रूपी सेठ का समझकर स्वय को उसका व्यवस्थापक एवं ज्ञाता-द्रष्टा समझता है ।

महात्मा गाधी ने पूजीपतियो को ट्रस्टीशिप की भावना बताई थी । उनके ट्रस्टीशिप के विचार को भी जमनालालजी बजाज ने अपना लिया था । वे अपनी सम्पत्ति को राष्ट्र व समाज की सम्पत्ति मानते थे । जब भी गाधीजी को देश सेवा के लिये सम्पत्ति की जरूरत पडी, ज़मनालालजी ने मुक्त हस्त से दिया । वे कहते थे—बापूजी, यह सब सम्पत्ति या साधन-सामग्री आपकी है, आपकी चीज आपको लेने मे क्या सकोच है ?

जो व्यक्ति बूरे की मक्खी की तरह अपरिग्रह वृत्ति के सिद्धान्त को अपना लेते है, वे समय आने पर तुरन्त अपनी (अपने पास सरक्षित) साधन-सामग्री को देश के लिये देने में कभी हिचकिचाते नही ।

भामाशाह को कौन नही जानता ? जब मेवाड पर परतन्त्रता के सकट के काले-काले वादल मडरा रहे थे, महाराणा प्रताप का धैर्य नष्ट हो चुका था, वे मेवाड़ भूमि को छोडकर अन्यत्र जाने के लिये तैयार हो गये थे तभी भामाशाह ने अपनी सर्वस्व सम्पत्ति देश की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये महाराणा प्रताप के चरणो मे समर्पित कर दी । उन्होने कहा—"यह सम्पत्ति मेरी नही, मेवाड भूमि की है । मैने मेवाड भूमि की सेवा करके प्राप्त की थी, अब यह मेवाड भूमि को ही अर्पित करता हूँ ।" अगर भामाशाह अपनी सम्पत्ति पर मोह करके चिपके रहते

तो मेवाड भूमि को परतन्त्र होने से कभी नही बचा सकते थे। यह गृहस्थ मे रहते हुए अपरिग्रह वृत्ति का ज्वलन्त उदाहरण है।

दूसरा अपरिग्रह वृत्ति का उपाय है—धन-सम्पत्ति या साधन-सामग्री या सम्बन्धों से निर्लिप्त रहना, निर्मोही रहना। यद्यपि निर्मोही या निर्लिप्त रहना बहुत ही कठिन है, परन्तु जिसे अपरिग्रह वृत्ति अपनानी है, जिसका लक्ष्य अपरिग्रह होता है, वह संसार मे रहता हुआ भी, सासारिक पदार्थो का उपभोग करता हुआ भी अन्तर से निर्लेप या निर्मोही रहता है। इस सम्बन्ध मे भरत चक्रवर्ती का उदाहरण प्रसिद्ध है।

भरत चक्रवर्ती के पास ऋद्धि, समृद्धि, सत्ता, साधन, सामग्री आदि सासारिक सुख-साधनों का कोई ठिकाना नही था। फिर भी अन्तर मे वे यही मानते थे कि ये सब साधन मेरे नही है। मै उनका नही हूँ। मेरा तो यह शरीर भी अपना नही है।

वस्तुत. भरत चक्रवर्ती की अपरिग्रह वृत्ति का आदर्श विरले ही गृहस्थो मे मिलता है। काजल की कोठरी मे रहते हुए भी काला धब्बा न लगने देना, कितना कठिन कार्य है। मगर इतना कठिन होते हुए भी यह असम्भव एव अव्यवहार्य नही है। जनक (नमिराज) विदेही का नाम भी इसी कोटि के महान् पुरुषो मे लिया जाता है, कि वे राज्य ऋद्धि और वैभव के बीच रहते हुए निर्लेप एव निरासक्त थे।

तीसरा व्यावहारिक रूप यह है कि गृहस्थ का सर्वथा परिग्रह मुक्त होना अतीव दुष्कर है, फिर भी वह जितना परिग्रह रखना चाहता है, उसकी सीमा बाध ले, उसका परिमाण करले। परिग्रह की जब मर्यादा बांध ली जाती है तो उस गृहस्थ को उससे अधिक वस्तुओं या धन का सग्रह करने की इच्छा नही होती। उसकी लालसाओ, इच्छाओ या तृष्णा पर ब्रेक लग जाता है। वह अपनी इच्छा से अपने परिग्रह साधन-सामग्री की सीमा कर लेता है। साथ ही जितनी वस्तुओ (धन-धान्य आदि) की सीमा करता है, उस सीमित परिग्रह पर भी वह अपना ममत्व एव स्वामित्व स्थापित न करने का अभ्यास करता है। यद्यपि वह अपने परिमित परिग्रह के प्रति ममत्व और स्वामित्व के त्याग करने मे पूर्णतया सफल नही होता तथापि उसका लक्ष्य अपरिग्रह वृत्ति की ओर जाने का होता है। व्रती श्रावक का यह मनोरथ होता है कि वह दिन धन्य होगा, जिस दिन मैं आरम्भ एवं परिग्रह से सर्वथा मुक्त बनूँगा। यही मेरे जीवन का आदर्श होगा। इस आदर्श को प्राप्त करने के लिये ही वह अपरिग्रही त्यागी श्रमणो का उपासक बनता है, परिग्रह, परिमाण व्रत को स्वीकार करता है। इसे शास्त्रकारो ने इच्छा--परिमाण व्रत कहा है। इसका रहस्य यह है कि

व्रती श्रावक ने परिग्रह वस्तुओ की जितनी सीमा रखी है, उतनी सीमा तक वह नही पहुँचना चाहता है। उसकी इच्छा परिग्रह वृद्धि की नही होनी चाहिये तभी यह व्रत निभ सकता है। आवश्यकताएँ और कभी-कभी कल्पित आवश्यकताएँ मनुष्य बढा लेता है। किन्तु यह निश्चित मानिए कि मनुष्य जितनी-जितनी आवश्यकताएँ बढाता है, उसकी चिन्ता भी उतनी ही अधिक बढती है, उन आवश्यकताओ की पूर्ति करने की। और फिर एक बार आवश्यकता बढ़ाने और अधिक खर्च करने की आदत हो गई तो फिर मनुष्य इतना आदी हो जाता है कि उतने से कम मे निर्वाह नही कर सकता। अगर बरबस निर्वाह करना भी पडे तो वह मन-ही-मन चिन्तित और दुःखित होता है। दूसरों की समृद्धि देख कर जलता है। इसलिये इच्छाओ पर कन्ट्रोल करना परिग्रह परिमाणव्रती श्रावक के लिये अनिवार्य बताया हैं।

परिग्रह परिमाणव्रत का प्राण

कई लोग यह कहा करते है कि हमारे पास चाहे ५ हजार की पूंजी या साधन-सामग्री हो, लेकिन हम अपनी परिग्रह मर्यादा करते समय ५ लाख या ५० लाख की कर देगे। इसमे भी अधिक पूंजी बढ गई तो स्त्री-पुत्रो के नाम से अलग-अलग कर देंगे। परन्तु ऐसा करना परिग्रह परिमाण व्रत का उद्देश्य नही समझना है। परिग्रह परिमाण व्रती का उद्देश्य परिग्रह को घटाने का होना चाहिये, बढाने का नही। और मर्यादा भी इतनी अधिक रखना ठीक नही। जितने से निर्वाह हो सके, उतनी ही, बल्कि परिवार वृद्धि की सम्भावना को देखकर उससे कुछ अधिक परिग्रह मर्यादा रखी जाये तो श्रावक के परिग्रह परिमाण व्रत का आदर्श रह सकता है। परिग्रह परिमाण व्रत का प्राण भी यही है कि जितना भी परिग्रह पास मे हो, या पास में होने से परिवार के निर्वाह होने की सम्भावना हो, उतनी ही परिग्रह की मर्यादा रखी जाये। और मर्यादा मे रखे हुए परिग्रह पर भी ममत्व एवं स्वामित्व को त्याग करने का अभ्यास किया जाए। खासतौर से अपनी दौडती हुई इच्छाओं, आवश्यकताओ पर संयम किया जाए, अपने अनावश्यक खर्च में कटौती की जाए। परिग्रह परिमाण व्रत लेकर अनापशनाप खर्च करते जाना, आवश्यकताओं पर कोई नियन्त्रण न करना व्रत के प्रति वफादारी नही है।

अपरिग्रह वृत्ति की ओर जाने के लिये सर्व प्रथम आवश्यकताओ का विश्लेषण करना आवश्यक है कि वह आवश्यकता वास्तव मे अनिवार्य है क्या? क्या इसके बिना मेरा या मेरे परिवार का काम ही नही चल सकता? क्या इस आवश्यकता के बिना भी मेरा काम चल सकता है या यह आवश्यकता कल्पित और अपनी विलासी मनोवृत्ति की प्रतीक है? इसके बाद संयम और तप की दृष्टि से तथा अहिसा के दृष्टिकोण से उन आवश्यकताओ पर विचार करना

चाहिये कि इस आवश्यकता की पूर्ति से मेरे इन्द्रिय-संयम और तप मे कोई आँच तो नही आएगी ? इस पदार्थ का सेवन न करूँ तो क्या हानि हो सकती है ? इस आवश्यकता की पूर्ति से सप्त कुव्यसनो मे किसी कुव्यसन की पूर्ति तो नहीं होती ? अगर होती है तो यह आवश्यकता त्याज्य है। अथवा यह भी सोचा जाए कि इस आवश्यकता की पूर्ति से कोई त्रस जीवो की हिसा या स्थावर जीवो का अतिवध तो नही होगा अगर त्रसजीवो की हिसा से वह आवश्यक चीज निष्पन्न होती हो, और आपकी आवश्यकता उसी चीज की है तो आपके अहिसाणुव्रत के भंग होने की सम्भावना है, उस आवश्यकता की पूर्ति से। उदाहरणार्थ—मान लो, आप समाज मे अपनी प्रतिष्ठा बरकरार रखने के लिये विवाह जैसे प्रसंगो पर बहुत बडा भोज देते है, इतनी अधिक विजली का उपयोग करते है, बहुत बड़ा शो करते है, इतनी अधिक भट्टियाँ जलाते है, जिनकी कोई आवश्यकता नही है, साथ ही शराब का दौर भी चलाते है अथवा शहतूत के कीड़ो को मार कर बने हुए रेशमी कपडों का उपयोग करते है, तो इन सब मे त्रस जीवो की अत्यधिक हिसा होने की सम्भावना है। अतः दो करण तीन योग से सकल्पी हिसा का त्याग करने वाले श्रावक के लिये इस प्रकार हिसाजन्य आवश्यकताओ की पूर्ति के समय अपना हाथ पीछे खीच लेना चाहिये। प्रतिष्ठा अनावश्यक खर्च करने से नही बढती। प्रतिष्ठा बढती है, परोपकार एव स्व-परकल्याण के कार्य करने से।

इसलिये अपरिग्रह वृत्ति को सुदृढ बनाने के लिये विवेकी सद्गृहस्थ को परिग्रह परिमाण व्रत ग्रहण करने पर भी इस फिजूलखर्ची से बचना चाहिये। अगर आपके पास पैसा ज्यादा है तो उसका प्रदर्शन मत कीजिए। व्यर्थ के कार्यो मे, हिसाजनक आरम्भ समारम्भो मे, व्यर्थ के दिखावो में खर्च मत कीजिए। खर्च करना ही हो तो जन कल्याण के कार्यो मे अपने धन का सदुपयोग कीजिए, सघ की सेवा में, दीन-दुःखियो और मूक पशुओ की दया के कार्यो मे अपने धन को लगाइए। अपने धन पर से ममत्व हटाकर उसे सार्वजनिक सेवा कार्यो मे खर्च कीजिए। बदले मे किसी प्रकार की प्रसिद्धि या नामवरी की कामना मत रखिए।

आज समाज मे कई कुरूढियो और कुरीतियो का बोलबाला है। आए दिन समाज की बलिवेदी पर हजारो मासूम लडकियो की बलि होती है—दहेज के नाम पर, प्रदर्शन के नाम पर, तिलक, बीटी आदि के नाम पर। दहेज कम देने पर बेचारी लड़की को ससुराल वालो की ओर से नाना प्रकार की यातनाएँ दी जाती हैं, उसे आत्म-हत्या के लिये विवश कर दिया जाता है। कई लडकियो पर उनके ससुराल के अहिसकनामधारी क्रूर लोग मिट्टी का तेल छिडक कर जला देते हैं। यह मानव हत्या को प्रेरित करने वाली दहेज-पिशाची क्या

अहिंसक श्रावक के लिये आवश्यकता के नाम पर उपादेय है, अपनाने योग्य है ?

इसी प्रकार राजस्थान मे कई जगह मृत्युभोजों की कुप्रथा है। किसी के सगे-सम्बन्धी की मृत्यु हो जाने पर जाति के पच उस परिवार के लोगो पर दबाव डाल कर मृत्युभोज (मौसर, औसर या किरियावर) करने के लिये बाध्य करते है। उसकी आर्थिक स्थिति कमजोर हो, वह बेरोजगार हो, उसके घर मे कोई कमाने वाला न हो, फिर भी इस प्रकार की बेसिर-पैर की कुरूढि का पालन कराया जाता है। मै तो स्पष्ट कहूँगा, मृतभोज सरासर मानव हिंसा को उत्तेजना देने वाला है। हिंसा केवल जान से मारने से ही नही होती। १० प्राणो मे से मनबल प्राण, कायाबलप्राण आदि को दबाना, सताना भी प्राणातिपात है, हिंसा है, इसलिये आप लोग बेखबर नही होगे। अत समाज में जो भी फिजूलखर्ची कराने वाली कुरीतियाँ या कुरूढियाँ है, वे आवश्यक नही है, उन्हे अनावश्यक समझकर उनका त्याग करना चाहिये।

आज तो फैशन का भूत इतना सवार हो गया है कि खानपान और रहन-सहन, पोशाक और देशाटन सर्वत्र लोग व्यर्थ खर्च करते है। इनमें बहुत सा खर्च तो देखा-देखी होता है। ब्याह-शादियो मे लोग खान-पान के पीछे अनापशनाप खर्च करते है, वे आगा-पीछा नही सोचते कि हमारी देखा-देखी जाति के गरीब आदमी को भी इसी प्रकार पिसना पडेगा, कर्जदारी के कारण उनकी कमर टूट जावेगी। बहुत से लोग घर पर भोज देने के बदले आलीशान खर्चीले होटल में भोज देते है। एक भोज पर ४०-५० हजार खर्च कर देना आम बात है। महापरिग्रहियो की इस वृत्ति-प्रवृत्ति को देखकर अपरिग्रह वृत्ति को प्रोत्साहन कैसे मिल सकता है ? जो अपरिग्रह की ओर बढना चाहते है, वे भी ऐसी प्रवृत्तियाँ देखकर हतोत्साह हो जाते है।

सादी साडियो से भी काम चल सकता है किन्तु ५०० से लेकर १००० रुपये की एक-एक साडी खरीदेगे, भेट देगे या घर की स्त्रियाँ पहनेगी। क्या अपरिग्रह वृत्ति की ओर बढने वाला व्यक्ति इस अनावश्यक खर्च पर कटौती नही कर सकता ? क्या काली-महाकाली, कृष्णा, चन्दनबाला, मृगावती साध्वियो की त्यागपूर्ण कथा सुनने वाली बहने सादी साडी मे काम नही चला सकती ? प्रतिष्ठा तो त्याग और सादगी से मिलती है, और वह स्थायी भी होती है।

मेरे इशारे को आप समझिए और अपरिग्रह वृत्ति की ओर बढने के लिये समाज मे प्रचलित अहितकर और अपव्ययवर्द्धक ऐसी अनावश्यक कुरूढियो-कुरीतियो को चुन-चुन कर धक्का देकर निकालिए। आप स्वय इनका त्याग कीजिए और लोगों को भी प्रेरित कीजिए।

चाहिये कि इस आवश्यकता की पूर्ति से मेरे इन्द्रिय-संयम और तप में कोई आँच तो नही आएगी ? इस पदार्थ का सेवन न करूँ तो क्या हानि हो सकती है ? इस आवश्यकता की पूर्ति से सप्त कुव्यसनो में किसी कुव्यसन की पूर्ति तो नहीं होती ? अगर होती है तो यह आवश्यकता त्याज्य है। अथवा यह भी सोचा जाए कि इस आवश्यकता की पूर्ति से कोई त्रस जीवो की हिसा या स्थावर जीवो का अतिवध तो नही होगा अगर त्रसजीवो की हिसा से वह आवश्यक चीज निष्पन्न होती हो, और आपकी आवश्यकता उसी चीज की है तो आपके अहिसाणुव्रत के भंग होने की सम्भावना है, उस आवश्यकता की पूर्ति से। उदाहरणार्थ—मान लो, आप समाज मे अपनी प्रतिष्ठा वरकरार रखने के लिये विवाह जैसे प्रसंगों पर वहुत वडा भोज देते है, इतनी अधिक विजली का उपयोग करते है, बहुत बड़ा शो करते है, इतनी अधिक भट्टियाँ जलाते हैं, जिनकी कोई आवश्यकता नही है, साथ ही शराव का दौर भी चलाते है अथवा शहतूत के कीड़ो को मार कर बने हुए रेशमी कपड़ों का उपयोग करते है, तो इन सव मे त्रस जीवो की अत्यधिक हिसा होने की सम्भावना है। अत· दो करण तीन योग से संकल्पी हिसा का त्याग करने वाले श्रावक के लिये इस प्रकार हिसाजन्य आवश्यकताओ की पूर्ति के समय अपना हाथ पीछे खीच लेना चाहिये। प्रतिष्ठा अनावश्यक खर्च करने से नही बढती। प्रतिष्ठा वढती है, परोपकार एव स्व-परकल्याण के कार्य करने से।

इसलिये अपरिग्रह वृत्ति को सुदृढ बनाने के लिये विवेकी सद्गृहस्थ को परिग्रह परिमाण व्रत ग्रहण करने पर भी इस फिजूलखर्ची से बचना चाहिये। अगर आपके पास पैसा ज्यादा है तो उसका प्रदर्शन मत कीजिए। व्यर्थ के कार्यो मे, हिसाजनक आरम्भ समारम्भो मे, व्यर्थ के दिखावों मे खर्च मत कीजिए। खर्च करना ही हो तो जन कल्याण के कार्यो मे अपने धन का सदुपयोग कीजिए, सघ की सेवा में, दीन-दु:खियों और मूक पशुओ की दया के कार्यो मे अपने धन को लगाइए। अपने धन पर से ममत्व हटाकर उसे सार्वजनिक सेवा कार्यो मे खर्च कीजिए। वदले में किसी प्रकार की प्रसिद्धि या नामवरी की कामना मत रखिए।

आज समाज में कई कुरूढियो और कुरीतियों का वोलवाला है। आए दिन समाज की वलिवेदी पर हजारो मासूम लडकियो की बलि होती है—दहेज के नाम पर, प्रदर्शन के नाम पर, तिलक, वीटी आदि के नाम पर। दहेज कम देने पर बेचारी लड़की को ससुराल वालो की ओर से नाना प्रकार की यातनाएँ दी जाती है, उसे आत्म-हत्या के लिये विवश कर दिया जाता है। कई लडकियो पर उनके ससुराल के अहिसकनामधारी क्रूर लोग मिट्टी का तेल छिडक कर जला देते है। यह मानव हत्या को प्रेरित करने वाली दहेज-पिशाची क्या

अहिंसक श्रावक के लिये आवश्यकता के नाम पर उपादेय है, अपनाने योग्य है ?

इसी प्रकार राजस्थान में कई जगह मृत्युभोजों की कुप्रथा है। किसी के सगे-सम्बन्धी की मृत्यु हो जाने पर जाति के पंच उस परिवार के लोगों पर दवाव डाल कर मृत्युभोज (मौसर, औसर या किरियावर) करने के लिये वाध्य करते है। उसकी आर्थिक स्थिति कमजोर हो, वह वेरोजगार हो, उसके घर मे कोई कमाने वाला न हो, फिर भी इस प्रकार की वेसिर-पैर की कुरूढि का पालन कराया जाता है। मै तो स्पष्ट कहूँगा, मृतभोज सरासर मानव हिसा को उत्तेजना देने वाला है। हिसा केवल जान से मारने से ही नही होती। १० प्राणों मे से मनवल प्राण, कायावलप्राण आदि को दवाना, सताना भी प्राणातिपात है, हिसा है, इसलिये आप लोग वेखवर नही होगे। अत. समाज में जो भी फिजूलखर्ची कराने वाली कुरीतियाँ या कुरूढियाँ हैं, वे आवश्यक नही है, उन्हे अनावश्यक समझकर उनका त्याग करना चाहिये।

आज तो फैशन का भूत इतना सवार हो गया है कि खानपान और रहन-सहन, पोशाक और देशाटन सर्वत्र लोग व्यर्थ खर्च करते है। इनमे वहुत सा खर्च तो देखा-देखी होता है। व्याह-शादियो मे लोग खान-पान के पीछे अनापशनाप खर्च करते है, वे आगा-पीछा नही सोचते कि हमारी देखा-देखी जाति के गरीव आदमी को भी इसी प्रकार पिसना पडेगा, कर्जदारी के कारण उनकी कमर टूट जावेगी। वहुत से लोग घर पर भोज देने के वदले आलीशान खर्चीले होटल मे भोज देते है। एक भोज पर ४०-५० हजार खर्च कर देना आम वात है। महापरिग्रहियो की इस वृत्ति-प्रवृत्ति को देखकर अपरिग्रह वृत्ति को प्रोत्साहन कैसे मिल सकता है ? जो अपरिग्रह की ओर वढना चाहते है, वे भी ऐसी प्रवृत्तियाँ देखकर हतोत्साह हो जाते है।

सादी साडियो से भी काम चल सकता है किन्तु ५०० से लेकर १००० रुपये की एक-एक साडी खरीदेगे, भेंट देगे या घर की स्त्रियाँ पहनेगी। क्या अपरिग्रह वृत्ति की ओर वढने वाला व्यक्ति इस अनावश्यक खर्च पर कटौती नही कर सकता ? क्या काली-महाकाली, कृष्णा, चन्दनबाला, मृगावती साध्वियो की त्यागपूर्ण कथा सुनने वाली वहने सादी साडी से काम नही चला सकती ? प्रतिष्ठा तो त्याग और सादगी से मिलती है, और वह स्थायी भी होती है।

मेरे इशारे को आप समझिए और अपरिग्रह वृत्ति की ओर वढने के लिये समाज मे प्रचलित अहितकर और अपव्ययवर्द्धक ऐसी अनावश्यक कुरूढियो-कुरीतियो को चुन-चुन कर धक्का देकर निकालिए। आप स्वय इनका त्याग कीजिए और लोगो को भी प्रेरित कीजिए।

सैर-सपाटों के नाम पर भी आए दिन अपरिग्रही भगवान् महावीर के उपासक लाखों रुपये व्यर्थ ही खर्च कर देते है। सैर-सपाटा ही करना हो तो पद यात्राओ का आयोजन कीजिए, जिससे आपको देश और दुनिया का अनुभव हो या फिर वाहन आदि की व्यवस्था करके कम खर्च मे भी यात्राएँ की जा सकती है। मनोरजन और स्वार्थ त्यागी महापुरुषों के दर्शन तथा सत्सग आदि की दृष्टियो से धर्म यात्रा हो तो उससे द्रव्य और भाव दोनो तरह से लाभ होगा। अपरिग्रह वृत्ति की ओर बढने के लिये इस वारे मे भी पूरा विवेक रखना चाहिये।

कई लोग कहते है कि लोगो के पास दो नम्वर का पैसा अधिक जमा हो गया है, उसका उपयोग कहाँ करे? जैसा कि अमेरिका आदि विदेशो के लोग कहते है कि हमारे पास पैसे और साधनो की कोई कमी नही, परन्तु उनका उपयोग कहाँ ओर कैसे करे? यह हम नही जानते। आमतौर पर ऐसे अनावश्यक धन का उपयोग भोग-विलास और आमोद-प्रमोद मे, या दुर्व्यसनो के पोषण अथवा फैशन मे अथवा लडके-लडकी के विवाह मे खुल कर खर्च किया जाता है। परन्तु आपसे बढ़ कर धन तो भगवान् महावीर के आनन्द, कामदेव आदि १० श्रावको के पास था किन्तु वे सामाजिक कुरूढियो, सैर-सपाटो मे या दुर्व्यसन अथवा फैशन मे खर्च नही करते थे। समाज के दीन-हीन, असहाय, विधवा, निर्धन, अपाहिज, वृद्ध आदि लोगो की सेवा मे, या परोपकार मे उनका धन खर्च होता था। आप 'उपासकदशाग' सूत्र उठा कर देखिए। उन्होने वस्त्र कितने सीमित रखे थे—

"नन्नत्थ एगेण खोमजुयलेणं अवसेस सव्व वत्थविहि पच्चक्खामि।"

सिर्फ एक जोड कार्पासिक-कपास से बने हुए वस्त्र के सिवाय सब वस्त्रो का प्रत्याख्यान-त्याग करता हूँ। बताइये, आनन्द जैसा बारह करोड सोनैयो का मालिक और सिर्फ एक जोड़ी वस्त्र पहिनने के लिये! आनन्द श्रमणोपासक के पास श्रावक व्रत ग्रहण करने से पहले भी बारह करोड स्वर्ण मुद्राओ की सारी मिल्कियत थी और व्रत ग्रहण करने के बाद भी उतनी ही मिल्कियत की परिग्रह मर्यादा रखी। अपनी मर्यादा वढाई नही, वल्कि पहले की जितनी ही रखी, फिर भी उन्होने अपनी आवश्यकताएँ वढ़ाई नही, घटाई ही। धन का सदुपयोग समय-समय पर वे करते रहते थे, परन्तु अनावश्यक रूढियो मे या फैशन मे, फिजूल खर्च नही करते थे। क्या अपरिग्रहवृत्ति का यह आदर्श प्रेरणादायक नही है?

आनन्द का अपरिग्रह वृत्ति का आदर्श

इसके अतिरिक्त जिन्दगी की सध्या के समय आनन्द श्रमणोपासक ने

अपने घरबार, धन-सम्पत्ति और कारोबार से मोह ममत्व छोड़ दिया था। अपना घर वार, सम्पत्ति और कारोवार अपने बडे लड़के को अपनी बिरादरी के लोगों की उपस्थिति मे सौंप कर स्वय ने श्रावक प्रवृत्ति (निवृत्ति) ग्रहण कर ली। जीवन के अन्तिम क्षण तक वे धर्म-ध्यान एव आत्म-शुद्धि में संलग्न रहे। उन्होने भारतीय संस्कृति के 'योगेनान्ते तनुत्यजाम्' (अन्तिम समय मे योग मार्ग मे रहते हुए शरीर त्याग करने) के आदर्श को जीवित रखा, अपरिग्रह वृत्ति के आदर्श को पाया। क्या आज के वृद्ध सद्गृहस्थ भाई-बहन (श्रावक-श्राविका) आनन्द श्रमणोपासक के इस आदर्श से प्रेरणा नही लेगे? पर मैं देखता हूँ कि हमारा श्रावक वर्ग इस बारे में बहुत ही पिछड़ा हुआ है। वह धन कमाने और जोड़-जोड़कर रख जाने मे तो बहुत आगे है, परन्तु आत्मा के लिये अपरिग्रह धर्म रूपी धन कमाने में बहुत ही दुर्बल है, असावधान है। इस ओर की चिन्ता बहुत कम लोगो को है।

ये और इस प्रकार के कुछ उपाय अपरिग्रह वृत्ति के है। यही अपरिग्रह की व्यावहारिक भूमिका है। जिस व्यक्ति के जीवन में सन्तोष आ जाता है, जो आत्म स्वभाव मे लीन हो जाता है, जिसे आध्यात्मिक जीवन का आनन्द आ जाता है, उसकी वृत्ति परिग्रह घटाने, इच्छाओ और आवश्यकताओ को अल्पाति-अल्प करने की रहती है। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में अपरिग्रह वृत्ति की झलक होगी, उसके कण-कण में अपरिग्रह वृत्ति रम जाएगी।

□ □ □

त्याग

इन्दौर में वापू के सभापतित्व मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन हुआ। सेठ हुकमचद ने वापू तथा उनके सहयोगियों को भोजन के लिए आमंत्रित किया। सबके लिए शानदार आसन, चादी की थालियाँ, कटोरियाँ और अन्य पात्र बड़े करीने से सजाये गये थे। यह सब देखकर वापू थोडा हँसे, उनके लिए तो सभी पात्र सोने के रखे गये थे। फिर बापू ने कस्तूरबा से झोली माग कर उसमे से अल्युमीनियम के वरतन निकाले और सोने के वरतनों के स्थान पर जमा दिये।

सेठजी ने वापू से सोने के वरतनो में ही भोजन करने की प्रार्थना की। इस पर वापू ने कहा—"यदि अल्युमीनियम के बरतनो से ही काम चल सकता हो तो सोने के बरतन क्यो काम में लाये जायें। हाँ, यदि आप गरीबो की सेवा के लिए देना चाहे तो ले सकता हूँ।" दीन-दलितो के बन्धु के सामने सेठजी का सिर झुक गया।

—डॉ० भैरूंलाल गर्ग

३८

अपरिग्रह : सिक्का, श्रम, वस्तु, व्यक्ति, विवेक और साध्य के संदर्भ में

☐ स्वामी शरणानन्द

प्राकृतिक नियमानुसार प्राणियों की माँग वस्तुओ की है सिक्के की नही। आवश्यकता वस्तुओ का उत्पादन शारीरिक और बौद्धिक श्रम तथा प्राकृतिक मूल पदार्थों के द्वारा ही होता है। किसी सिक्के से किसी भी वस्तु का उत्पादन नही होता। किन्तु जब समाज मे सिक्के का महत्त्व श्रम से अधिक हो जाता है तब व्यक्तियो मे सिक्का-सग्रह करने की रुचि उत्पन्न होती है और ज्यो-ज्यो संग्रह बढता जाता है त्यो-त्यों व्यक्ति मे आलस्य, विलास तथा अभिमान का जन्म होता है, जिसके होते ही अकर्मण्यता, पराधीनता और परिच्छिन्नता मे प्राणी आबद्ध हो जाता है।

सिक्के का महत्त्व बढने से और श्रम का महत्त्व घट जाने से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपने आधीन मानने लगता है। जब व्यक्ति अपने को किसी व्यक्ति के आधीन पाता है तब उसमे हीनपरिज्ञान (Inferiority complex) उत्पन्न होता है और जो अपने आधीन किसी व्यक्ति को मानता है उसमे मिथ्या अभिमान उत्पन्न होता है। दीनता तथा अभिमान के उत्पन्न हो जाने पर परस्पर में आत्मीयता नहीं रहती, जिसके न रहने से प्रियता की अभिव्यक्ति ही नही होती।

सिक्के का आविष्कार आवश्यक वस्तुओ के आदान-प्रदान मे सुविधा रहे, इस दृष्टि से हुआ होगा किन्तु आज उसने अपना प्रभाव ऐसा जमाया है कि साधारण व्यक्तियो की तो कौन कहे, बडे-बडे कलाकार, विज्ञानवेत्ता और साहित्यिको को भी अपने आधीन कर लिया है। यदि सिक्के का महत्त्व न रहे तो मानव समाज में आलस्य, विलास एव अकर्मण्यता तो बहुत ही कम हो जाय। आज श्रमी वर्ग भी श्रम के महत्त्व से दूर है। वह भी उसके वदले मे वोनस लेकर ही प्रसन्न होता है। सिक्के के महत्त्व ने मजदूर और महाजन दोनो ही को पागल वना दिया है। ऐसी भयकर परिस्थिति मे यदि परस्पर एकता का प्रचार करना है तो सिक्के से श्रम का महत्त्व वढाना होगा। श्रम के महत्त्व वढाने का अर्थ यह नही है कि श्रम के वदले में अधिक सिक्का प्राप्त करना ही स्वभाव वना लिया जाय। श्रम के महत्त्व का अर्थ है कि व्यक्ति किसी न किसी आवश्यक वस्तु के उत्पादन में ही प्राप्त सामर्थ्य तथा योग्यता को व्यय करे। वस्तुओ का सम्पादन

करने पर भी इस बात का ध्यान रहे कि वस्तुओ के बदले मे सिक्के का सग्रह नही करना है। समाज का वह वर्ग जो वस्तुओ का उत्पादन नही कर सकता—बालक, रोगी आदि—उन्हे आवश्यक वस्तुएँ अपने आप ही देने का विधान बना लिया जाय। तभी श्रम का वास्तविक महत्त्व बढ सकता है। श्रम को सिक्के मे बदलने से श्रम का महत्त्व नही बढता। सिक्के के आधार पर एक देश दूसरे देश को विनाश की सामग्री देकर एक स्थायी विद्रोह की भावना को जन्म देता है। यदि सिक्के का महत्त्व मानव के जीवन से मिट जाय तो बडी ही सुगमता पूर्वक परस्पर एकता स्थापित हो सकती है। वस्तुओ के उत्पादन के साधन प्राकृतिक नियमानुसार व्यक्तिगत नही हैं तो फिर उत्पादित वस्तुएँ व्यक्तिगत कैसे हो सकती है ? अर्थात् नही हो सकती। वस्तु व्यक्ति की सेवा के लिए है, केवल अपने सुख-भोग के लिए ही नही। जीवन मे रस की माँग है। सुख-भोग का रस व्यक्ति को पराधीनता तथा जडता मे आबद्ध करता है और सेवा का रस मानव को उत्तरोत्तर स्वाधीनता तथा चिन्मयता की ओर अग्रसर करता है। इस दृष्टि से सेवा, सुख-भोग की रुचि को खाकर व्यक्ति और समाज मे वास्तविक एकता स्थापित करने मे समर्थ होती है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी भी वस्तु का मूल्य कोई आँक नही सकता, वही वस्तु देश, काल के भेद से अधिक तथा कम मूल्य की मान ली जाती है। यदि वस्तु का अपना कोई मूल्य होता तो यह विषमता न होती। मूल्य है वस्तु की आवश्यकता तथा सिक्के के सग्रह मे। जिस प्रकार मानव समाज विद्युत उत्पादन कम्पनी को सिक्का देकर उसका मनमाना व्यय करता है और कम्पनी अवसर पाकर मूल्य बढ़ाती रहती है। यदि विद्युत का उद्गम सूर्य अपनी रुचि के अनुसार मूल्य माँगना आरम्भ कर दे तो कौन व्यक्ति, वर्ग तथा समाज ऐसा होगा, जो उसे चला सके ? प्राकृतिक नियम तो ऐसा है कि जो वस्तु जितनी ही अधिक उपयोगी होती है उतनी ही सुगमता से प्राप्त होती है। जैसे रत्नो की अपेक्षा स्वर्ण तथा चाँदी, चाँदी से अन्न, अन्न से जल, जल से प्रकाश, प्रकाश से वायु और वायु से आकाश उत्तरोत्तर सुगमतापूर्वक स्वत ही प्राप्त होते है। इस प्राकृतिक विधान का आदर करने पर यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जीवनोपयोगी वस्तुएँ अमूल्य है, उनका कोई मूल्य चुका नही सकता। असमर्थता-काल मे आवश्यक वस्तु विधान के अनुसार स्वत प्राप्त होती है। इस दृष्टि से रोगी और बालक के विकास के लिए सभी उत्पादन वर्गो तथा देशो को उत्पादित वस्तु आदरपूर्वक भेट करना चाहिये। ऐसा कोई व्यक्ति नही है, जो कभी असमर्थ न रहा हो और उसका पोषण तथा शिक्षण समाज के श्रम तथा प्राकृतिक वस्तुओ के द्वारा न हुआ हो। वही व्यक्ति जब उत्पादन करने के योग्य हो जाता है तब उत्पादित वस्तुओ को अपनी मान लेता है और उनके बदले मे सिक्के के सग्रह मे लग जाता है। इस प्रमाद का बडा ही भयकर परिणाम हुआ है।

श्रमी वर्ग यदि श्रम के बदले में उदारता का सम्पादन करे तो उससे उत्पादित वस्तुएँ उन्हे भेंट हो सकती है, जो उत्पादन नही कर सकते। इसका बडा ही सुन्दर परिणाम यह होगा कि जब वह वर्ग, जिसे उदारतापूर्वक वस्तुएँ भेंट की गई थी समर्थ होगा तब उसके स्वभाव में भी उत्पादित वस्तुओं को भेंट करने की सद्भावना जागृत होगी, जिससे प्रेरित होकर परम्परा मे उदार चरित्र मानव उत्पन्न होते रहेगे। जिस वर्ग तथा समाज मे चरित्र व्यक्तियो की उत्पत्ति अधिक होती है, वह वर्ग तथा उदार समान व्यापक हो जाता है। इतना ही नही, वह किसी अन्य वर्ग तथा समाज से शासित नही रहता। कारण कि राष्ट्र प्रणाली की माँग समाज को तभी होती है जब मानव समाज उत्पादित वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का उदारतापूर्वक सद्व्यय नही करता। उदारता व्यक्ति मे करुणा तथा प्रसन्नता की अभिव्यक्ति करती है। करुणा सुख-भोग की रुचि को और प्रसन्नता नीरसता को खा लेती है। सुख-भोग की रुचि तथा नीरसता का नाश होते ही जीवन में निर्विकारता आ जाती है, जिसके आते ही दिव्य-चिन्मय-जीवन से अभिन्नता हो जाती है और पारस्परिक सघर्ष सदा के लिए मिट जाता है। इस दृष्टि से श्रमी वर्ग को उदारता अपना लेना अनिवार्य है।

अब यदि कोई यह कहे कि उदारता तो उन्हे अपनानी चाहिये जिन्होने सिक्को का सग्रह किया है। यह बात स्थूल दृष्टि से तो ठीक ही मालूम होती है परन्तु यदि हम गभीरतापूर्वक विचार करे तो यह स्पष्ट विदित होता है कि सग्रही के आस-पास जो श्रमी वर्ग है, उसने भी सिक्के के महत्त्व को ही अपना लिया है। तभी वह बहुत से साथियो के अधिकारों का अपहरण सग्रही द्वारा कराता रहता है। यदि श्रमी वर्ग मे उदारता आ जाय तो सग्रही बेचारा विवश होकर संग्रह का सदुपयोग करने लगे। अपने-अपने पद को सुरक्षित रखने के लिए शारीरिक तथा बौद्धिक श्रमी सग्रही के आधीन हो जाते है। यह श्रमी वर्ग का प्रमाद है।

इसका अर्थ कोई यह न समझे कि यह विचारधारा तो सग्रही को निर्दोष सिद्ध करती है। पर बात ऐसी नही है क्योकि सग्रह ज्यो-ज्यो बढता जाता है त्यों-त्यो संग्रही की चेतना जड़ता से आच्छादित होती जाती है। सग्रही की अपेक्षा श्रमी मे चेतना अधिक रहती है। प्राकृतिक नियमानुसार सुधार का आरम्भ उसी से होता है जिसमें चेतना अधिक है। अत. श्रमी वर्ग के सुधार मे ही समाज का सुधार निहित है। आज तक किसी भी संग्रही के द्वारा समाज का उत्थान नही हुआ। एक-एक उदात्त चरित्र मानव के पीछे करोडो व्यक्ति चले। इससे भी यही सिद्ध होता है कि बौद्धिक श्रमी के द्वारा शारीरिक श्रमी का उत्थान और इन दोनो के उत्थान मे ही समाज का उत्थान है। यदि मिल के मैनेजर, इजीनियर और रसायनज्ञ (Chemist) अपनी उत्पादित वस्तुओ का दुरुपयोग न करने दे तो कोई भी संग्रही दुरुपयोग करने मे प्रवृत्त ही नही हो सकता।

परतु श्रमी वर्ग के मन में सिक्के का इतना प्रलोभन हो गया है कि वह सोचने लगता है कि यदि संग्रही के मन की बात पूरी न की तो मुझे निकाल दिया जायेगा और मेरे स्थान पर अनेक साथी आ जायेगे । इस भय से भयभीत होकर श्रमी वर्ग सग्रही के अन्याय का समर्थन करने लगता है । अब निष्पक्ष भाव से विचार करो कि सुधार का दायित्व श्रमी वर्ग पर अधिक है अथवा सग्रही पर ?

श्रमी संग्रही के विना रह सकता है किन्तु संग्रही श्रमी के विना नही रह सकता । पर आज श्रमी अपने महत्त्व को भूल गया है और श्रम के बदले मे अपनी व्यक्तिगत सुविधाओ पर ही ध्यान देता है । व्यक्तिगत सुख लोलुपता का प्रलोभन, सर्व हितकारी सद्भावनाओ को सबल नही होने देता । उसी का यह परिणाम हुआ है कि श्रम संग्रह के आधीन है । संग्रह का महत्त्व श्रमी के प्रमाद से बढा है । यदि श्रम का महत्त्व बढाना है तो श्रमी को अपना सुधार करना होगा । जो व्यक्ति, वर्ग तथा समाज अपने विकास तथा ह्रास का कारण अपने से भिन्न को मानता है उसका न तो विकास ही होता है और न ह्रास ही रुकता है । प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक मानव अपने विकास मे स्वाधीन है । पर कब ? जब मिली हुई योग्यता, सामर्थ्य तथा वस्तु का दुरुपयोग न करे । व्यक्तिगत रूप से जिस किसी को जो कुछ मिला है, वह उस वर्ग का है, जिसमे अभाव है । मिला हुआ देने पर ही और मिलेगा । देकर न माँगना ही प्राकृतिक नियम के अनुसार अपने विकास का साधन है । पर इस रहस्य को कोई विरले तत्त्वदर्शी ही जानते है ।

न माँगने का अर्थ भूखा, नगा रहकर मर जाना नही है । न मागने का अर्थ है देने वाले की प्रसन्नता के लिए आवश्यक वस्तु स्वीकार करना अथवा यों कहो कि अधिकार लालसा से रहित कर्तव्यनिष्ठ होना । कर्तव्य का ज्ञान मानव मात्र के निज-विवेक मे विद्यमान है । विवेक-विरोधी कर्म के त्याग से ही श्रम का महत्त्व बढ सकता है और श्रम का महत्त्व बढने से ही सिक्के का महत्त्व घट सकता है, जिसके घटते ही सग्रह की रुचि मिट सकती है और आलस्य, अकर्मण्यता तथा विलास का अन्त हो सकता है, जिसके होते ही शरीर और विश्व में, व्यक्ति और समाज मे, दो वर्गो मे, दो देशो में, वास्तविक एकता हो सकती है ।

स्वाधीन व्यक्तियो के प्रादुर्भाव से ही समाज मे स्वाधीनता सुरक्षित रहती है । स्वाधीन समाज न तो किसी से भयभीत होता है और न किसी को भय देता है । भयभीत समाज ही युद्ध सामग्री का संग्रह करता है । यदि श्रमी वर्ग युद्ध की भावना मे सहयोग न दे तो युद्ध सामग्री ज्यो की त्यो, जहाँ की तहाँ रखी रहेगी, उसका कोई उपयोग न होगा । परस्पर का सघर्ष युद्ध सामग्री के बल पर नही रोका जा सकता । मानव में यदि विद्यमान मानवता का विकास हो जाय तो सघर्ष का नाश हो सकता है । इस दृष्टि से प्रत्येक मानव पर मिली हुई व

योग्यता तथा सामर्थ्य के सदुपयोग का दायित्व है। कर्तव्यपरायणता कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियो के जीवन से व्यापक होती है। उसे वैज्ञानिक प्रयोगो द्वारा नही फैलाया जा सकता। भयभीत समाज कभी भी सघर्ष का अन्त नही कर सकता। निर्भयता की अभिव्यक्ति तभी होती है जब अपने अधिकार के त्याग और दूसरो के अधिकार की रक्षा में तत्परता बनी रहे। अत यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश के हित मे व्यय करे और विनाशकारी सामग्री का उत्पादन न करे।

श्रमी वर्ग सिक्के के प्रलोभन से रहित होकर विनाशकारी वस्तुओ के उत्पादन से असहयोग कर अपने श्रम द्वारा जीवनोपयोगी वस्तुओ का उत्पादन करे किन्तु उन्हे व्यक्तिगत न माने। ऐसे साधक ही व्यक्ति और समाज की एकता का दर्शन कर श्रम के महत्त्व से सिक्के का महत्त्व घटाकर, सग्रह की भावना को मिटाकर, शान्ति की स्थापना द्वारा परस्पर एकतापूर्वक सघर्ष का नाश कर सकते है। यह निर्विवाद सत्य है।

सिक्के की उपयोगिता एकमात्र सुविधापूर्वक वस्तुओ के आदान-प्रदान मे है। वास्तव मे तो जीवन मे सिक्के की कोई आवश्यकता ही नही है। जीवन मे आवश्यकता वस्तु की है। परन्तु जब मानव समाज वस्तु का महत्त्व व्यक्ति से अधिक मान लेता है तभी व्यक्ति का निर्माण रुक जाता है। व्यक्ति को स्वयं सुन्दर बनने के लिए वस्तुओ का महत्त्व व्यक्तियों से कम करना होगा अर्थात् सिद्धान्त रूप से यह बात माननी होगी कि वस्तु व्यक्ति के विकास के लिए है। जब जीवन मे वस्तु से व्यक्ति का महत्त्व अधिक हो जाता है तब निर्लोभता की अभिव्यक्ति होती है। जिसके होते ही प्राकृतिक नियम के अनुसार वस्तुओं का अभाव मिट जाता है। यह भौतिक विज्ञान का नियम है। पर आज इस नियम पर सर्वसाधारण की दृष्टि ही नही जाती। उसका बड़ा ही दुष्परिणाम हुआ है। निर्लोभता प्रकृति का वह विधान है जो आवश्यक वस्तुओ को अपने आप उत्पन्न करता है। इसका अनुभव मानव मात्र कर सकता है। यह ऐसी बात नही है, जिसका अनुभव प्रयोग सिद्ध न हो। निर्लोभता आते ही प्राप्त वस्तुओ का उपयोग व्यक्तियो की सेवा स्वभाव से ही होने लगता है। सग्रह की रुचि का जन्म ही नही होता और न वस्तुओ मे ममता ही होती है। अप्राप्त वस्तुओ की कामना की तो कौन कहे, लोभ रहित होते ही वस्तुओ से अतीत के जीवन मे प्रवेश हो जाता है अर्थात् निर्लोभता मानव को विवेकयुक्त जीवन से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से वस्तु से व्यक्ति को अधिक महत्त्व देना हितकर ही सिद्ध होता है।

व्यक्ति से वस्तु को अधिक महत्त्व देने से व्यक्तियो मे वस्तुओ की दासता उत्पन्न होती है। वस्तुओ की दासता वस्तुओ का सदुपयोग

नही करने देती और न विवेक का आदर ही रहता है। विवेक का अनादर होते ही अविवेक की उत्पत्ति हो जाती है और फिर अकर्तव्य का जन्म हो जाता है। अकर्तव्य ही परस्पर संघर्ष का कारण है। संघर्ष से वस्तु और व्यक्ति दोनो ही का विनाश होता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार वस्तुओ की उत्पत्ति व्यक्तियो के हितार्थ होती है। उन वस्तुओ का महत्त्व व्यक्तियो से अधिक कर देना मंगलमय विधान का हनन करना है। विधान का विरोध किसी के लिए भी, कभी भी हितकर सिद्ध नही होता। अत वस्तु से व्यक्ति को अधिक महत्त्व देना अनिवार्य है।

वस्तुओं की दासता से रहित मानव न तो वस्तुओं का दुरुपयोग ही करता है और न वस्तुओ के आश्रय के आधार पर अपना महत्त्व मानता है क्योकि वस्तु-युक्त होने से व्यक्ति का महत्त्व नही है। व्यक्ति का महत्त्व विवेक-वित् होने मे निहित है। इस दृष्टि से विवेकी मानव को अविवेकियो की अपेक्षा कही अधिक महत्त्व देना है। इतना ही नही, अविवेकी मानव, मानव के भेष मे अमानव है। अमानव को पशु कहना पशु की निन्दा है, कारण कि पशु में विवेक जाग्रत नही है। इससे उस पर विवेकी होने का दायित्व नही है किन्तु मानव मात्र मे विवेक जागृत है, इस कारण उस पर दायित्व है कि वह विवेकी का अनादर न करे अर्थात् प्रत्येक वर्ग, समाज तथा देश का वही मानव आदरणीय है, जो विवेकी है। व्यक्ति के महत्त्व को इतना न बढा दिया जाय कि अपने मत, सम्प्रदाय, वर्ग तथा देश का अविवेकी मानव भी अन्य मत, सम्प्रदाय, वर्ग और देश के विवेकी के समान मान लिया जाय। अनेकों अविवेकियों की अपेक्षा एक विवेकी कही उच्चकोटि का मानव है। इतना ही नही, विवेकी कोई भी हो उसके परामर्श को आदर देना और अन्य की तो कौन कहे, अविवेकी माता-पिता, नेता आदि की भी बात को न मानना हितकर सिद्ध होता है, अनेक घटनाओ से ऐसा अनुभव हुआ है। इस कारण विवेकवित् होने पर ही व्यक्ति आदरणीय है।

यह नियम है कि जब तक जीवन मे विवेक का साम्राज्य रहता है तब तक जाने हुए असत् के त्याग की सामर्थ्य नष्ट नही होती। प्राकृतिक नियमानुसार जाने हुए असत् के त्याग में ही समस्त विकास निहित है। इस दृष्टि से मानव मात्र को विवेक का आदर करना है। विवेक वह प्रकाश है, जिसमें बुद्धि-दृष्टि द्वारा मानव इन्द्रिय-दृष्टि पर विजय प्राप्त करता है। विवेक के प्रकाश से बुद्धि मे सामर्थ्य आती है और फिर वह अनावश्यक और अशुद्ध संकल्पों को पूरा करने का समर्थन नही करती, जिससे अनावश्यक और अशुद्ध संकल्प पूरे हुए बिना अपने आप मिट जाते है और आवश्यक एवं शुद्ध संकल्प पूरे होकर मिट जाते है, जिनके मिटते ही बुद्धि भगवती विश्राम पाती है और प्रत्येक प्रवृत्ति अन्त में निर्विकल्पता सुरक्षित रहती है। निर्विकल्पता से अराग होना भी है।

सिद्ध ही है। निर्विकल्पता से असंग होते ही वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त होती है। इस दृष्टि से उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर करने मे विवेक ही मुख्य साधन है।

विवेक का महत्त्व सत्य की ओर अग्रसर होने मे है, विवाद मे नही। विवेक साधन है, साध्य नही। साधन का अनुसरण सिद्धिदाता है किन्तु साधन की ममता साधन के रूप मे असाधन है। साधन को ममता से रहित न होने मे ही साधन की पूर्णता निहित है। अत: विवेक का महत्त्व व्यक्ति से बहुत ऊँचा है, परन्तु विवेक का उपयोग सत्य की खोज मे है, विवेकी कहलाने मे नही। विवेकी कहलाने की रुचि मे विवेक का अनादर है, इस कारण विवेक से भी अपने साध्य को अधिक महत्त्व देना है क्योकि साध्य मे अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता ही मानव की वास्तविक माग है। अत. सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक और विवेक से अपने साध्य को अधिक महत्त्व देना है। उद्देश्य पूर्ति तथा संघर्ष का अन्त एव शान्ति की स्थापना करने के लिए उपर्युक्त क्रम स्वीकार करना प्रत्येक मत, सम्प्रदाय, वर्ग, समाज तथा देश के व्यक्तियो के लिए अनिवार्य है।

□ □ □

जन्नत और दोज़ख़

बगदाद मे उन दिनो सत फलीज की धूम थी। लोग उनके ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान से अत्यन्त प्रभावित थे। उनकी प्रशंसा बगदाद के खलीफा हारुन-उल-रशीद तक भी पहुँची। उनके हृदय मे भी सत के दर्शन की इच्छा जागी। एक दिन वे अपने एक खास वजीर के साथ संत फलीज के पास पहुँचे। सत की असाधारण विद्वत्ता से खलीफा बहुत प्रभावित हुए। ज्ञान चर्चा के बाद जब वे चलने लगे तो उन्होने एक हजार दीनारो की थैली सत के चरणो पर रख दी।

सत ने मुस्कराकर थैली लौटा दी और कहा—"जहांपनाह! मैने आपको जन्नत तक जाने का रास्ता बताया। बदले मे आप मुझे दोजख की राह पर क्यो धकेल रहे है?"

□ डॉ. भैरूलाल गर्ग

३६ परिश्रम और धर्म्य वेतन

□ श्री केदारनाथ

मनुष्य समूह में रहने वाला प्राणी है। इसलिए उसे केवल व्यक्तिगत सुख-सुविधा की अभिलाषा न रखकर सुख-दु.ख, लाभ-हानि, उन्नति-अवनति आदि हर बात का सामूहिक दृष्टि से विचार करना सीखना चाहिये। जिन सुख-सुविधाओ का हम आज उपभोग करते है, वे हमारे या और किसी अकेले की पैदा की हुई नही है। वे समग्र मानव जाति के परिश्रम से, ज्ञान से, सद्गुणो से निर्माण होकर हम तक पहुँची है। परमात्मा द्वारा निश्चित प्रकृति के धर्मो या गुणो, निसर्ग की शक्ति और मानव समाज की शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक शक्तियो के समुच्चय से और सहायता से हमारे धारण, पोषण और रक्षण के तथा सुख-सुविधाओ के सारे साधन पैदा होते रहे है। मनुष्य के साथ रहने वाले गाय, घोड़ा, बैल जैसे जानवरो के परिश्रम का भी इसमे बड़ा हिस्सा है। यह बात भी ध्यान में रखकर हमे परमात्मा के प्रति, मानव-जाति के प्रति और अपने साथ रहने वाले प्राणियो के प्रति सदा कृतज्ञ रहना चाहिये। हम मानव-परिश्रम से पैदा होने वाले साधनों पर जीते है। इसलिए इस परिश्रम मे हमे कर्तव्य-बुद्धि से परिश्रम के रूप मे अपना हिस्सा सदा सन्तोषपूर्वक देना चाहिये। ऐसा किये बिना हमारा जीना, दुनिया की मेहनत से पैदा हुई साधन-सम्पत्ति का उपयोग करना, इससे मुफ्त लाभ उठाना निरा मानवद्रोह है, अधर्म है। उसमे कृपणता, चोरी, जड़ता, कृतघ्नता, स्वार्थ, अन्याय वगैरा अनेक दुर्गुणो और पापों का समावेश होता है।

श्रम विभाजन का सिद्धान्त

जीवन निर्वाह के लिए प्रत्येक मनुष्य सब तरह के परिश्रम खुद नही कर सकता। परन्तु सबके परिश्रम का सब लोग न्यायपूर्वक उपयोग करे, तो सबका जीवन सुव्यवस्थित रूप से चल सकता है। इस प्रकार के न्याय और सुव्यवस्थित नियमन से समाज कई तरह से सम्पन्न और समर्थ बनता है। जीवन के लिए सब प्रकार के जरूरी परिश्रम प्रत्येक मनुष्य अकेला अलग-अलग करने बैठे, तो मानव का विकास नही हो सकेगा। जिससे मनुष्य की सामाजिकता नष्ट हो जायगी और सम्भव है सारी मानव जाति ही नष्ट हो जाय। इसलिये समाज सुख-सुविधा और उन्नति के लिए श्रम की तरह ही श्रम विभाजन भी जरू

समाज के धारण, पोपण, रक्षण और उन्नति के लिए आवश्यक साधन-सम्पत्ति पैदा करने की जिम्मेदारी प्रत्येक मनुष्य को अपने धर्म के रूप मे सन्तोपपूर्वक स्वीकार करनी चाहिये । यह धर्म मानव-जीवन का प्राण है । मानव-धर्म के न्याय श्रम विभाजन की दृष्टि से यह सिद्धान्त निकलता है कि इस धर्म का आचरण किये बिना शारीरिक, बौद्धिक या मानसिक किसी भी प्रकार के मानव परिश्रम से निर्मित किसी भी साधन-सम्पत्ति का या सुख-सुविधा का अपने जीवन मे किसी को भी उपयोग करने का हक नही है ।

धर्म्य जीवन की महत्त्वाकांक्षा

इस धर्म के लिए जो विद्यायें और कलाये जरूरी है, उनमे प्रवीणता प्राप्त करके सबके हित की दृष्टि से उनका सदा उपयोग करते रहना ही हमे अपना जीवन कार्य समझना चाहिये । परमात्मा की ओर से कुदरती तौर पर ही प्राप्त हुई हमारे अंग-प्रत्यग की सारी शक्तियो का विकास करके और उन्हे शुद्ध करके उनका सतत उपयोग करने से हमारी शक्तियाँ सतेज और शुद्ध रहती है । कोई भी शस्त्र या हथियार काम मे लेते रहने से ही तीक्ष्ण और तेजस्वी रहता है, नही तो जग लगकर खराब हो जाता है । इसी तरह हमारी शक्तियो को उचित गति देते रहने से और उनका सत्कार्य मे उपयोग करते रहने से हमारे अग-प्रत्यग और उनकी शक्तियाँ, हमारी बुद्धि और हमारा मन शुद्ध रहता है । नही तो ये सब निकम्मे हो जाते है और जड़ता, आलस्य आदि दुर्गुणो से हमारा नाश हो जाता है । केवल अपनी सुख-सुविधा या अर्थोत्पादन के लिए उनका उपयोग करना जीवन की उदात्तता और व्यापकता की दृष्टि से अत्यन्त हीन वस्तु है । सबके हित की दृष्टि रखकर अपने व्यवसाय मे से अपने जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक मजदूरी या मेहनताना लिया जाय, उससे ज्यादा अर्थलाभ या लोभ का उद्देश्य कभी न रखा जाय । हम सब इस प्रकार के पवित्र और धर्म्य जीवन की महत्त्वाकांक्षा रखे तो हमारे जीवन सार्थक होगे और तभी किसी समय मानव जाति के सम्पूर्ण सुखी होने की आशा रखी जा सकती है ।

न्याय और अन्याय विभाजन के परिणाम

यह महत्त्वाकाक्षा पूरी हो, इसके लिए हममे श्रम विभाजन की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये, जिससे किसी भी व्यक्ति या वर्ग पर दूसरे से ज्यादा भार न पड़े और किसी भी व्यक्ति या वर्ग को दूसरे व्यक्ति या समाज के परिश्रम का फल दूसरो से ज्यादा न मिले । इस प्रकार जिस समाज मे समता के सिद्धान्त पर मेहनत और फल का बंटवारा होता है, वह समाज अनेक प्रकार से समर्थ, सम्पन्न और स्थायी बनता है । उस समाज मे सबका परस्पर पोष्य-पोपक सबध होता है । परन्तु जिस समाज मे इस प्रकार श्रम-विभाजन की न्याय व्यवस्था

नही होती, उसमें एक ओर गुलामी और खुशामद तथा दूसरी ओर विकास और सुख-सुविधा के नाम पर स्वार्थ, अत्याचार, जुल्म, दुष्टता, ऐश आराम, विकार-वशता, मुफ्तखोरी, जडता और आलस्य वगैरा दुर्गुण वढते रहते है। इस कारण समाज मे शोषित और शोषक वर्ग निर्माण होते है। व्यक्ति-व्यक्ति और वर्ग-वर्ग मे परस्पर भक्ष्य-भक्षक का सम्बन्ध वढता जाता है। सारा समाज दिनो-दिन अवनत होता जाता है और फिर थोडे ही समय मे वह किसी वलवान समाज का गुलाम वन जाता है। जिस समाज मे परिश्रम करने वालो से परिश्रम द्वारा पैदा होने वाली साधन-सम्पत्ति का मुफ्त लाभ उठाने वाले वर्ग की संख्या अधिक होती है या उसे समाज में ज्यादा महत्त्व और प्रतिष्ठा मिलती है, वह समाज छिन्न-भिन्न हुए विना नही रहता। धर्म और अध्यात्म की भ्रामक कल्पनाओ, कला के नाम पर विलास को मिले हुए महत्त्व, धन को दी गई अनुचित प्रतिष्ठा वगैरा के कारण श्रम-विभाजन का और उसके फलो के न्याय वितरण की पद्धति का समाज मे लोप हो जाता है इसके कारण पुरुषार्थहीनता, दभ, स्वच्छदता आदि वढ़ती जाती है और कुल मिलाकर सारा समाज पतन की ओर जाता है।

धर्मनिष्ठ समाज

इस दृष्टि से विचार करे तो समाज की सुस्थिति के लिये परिश्रम, श्रम का उचित विभाजन और समता के सिद्धान्त पर उसके फल का उचित वटवारा—ये तत्त्व हर व्यक्ति को जचने चाहिये और तदनुसार उसे आचरण करना चाहिये। सदा कार्यरत रहकर उससे तैयार होने वाली साधन-सम्पत्ति मे से अपने गुजारे से जरा भी ज्यादा की उम्मीद न रखने का सिद्धान्त सवको मजूर होना चाहिये। इस तरह के तत्त्वनिष्ठ समाज को ही धर्मनिष्ठ समाज कहा जा सकता है। समाज मे इस प्रकार की तत्त्वनिष्ठा और सद्गुणो की वृद्धि के लिए हमें खुद तत्त्वनिष्ठ और सद्गुणी वनना चाहिये। इसी निष्ठा पर मानव जाति का उत्कर्ष और उन्नति अवलम्बित है।

एक जमाने में भारतवर्ष के लोगो मे इस प्रकार की तत्त्वनिष्ठा थी। उस समय यह माना जाता था कि जीवन केवल धर्म के लिए है। उस समय समाज में यह भावना थी कि हम परमेश्वरी शक्ति के, पूर्वजो के, ज्ञानी पुरुषों के, मनुष्य मात्र के और मनुष्य के साथ रहने वाले तमाम प्राणियो के ऋणी है। उस जमाने के लोगो की दिनचर्या ऐसी थी, जिससे सदा इस बात का तीव्र भान रह सके कि अन्नाहुति के निमित्त से इन सवके प्रति कृतज्ञता-बुद्धि प्रकट किये बिना हमें भोजन करने का हक नही है। उस समय प्रजा मे इस प्रकार की सामूहिक धर्मनिष्ठा थी कि जीवन मे जो भी चीज हमे प्राप्त होती है, वह हमारे अकेले के परिश्रम या ज्ञान का फल नही है, बल्कि सबके परिश्रम और ज्ञान का फल है, और उनके

प्रति कृतज्ञ रहकर हमे केवल अपनी उचित आवश्यकताओं की पूर्ति जितना ही लेने का अधिकार है। उस समय आजकल जैसे भौतिक आविष्कार नही हुए थे, सुख के साधन भी आज जितने नही थे, न इतनी वैभव सम्पन्नता ही थी। परन्तु उस वक्त लोगो मे मानवता थी, मानव धर्म जाग्रत था। उनके जीवन से हमे बहुत कुछ सीखना है। हम अपना वर्तमान धर्म निश्चित करने और उसके अनुसार चलने के लिए उनके जीवन से कुछ ग्रहण कर सके, तो निश्चय ही हमारा कल्याण होगा।

अनोखा उपहार

प्राचीन युग की बात है। मिस्र मे नकिवेन नाम का बुद्धिमान राजा राज्य करता था। राजा नकिवेन बड़ा ज्ञानी था। प्रजा में खुशहाली छाई हुई थी।

एक बार राजा की भक्ति पर प्रसन्न होकर आकाश देव ने राजा को दर्शन देते हुए कहा—'ले वत्स ! यह तलवार।'

'इसे लेकर मै क्या करूँगा ?' कौतूहल से राजा ने पूछा।

'अरे ! इसे लेकर तुम विश्वविजयी बन जाओगे।'

'नही ! देव मुझे विश्वविजयी नही बनना। जिसको पाने के लिए हजारो का नर-सहार करना पडे।'

'अच्छा ! ले यह पारसमणि।' देव ने फिर उपहार देना चाहा।

'नही ! नही ! पारसमणि लेकर मुझे कौनसी अतुल धन-सामग्री एकत्रित करनी है। यह सब कौनसी मेरे साथ जायेगी।'

'तो फिर मै तुझे क्या दूँ ? हाँ—स्वर्ग की अप्सरा को भेज देता हूँ।' देव ने आँखे गडाकर राजन् से मानो पूछा।

'नही देव ! मुझे सासारिक भोग-विलासिता की किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा नही है। आप देना ही चाहते है तो कोई ऐसी चीज दे जिससे सभी प्राणी आपस मे स्नेह से रह सके, न कि बैर-भावना से दुनिया की शान्ति को भग करके मानवीय जीवन को कलकित करे।'

'ठीक है वत्स ! यह लो फूल की डाली। इसे जहाँ बोवोगे वही यह प्रेम पुष्प की बारिश करेगी। वहाँ जड़-चेतन, शत्रु-मित्र सबमे प्रेम का सामजस्य सौरभ भर देगी।'

राजा ने वह अनोखा उपहार स्वीकार किया और उस फूल की डाली से स्वय व प्रजा को सबक सिखलाया कि संग्रह के स्थान पर सभी मे, एक-दूसरे मे अपने-अपने सुखो को न्यौछावर करना चाहिए।

☐ मनोज आंचलिया

४०

अपरिग्रह : कुछ विचारणीय बिन्दु

□ श्री कि० घ० मशरूवाला

परिग्रह और स्वामित्व

परिग्रह और स्वामित्व के बीच का भेद समझ लेना आवश्यक है। किसी चीज को जुटाना व उसे सम्भालकर रखना और जब जिसे उसकी जरूरत हो तब उसे उसका उपभोग न करने देना—यह परिग्रह है, किन्तु इसके साथ मुमकिन है कि निजी स्वामित्व का दावा न हो।

परन्तु मनुष्य आमतौर पर सिर्फ इसी दृष्टि से परिग्रह नहीं करता। किसी वस्तु का संग्रह वह महज संभाल कर रखने के लिये ही नहीं करता, बल्कि उस पर वह अपने स्वामित्व का भी दावा करता है। अर्थात् वह खुद ही भविष्य में उसका उपभोग करना चाहता है या अपने ही लोगों को करने देना चाहता है। इसके अलावा यदि दूसरे कई लोग विपत्ति में पड़े हों और उस समय वे उसका उपभोग करना चाहें, तो भी वह उन्हें रोकने का भरसक प्रयत्न करता है। यह स्वामित्व चाहे, किसी व्यक्ति का हो, कुटुम्ब का हो या किसी संस्था अथवा वर्ग का हो, इन सबमें पदार्थ के केवल संग्रह और रक्षण का भाव नहीं है बल्कि स्वामित्व का भी भाव या दावा है। दूसरे शब्दों में आप–पर का भाव है, पक्षा-पक्ष है और विषम दृष्टि है। और जिस अंश तक यह सब है, उस अंश तक उसमें ईश्वर के प्रति अश्रद्धा भी है।

परिग्रह के भेद

खाने-पीने के पदार्थ, ईंधन, स्याही, पैन्सिल, साबुन, दन्तमंजन आदि का सग्रह एक प्रकार का है। ये पदार्थ ऐसे हैं कि यों ये भले ही बहुत दिनों तक रखे रह सकें, किन्तु जिस दिन इन्हें इस्तेमाल करेंगे उसी दिन इनका कुछ भाग सदा के लिए कम हो जाता है। एक रोटी एक बार ही खाई जा सकती है, एक साबुन की टिकिया एक बार घिस गयी तो घिस ही गयी। ये सब चीजें एक ही बार में खत्म हो जाने वाली हैं। यह संग्रहणीय पदार्थों का एक प्रकार हुआ।

घर, साज-सामान, कपड़ा-लत्ता, बरतन-भांड़े, हल, चरखा [illegible] औजार, गहने, पुस्तकें आदि वस्तुएँ ऐसी हैं जो इस्तेमाल करने से [illegible] जरूर है परन्तु वह घसारा धीमा होता है और सारे पदार्थ पर फैला हुआ

है। इससे ये चीजें लगभग समूची ही एक साथ काम मे आती है व एक ही साथ घिसती भी जाती है। अतः वे एक वार ही नही वल्कि वर्षो तक काम मे आती रहती है। हम चाहे परिग्रह के सिद्धान्त को मानते हो, चाहे अपरिग्रह का व्रत धारण किये हो, यदि ऐसे पदार्थो के विषय मे हमारी आदते निश्चित हो गयी हो तो उनके सम्बन्ध मे हमारी नीति एक ही रहती है, और वह यह है कि ये पदार्थ जिस तरह ज्यादा समय तक अच्छी हालत मे रखे जा सके उसी तरह रख कर सावधानी से उनका उपयोग करना। घरो और सस्थाओ में भी कुछ लोग ऐसे होते है कि जो चीज वे इस्तेमाल के लिये लेते है, उसे फिर सभाल कर उसकी जगह नही रखते। इस आदत को हम अच्छी नही समझते, वल्कि लापर-वाही कहते है। सब बड़े-बूढे उन्हे ऐसी आदतों के लिये टोका करते है। वडे-वडे सत भी जो अपरिग्रह व्रत का पालन वडी कठोरता से करते है, इस आदत को बुरी ही कहते है। इस्लाम मे कही पढा है कि हजरत मुहम्मद ने इस वात पर बड़ा जोर दिया है कि चीजो का उपयोग हाथ रोककर ही करना चाहिये।

अब तीसरे प्रकार के सग्रह का विचार करे। सोना, चांदी आदि धातुओ तथा हीरा, माणिक आदि का सग्रह तीसरे प्रकार का परिग्रह है। वर्षो तक पडे रहकर भी ये पदार्थ बहुत कम काम मे लाये जाते है। गहने, बरतन या औजारो के रूप मे ही ये काम मे आ सकते है, किन्तु ये चीजे पड़े-पडे बिगडती नही। इससे जंहां मालिकाना हक मान लिया जाता है, वहाँ ये भी मूल्यवान हो जाती है। फर्ज कीजिए कि मेरे पास १० मन अनाज है। मै समझता हूँ कि शायद मुझे उसकी जरूरत न पडे। इसे मै अपनी निजी सम्पत्ति समझता हूँ। आपको इस गल्ले की जरूरत है लेकिन आपके पास सोना-चादी का सग्रह है। उसे आप अपनी भी निजी चीज समझते है। मेरा संग्रह आपके सग्रह की अपेक्षा अधिक नाशवान है। यदि मै अपने गल्ले को न निकाल डालू, तो उसके खराब हो जाने का अन्देशा है। अब यदि स्वामित्व का ख्याल मेरे मन मे न हो तो मै आपसे कहूँगा कि मेरा यह अनाज खराब हो जायेगा। फिर या तो मुझे उसे जलाना पडेगा या फैकना पडेगा या गाडना पड़ेगा। अतएव यदि आप इसे ले जाये, तो मुझ पर वडी मेहरबानी होगी। परन्तु चूँकि मुझ मे स्वामित्व का भाव है, मै ऐसा नही करता। वल्कि मै कहता हूँ कि यह अनाज मेरा है, कोई इसे छू नही सकता। अगर मै इसकी सभाल नही कर सकता तो मै इसे जला डालूँगा या जमीन मे गाड दूँगा। यदि आपको इसकी जरूरत है तो आप अपना सोना-चादी इसके वदले मे दीजिये तो मै सोचूँगा। क्योकि आप खुद भी ऐसे ही मालिकाना हक को मानते है, इससे मेरी इस वात मे आपको कोई अनौचित्य नही दिखाई देता।

इस तरह यह स्थिति संसार-व्यवहार का नियम वन गयी है। यदि स्वामित्व का अधिकार और उससे उत्पन्न लेन-देन का व्यवहार न हो, लेकिन

सिर्फ परिग्रह या संग्रह की ही भावना हो तो मनुष्य घर, अनाज, कपडे, वरतन आदि को संभाल कर रखें, एहतियात से काम में लें और जो ज्यादा हो, उसे विगडने न दे। फिर वे सोना-चांदी या सिक्के या पाटो से भण्डार नही भरेगे। लेन-देन के व्यवहार के विना इन चीजो की खपत वहुत कम – गहने, वरतन या औजारो के लिये ही होती है। और गहने आदि चाहे जितने ही वनाये जाये पर उनकी एक सीमा तो होगी ही।

इस प्रकार परिग्रह मे दो भाव मिले हुए है—भविष्य की आवश्यकता के लिये सग्रह और हिफाजत तथा स्वामित्व का हक। श्रेयार्थी की दृष्टि से इन दोनो मे भेद रहता है।

अव एक और दृष्टि से भी हमें परिग्रह का विचार करने की आवश्यकता है।

ऊपर जो परिग्रह के प्रकार वताये गये है, वे थोडे या ज्यादा समय मे नष्ट हो जाने वाली किन्तु वाह्य सम्पत्ति के ही है। यह सम्पत्ति ऐसी है कि परिग्रही स्वय उसका उपयोग न कर सके तो दूसरे कर सकते है। परिग्रही यदि मर जाय तो उससे परिग्रह नाश नही हो जाता।

किन्तु इस वाह्य सम्पत्ति के अलावा मनुष्य के पास दूसरी स्वाधीन सम्पत्ति भी होती है, और वह भी उसके निर्वाह-साधन मे उतनी ही सहायक होती है, जितनी कि वाह्य सम्पत्ति। यह है उसका शारीरिक वल, बुद्धि, विद्या, चरित्र आदि। ऐसी कोई भी विशेषता जिसके पास होती है, उसे उस अंश तक वाह्य सम्पत्ति के सग्रह का महत्त्व कम मालूम होता है, और यह विश्वास तथा निश्चिन्तता रहती है कि मेरा निर्वाह किसी तरह हो ही जायेगा। एक तरह से यह सम्पत्ति सोना-चादी के सग्रह जैसी है, क्योकि यह खाद्य वस्तु नही है परन्तु जिसके द्वारा खाद्य वस्तु मिल सकती है। दूसरी दृष्टि से इसका महत्त्व सोने-चादी के भण्डारो से भी वहुत ज्यादा है, क्योकि यह बाहरी वस्तु नही है, न चोरी जा सकती है न उपभोग से कम ही होती है। तीसरी बात यह है कि वह खुद अपने ही काम मे आ सकती है, वारिसो या दूसरो को दी नही जा सकती।

इन सव में भी चरित्र धन सवसे अधिक मूल्यवान् सम्पत्ति है, क्योकि शरीर-वल, वृद्धावस्था और रोग से नष्ट हो जाता है, बुद्धि को भी बीमारी लग सकती है, विद्याओं के भूल जाने अथवा जमाना बदलने पर निरुपयोगी हो जाने की संभावना रहती है, परन्तु चरित्र इन समस्त आपत्तियो से परे है।

विविध दृष्टियाँ

परिग्रह का निषेध करने में और उस पर प्रहार या ५८

सत्पुरुषों की भूमिका एकसी दिखाई नही देती है । कही उन्होंने परिग्रह के नाम पर सिर्फ स्वामित्व की भावना का ही निषेध करना चाहा है । कभी-कभी अतिरिक्त अथवा अमर्याद परिग्रह का भी निषेध किया है । कही-कही निर्वाह के लिये किये जाने वाले श्रम का भी निषेध किया गया है और कही तो दिगम्बर दशा का आदर्श उपस्थित किया गया है ।

हमें चाहिये कि हम इन सब वचनो का महत्त्व एकसा न समझे ।

अपरिग्रह के मूल मे यह दृढ श्रद्धा रहती है कि परमेश्वर सब प्राणियो का पालक और पोषक है—'जब दात न थे तब दूध दियो, अब दात दिये कहा अन्न न दे है' फिर अन्न भी वह इतना ही नही देगा कि केवल प्राण शरीर मे टिके रहे, बल्कि सब वास्तविक जरूरते पूरी कर देगा । गरीब और अमीर का भेद देखकर आमतौर पर हम ऐसी शिकायत करते है कि समाज मे न्याय-नीति नही है, किन्तु अपरिग्रही साधु इस विषय मे दो प्रकार के विचार प्रदर्शित करते है । कुछ तो कहते है :—

राम झरोखे बैठ कर, सबका मुजरा लेत ।
जितनी जाकी चाकरी, उतना वाको देत ।।

अर्थात् राम प्रत्येक को उसकी पात्रता के हिसाब से देता है । फिर कई बार वे यह भी कहते है कि परमेश्वर "चीटी को कन व हाथी को मन" देता है । अर्थात् प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार देता है । सारांश यह कि किसी को ज्यादा व किसी को कम मिलता है, उसका कारण परमेश्वर का अन्याय नही, बल्कि उसकी दृष्टि मे उन व्यक्तियो की पात्रता या आवश्यकता इतनी ही है । अधिक उखाड़-पछाड़ करने वाला वैसा करके भी अधिक प्राप्त नही कर सकता । इसके विपरीत ऐसा भी अनुभव होता है कि जो त्याग का प्रयत्न करते है, उन्हे कई बार अपनी इच्छा से अधिक स्वीकारना या भोगना पडता है । इसका अर्थ यह हुआ कि परमेश्वर की दृष्टि मे किसी की पात्रता या आवश्यकता अधिक हो, तो वह उसे जबरदस्ती भी अधिक उपभोग की सामग्री प्रदान करता है ।

कुछ लोगो को ये बाते अबुद्धि की लगेगी । पर बात यह है कि आमतौर पर लोगो को यह अन्देशा रहता है कि यदि हम समय पर सम्पत्ति का सग्रह न कर लेगे तो कठिनाई मे पड़ जायेगे और इसलिये वे उसे बढाने की चिन्ता करते रहते है, परन्तु कई मनुष्य अपना यह अनुभव बताते है कि उन्हे परिग्रह–त्याग से जीवन मे कभी कोई कठिनाई नही हुई । जंगल भी उनके लिये मगल बन गया है । उनकी जरूरते अकल्पित रूप मे पूरी हो गयी है, और केवल मनुष्य ही नही बल्कि प्राणी और जड सृष्टि भी इस तरह उनके अनुकूल हो गयी है, मानो उनकी सेवा ही करना चाहती हो । अतएव उनका यह विश्वास हो गया है कि

करने का तीव्र संकल्प जीवन की आवश्यकताओ की प्राप्ति में बहुत कारणीभूत होते है। क्योकि आखिर जीवन की समस्त प्राप्तियो का मूल कारण तो आत्मा की सत्य-सकलपता ही है। अतएव जहाँ कही तीव्र सकल्प है, वहां उसे सिद्ध करने के लिये आवश्यक सामग्री निर्माण करने की शक्ति भी मौजूद ही रहती है। इस तरह अपरिग्रही साधु को जो अकल्पित रूप से अपनी जरूरते पूरी होने का अनुभव होता है, उसका कारण यह है कि कसी उदात्त हेतु को सिद्ध करने का संकल्प वह करता है और उसके लिये इन जरूरतो को पूरा होना लाजिमी हो जाता है।

इस प्रकार साधु पुरुषों को वाह्य परिग्रह की या निर्वाह के लिये मेहनत करने की आवश्यकता नही दिखाई देती और अपने अनुभव के बल पर वे दृढता पूर्वक कहते है कि जिसकी जो जरूरत होगी, वह उसे अवश्य मिल जावेगी।

तात्पर्य यह है कि ससारी और साधु दोनो के अनुभवो मे सत्याश है। ससारियो को सग्रह के अभाव मे विपत्तियो का जो अनुभव होता है वह निर्विवाद है, परन्तु इससे वे सग्रह का महत्त्व जरूरत से ज्यादा समझ बैठते है। इधर सतो को यह स्पष्ट अनुभव होता है कि वे जो चाहते है सो उन्हे जरूर मिल जाता है। इससे वे परिग्रह को ही नही बल्कि श्रम की भी कीमत कुछ नही समझते और इस बात को भूल जाते है कि उनकी जरूरते पूरी करने के लिये किसी न किसी को परिग्रह और श्रम की चिन्ता करनी ही पडी है।

अधिक सत्यपूर्ण विचार इन दोनो के बीच मे है, यानी

१. परिग्रह और मालिकाना हक मे भेद करने की जरूरत है, और श्रेयार्थी पहले तो जितना हो सके स्वामित्व का भाव घटावे अर्थात् जिसको आवश्यकता हो उसे अपने परिग्रह का उपभोग करने की अधिक छूट दे। हाँ, आज की परिस्थिति मे इस विचार की कार्यरूप मे परिणति एक सीमा मे ही हो सकती है, परन्तु इस दिशा मे प्रयास करने की आवश्यकता जरूर है।

२. परिग्रह और श्रम का भी भेद समझना जरूरी है। कोई व्यक्ति अपरिग्रह का आदर्श रखे तो हो सकता है कि उसमे न तो कोई बुराई हो और न समाज को ही कोई हानि पहुँचे, परन्तु यदि कोई व्यक्ति ऐसा विचार रखे और उसका प्रचार करे कि 'अजगर करे न चाकरी पछी करे न काम'. तो इससे समाज की अवश्य हानि पहुँचेगी और पाखण्ड तथा आलस्य की वृद्धि होगी। इसके विपरीत यह सिद्धान्त कि सिर्फ आज की ही रोटी कमा लो (अर्थात् मेहनत करके प्राप्त करो) श्रम-पोपक होते हुए भी अपरिग्रह का है और श्रेयसाधक भी है।

३. फिर परिग्रह और हिफाजत के भेद को भी समझ लेना चाहिए। जो चीज इस्तेमाल से आज ही घिस या विगड नही जाती उसे जतन से रखना

परिग्रह तो है, परन्तु यह एक सद्‌गुण है और आवश्यक है। ऐसा न करना दोष मे शामिल है। किन्तु केवल संग्राहक बुद्धि से ऐसी चीजों का जत्था वढाते ही जाना अतिरेक है। ऐसा ही समझना चाहिये कि सतो ने जो परिग्रह पर प्रहार किया है, वह ऐसे अतिरेक पर है।

४. यह समझ लेने की आवश्यकता है कि अपरिग्रह तथा परिग्रह दोनो सिद्धान्त उडाऊपन के खिलाफ है। जिस चीज के उपभोग की आज जरूरत नही है उसको भी परिग्रह न रखने की दृष्टि से खर्च कर डालना अपरिग्रह नही, वल्कि पदार्थो पर अत्याचार है अथवा स्वेच्छाचारिता है। इसी तरह अपने उपभोग के लिये सृष्टि के समस्त रस-कस को अधिक से अधिक खीच लेने की वृत्ति रखना मनुष्य का प्रकृति पर अत्याचार है। अपरिग्रह के सूक्ष्म अर्थ का विचार करे तो मालूम होगा कि साहूकारो की स्थापित सर्राफे की दुकानो पर या निजी तिजोरियो पर विश्वास रखने के वदले ईश्वर के प्राकृतिक वैंक पर विश्वास रखना अपरिग्रह का आचरण है। परन्तु इस प्रकार मनुष्य के स्थापित वैंक मे से जितना रुपया रोज उठाया जाय उतना फिर जमा करने की चिन्ता न की जाय, तो फिर एक दिन अपना खाता वहाँ से उठ ही जाता है। इसी तरह इस प्राकृतिक वैंक से रोज-ब-रोज जितना हम खीचते है उतना ही हमें जगत् की भिन्न-भिन्न रूप मे सेवा व श्रम के द्वारा फिर प्रकृति को लौटा देना चाहिए। जो ऐसा नही करता है उसका विश्वास "अपरिग्रह' के या "ईश्वर सबका पालन-पोषण करता है". इस सिद्धान्त पर नही वैठ सकता। अत: कुदरत का मितव्यय से उपभोग करना परिग्रही या अपरिग्रही दोनो के लिये समान रूप से आवश्यक नियम है। इससे यह भी समझ मे आयेगा कि कुछ साधुओ के अपने हाथ मे आई मनुष्योपयोगी चीजो को चाहे जहाँ फैंक देने, या हर किसी को देकर उनको वरवाद करने, या उन्हें लुटाकर अपनी धन-सम्वन्धी उपेक्षा बताने में प्राय: अविवेक ही होता है। किसी भी वस्तु का त्याग उचित रीति से और उचित मात्रा मे ही करना चाहिये।

५. चरित्र और उदात्त सकल्प भी एक प्रकार का धन ही है। अतएव हमे यह समझना चाहिये कि केवल वाह्य सामग्री एकत्र करने के लिए किये गये श्रम से ही निर्वाह नही होता, वल्कि उसके जुटाने में चरित्र व उदात्त सकल्प भी कारणीभूत होते है, और इसलिये उन्हें वढाने का प्रयत्न करना और उन पर विश्वास रखना भी सीखना चाहिये।

६. हमारे परिग्रह और भोगो की एक सीमा होनी चाहिये। अपने समय में उनकी क्या मर्यादा होनी चाहिये, इसका विचार सुज्ञजनो को स्वयं करते रहना चाहिये। समझना चाहिये कि भोगों की विविधता और रसिक वृत्ति जीवन का आदर्श नहीं बल्कि सादा, मेहनती व अल्पसाधन युक्त जीवन ही सच्चा जीवन है।

७. सोना, चादी, जवाहरात आदि को उनकी उपयोगिता के मुकाबले में जरूरत से ज्यादा महत्त्व मिल गया है। सिक्के के तौर पर इनका उपयोग जो लाजिमी बना दिया गया है, वह बहुत अनर्थों का कारण हुआ है। किन्तु यह विषय अर्थशास्त्र से सम्बन्ध रखता है। अतएव यहाँ उसकी चर्चा ज्यादा नही हो सकती। यहाँ तो इतना ही कह सकते है कि रसिक पुरुष गहने आदि के रूप में इनका व्यवहार करेगे ही और सभव है इसका कोई इलाज हमें न भी मिले, परन्तु सिक्के के रूप में इनका उपयोग लाजिमी कर देना अर्थ व श्रेय दोनो का विरोधी है। अत श्रेयार्थी को इनका परिग्रह करने के मोह मे न पडना चाहिये।

□ □ □

अपरिग्रह का आदर्श

यूनान के सत अफ्रायत का जीवन अत्यन्त सरल था, वे सादगी और पवित्रता में विश्वास करते थे। वे एथेन्स नगर के बाहर एक गुफा मे निवास कर ईश्वर चिन्तन करते थे। वे सूर्यास्त के बाद केवल एक रोटी खाकर अपनी क्षुधा शान्त करते थे। एक साधारण चटाई पर सोते थे। वे एक मोटा-सा वस्त्र धारण करते थे।

एक दिन वे अपनी गुफा से बाहर बैठे थे कि सम्राट फिलिप उनसे मिलने आया।

सत को भेट देने के लिये अपने साथ वह वेशकीमती वस्त्र भी लाया था। सम्राट ने सत का अभिवादन कर कहा—"ये वस्त्र उच्चकोटि के कारीगरों द्वारा निर्मित है, कृपया इन्हे स्वीकार करे।"

संत ने शान्त भाव मे उत्तर दिया—"फिलिप, क्या आप इसे ठीक समझते है कि एक पुराने स्वामिभक्त नौकर को इसलिये निकाल दिया जाय कि दूसरा नया व्यक्ति उससे ज्यादा खूबसूरत और काम करने वाला है।"

"नही, ऐसा तो कदापि उचित नही है।" सम्राट ने उत्तर दिया।

"तो फिर अपने वस्त्र वापस ले जाइये! मैने जिस वस्त्र को बीस वर्षो से अनवरत धारण किया है उसके रहते दूसरा नही रख सकता। मेरी आवश्यकता इसी से पूरी हो जायगी।" सत ने कहा।

इस प्रकार सत की पवित्र अपरिग्रह वृत्ति मुखरित हो उठी। सम्राट फिलिप वस्त्र लेकर वापस चला गया।

□ श्याम मनोहर व्यास
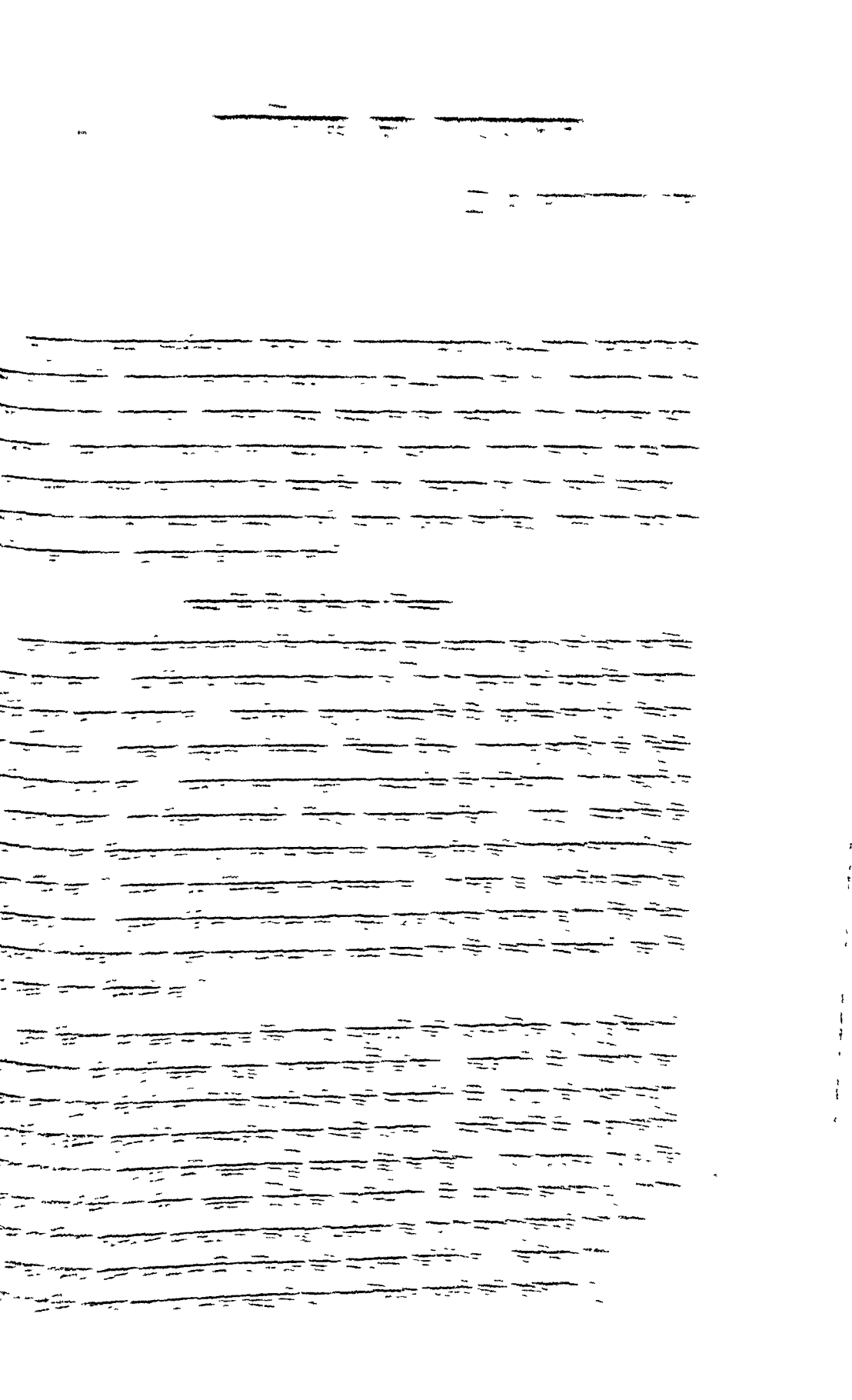
परिग्रह की भरमार

प्राय: आदमी को जितनी चीज की उसे वास्तव मे जरूरत होती है, उससे बहुत अधिक अपने पास रखता है। उसे आशका रहती है कि पीछे यह चीज मिले या न मिले। वह सोचता है कि आज के लिए ही नही, कल के लिए भी, इसी माह के लिए नही, अगले माह के लिए भी, इसी साल के लिए नही अगले साल के लिए भी तो चाहिये। यही नही, वह अगली पीढी के लिए भी सग्रह करके रखना चाहता है। इसी प्रकार उसके सग्रह की सीमा नही रहती, उसकी अधिकाधिक की चाह बनी रहती है। यहाँ तक कि वह उस चीज की ठीक सार-सभाल भी नही कर पाता। वह यह नही सोचता कि मेरे पास जो चीज अधिक पडी है, उसकी समाज मे अन्य लोगो को कितनी जरूरत है।

संग्रह चोरी है

जो लोग बहुत अधिक सग्रह करके रखते है—अधिकांश आदमी अपनी असली जरूरत से ज्यादा सम्पत्ति रखते है वे समाज के प्रति कितने क्रूर, निर्दय और दोषी है, इसका वे विचार नही करते। सब लोग कहते है और मानते है कि चोरी नही करनी चाहिए, चोरी करना पाप है। पर विचार कर देखा जाय तो चोरी के अपराध से कौन मुक्त है, क्योकि जिस चीज की मुझे आज जरूरत नही है, उसे अपने पास रखना और दूसरों को उसके उपभोग से वचित करना चोरी ही है। कहा गया है—'मनुष्यो का अधिकार केवल उतने ही धन पर है जितने से उनकी भूख मिट जाय। इससे अधिक सम्पत्ति को जो अपनी मानता है, वह चोर है, और उसे दण्ड मिलना चाहिए। [भागवत ७/१४/८]

चोरी और अस्तेय : गाँधीजी के विचार

गाँधीजी ने कहा है—'दूसरे की चीज को उसकी आज्ञा के बिना लेना तो चोरी है ही, पर मनुष्य अपनी मानी जाने वाली चीज की भी चोरी करता है—जैसे एक बाप अपने बच्चो को जनाये बिना उनसे छिपाने की नीयत रख कर गुपचुप कोई चीज खा ले। पर अस्तेय इससे बहुत आगे जाता है। एक चीज की जरूरत न होते हुए, जिसके अधिकार मे वह है उससे चाहे उसकी आज्ञा लेकर ही ले, तो वह भी चोरी होगी। अनावश्यक कोई भी वस्तु न लेनी चाहिए। ऐसी चोरी ससार मे ज्यादा से ज्यादा खाने की चीजो के सम्वन्ध मे होती है। मुझे अमुक फल की जरूरत नही है, फिर भी मैं उसे खाता हूँ, तो वह चोरी है। वस्तुत: अपनी आवश्यकता की मात्रा को मनुष्य हमेशा जानता नही है, और प्राय: हम सव अपनी जरूरतो को आवश्यकता से अधिक वताते और इससे अनजाने चोर वन जाते है। विचारने पर मालूम होगा कि हम अपनी वहुतेरी जरूरतो को घटा सकते है। अस्तेय व्रत पालन करने वाला उत्तरोत्तर अपनी

आवश्यकताएँ कम करता जायगा। इस ससार मे अधिकतर दरिद्रता अस्तेय के भग से हुई है। ['मगल प्रभात' पुस्तक से उद्धृत]

अस्तेय व्रत : शरीर-परिश्रम द्वारा सम्पत्ति-निर्माण

अस्तेय व्रत की विशेषता यह है कि यह अर्थप्राप्ति के साधन पवित्र रखने पर जोर देता है। यह अर्थप्राप्ति की पद्धति का नियमन करता है। श्री विनोबा ने बताया है कि अस्तेय कहता है—"शरीर का निर्वाह मुख्यतया शरीर-श्रम से, याने उत्पादक परिश्रम से होना चाहिए। शरीर-श्रम के बगैर अगर हम अन्न खाते है तो हम एक खतरा पैदा करते है। सर्व सामान्य लोगों के लिए अस्तेय पालन तभी होगा, जब, जिसे शारीरिक क्षुधा है, वह शारीरिक परिश्रम करे। दुनिया की आज की बहुत सी विषमताएँ, बहुत से दु:ख और बहुत से पाप शरीर-श्रम को टालने की नीयत से पैदा हुए है। वैसी नीयत रखने वाला गुप्त या प्रकट रूप से चोरी करता है। इसलिए अस्तेय व्रत शरीर-परिश्रम द्वारा सम्पत्ति-निर्माण पर जोर देता है। ['सर्वोदय', दिसम्बर, ५२]

अपरिग्रह : समाज से ऋण-मुक्ति

जिस प्रकार अस्तेय अर्थशक्ति की पद्धति का नियमन करता है, अपरिग्रह प्राप्त करने योग्य धन के परिमाण का नियमन करता है। आचार्य विनोबा के शब्दो मे "शरीर-परिश्रम से जो उत्पन्न होगा, उसी का उपयोग करेंगे, ऐसा नियमन हम मानते है तो अपरिग्रह की बहुत सी सिद्धि हो जाती है, क्योकि शरीर-परिश्रम से इतना अत्यधिक पैदा हो ही नही सकता कि उसमें से मनुष्य ढेर सग्रह कर सके।" लेकिन फिर भी अस्तेय के साथ अपरिग्रह के अलग नियमन की जरूरत रह जाती है। यद्यपि शरीर-परिश्रम से अत्यधिक पैदा नही हो सकता, तथापि अधिक पैदा हो सकता है। और अगर उसका भी उपयोग दूसरों को दिये बगैर किया जाता है तो खतरा पूरा नही टलता। बचपन से हमने अनेक का उपकार ले लिया है। उसकी निष्कृति के लिए शरीर-परिश्रम के मान्य तरीके से भी जो हमने कमाया हो, उसका हिस्सा समाज को देना लाजमी हो जाता है। उसमे सम्यक् विभाजन का उद्देश्य होता है। इसलिए वह दान का स्वरूप है, यद्यपि यह ऋण-मुक्ति का प्रकार है।

समाज में चोरी और भिक्षा-वृत्ति को मिटाने के लिए अपरिग्रह की आवश्यकता

जब समाज में कुछ आदमी बहुत अधिक संग्रह करेंगे तो दूसरों को उनकी आवश्यकता के लिए भी काफी न मिलेगा। कही-कहीं ऊँचे टीले बनाये जायेंगे तो दूसरे स्थानो मे गहरे गड्ढे रहने वाले ठहरे। जिन लोगों को शरीर-यात्रा के लिए खाना-कपड़ा नही मिलेगा, वे चोरी करेंगे या भीख मागेंगे। अगर हम

जायेगा। बैंकों आदि में या किसी व्यक्ति विशेप के पास इनको वडे परिमाण मे रखा ही नही जायेगा। जुदा-जुदा घरों में भी इनके रखने की ऐसी वात न होगी। अपवाद-रूप, कुछ विशेप अवसरो पर काम मे लाने के लिए ये वहुत परिमित रूप में ही रखे जा सकेंगे। इनका अधिक संचय चोरी के माल की तरह अप्रतिष्ठाजनक समझा जायगा।

इस प्रकार जब समाज में अपरिग्रह होगा, तो उसका व्यावहारिक रूप यह होगा कि सम्पत्ति खास-खास व्यक्तियो के पास वहुत अधिक--उनकी आवश्यकता से कही अधिक न होकर, वह घर-घर में बंटी रहेगी, जिससे वह सव के काम आये, कोई उसके उपयोग से वंचित न रहे। जैसे रक्त या खून शरीर के सव अगों में समान रूप से होने से शरीर शक्तिमान होता है; और एक अग में वहुत अधिक और दूसरे अगो में वहुत कम होने से शरीर सुडोल नहीं होता और ठीक काम नही करता, इसी प्रकार समाज के प्रत्येक व्यक्ति के पास जीवन के लिए आवश्यक साधन-सम्पत्ति होने से समाज-रूपी शरीर शक्तिमान और सुखी होगा।

कुछ बुनियादी मान्यताएँ

अपरिग्रही समाज के मनुष्य के लिए कुछ मान्यताएँ जरूरी है। उदाहरण के लिए उसके व्यक्तियो को मानना चाहिए कि—

१. परमात्मा हम सब का परम पिता है। हम सब उसकी सतान हैं। इसलिए ससार मे सब मनुष्यो मे भाईचारे की भावना होनी चाहिए।

२. किसी भी प्रकार की सम्पत्ति हो, वह प्रकृति—भूमि, जल, वायु, आकाश और प्रकाश से मिलती है या उसकी सहायता से वनती है। पृथ्वी हम सवकी माता है। उससे या उसकी सहायता से प्राप्त सब सम्पत्ति पर सब का समान अधिकार है। इसलिए जैसे जल, वायु, आकाश और प्रकाश का सवको आवश्यकतानुसार उपयोग करने का अधिकार है, इसी तरह भूमि भी सवको उनकी आवश्यकता के अनुपात से सुलभ होनी चाहिए।

३. सम्पत्ति का उत्पादन समाज की सहायता विना नही हो सकता, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति सम्पत्ति का उपयोग अपनी आवश्यकता के अनुसार ही करे उससे अधिक अपने पास रखकर दूसरों को उसके उपयोग से वंचित न करे। समाज हित की दृष्टि से ही आदमी को किसी सम्पत्ति का उपयोग करना चाहिए।

४. सम्पत्ति सव घर-घर वटी हुई हो। निकम्मी चीजो का सग्रह तो विल्कुल ही न किया जाना चाहिए। अच्छी उपयोगी चीजों के सग्रह मे ऐसा क्रम

रहे कि जो चीज जितनी कम उपयोग मे आये, उतनी ही कम सग्रह की जाय। पैसे का संग्रह बहुत ही कम, कुछ विशेष दशाओ में उपयोग के लिए हो। सम्पत्ति के लिए शरीर-श्रम किया जाय, जीवन श्रम-प्रधान हो।

अपरिग्रह केवल साधु-सन्यासियों के लिए नही, "समाजाय इदम्"

अपरिग्रह की बात कुछ नयी नही है। बहुत पुराने समय से विचारको द्वारा इसका आदर्श उपस्थित है। परन्तु अहिंसा, सत्य आदि अन्य गुणो की भाँति यह अभी तक व्यक्तिगत प्रयोग के लिए माना गया है। गाँधीजी ने विविध जीवन-सिद्धान्तो का सामाजिक क्षेत्र मे, सामूहिक पैमाने पर उपयोग किया। किन्तु अब भी अधिकतर आदमी इन्हे साधु-सन्यासियों के लिए ही ठीक मानते है। आवश्यकता है कि सभी आदमी—वे किसी भी क्षेत्र मे काम करने वाले हो—इन्हे अच्छी तरह अपनावे। श्री विनोबा ने कहा है—

'सामान्य लोग अपरिग्रह के विचार को इतना बडा मानते है कि वह तो गाँधीजी या विनोबा जैसे कुछ संन्यासियो के लिए ही हो सकता है, ऐसा उनका ख्याल है। समाज में व्यवस्था भी कुछ इस तरह की हुई कि अपरिग्रह कुछ खास लोगो के लिए सुरक्षित रखा गया। गृहस्थ ने उसे अपनी मर्यादा के बाहर माना, यद्यपि अन्तिम लक्ष्य के तौर पर उसने उससे इन्कार नही किया, परन्तु सन्यासियों और फकीरो के आदर्श को अपना अन्तिम लक्ष्य मानकर भी उसने अपने जीवन की रचना परिग्रह के आधार पर ही रखी।

"लेकिन जब आप एक धर्म-विचार के ही ऐसे टुकडे कर देते है कि वह कुछ खास लोगो के लिए सुरक्षित है, तब उससे समाज का कल्याण नही हो सकता। और ऐसा हुआ भी। गृहस्थ-जीवन मे परिग्रह को स्थान देने से कुछ भलाई तो हुई, परन्तु कुछ लोगो ने परिग्रह को अपना हक मान लिया और जब कुछ लोगो ने परिग्रह को लाजमी माना तो धर्म-विचारको ने भी लोभी लोगो के मुकाबले के लिए उसे जायज माना। देखते-देखते निर्लोभी भी लोभी बन गये।

परिग्रह और अपरिग्रह के बीच इस तरह की दीवार खडी हो गयी और जो ज्यादा परिग्रही बने, जिन्होने परिग्रह की कोई मर्यादा ही नही मानी, वे दुनिया के सिर पर सवार हो गये।"

इन सबसे मुक्ति दिलाने का मार्ग बताते हुए विनोबा जी ने कहा—"जिस तरह यज्ञ मे आहुति देते समय हम कहते है कि "इन्द्राय इदम् न मम, वरुणाय इदम् न मम" (यह इन्द्र के लिए है, मेरा नही है, यह वरुण के लिए है, मेरा नही है), उसी तरह आज हम जो भी उत्पादन करे, चाहे वह खेती मे करते हो या फैक्ट्री मे, हमें मानना चाहिए कि वह "समाजाय इदम् न मम, राष्ट्राय इदम् न मम" है। (यह समाज के लिए है, मेरा नही है, यह राष्ट्र के लिए है, मेरा नही

है) । हर आदमी अपने मन से कहेगा कि तू तो समाज में एक नौकर के रूप मे काम करेगा और समाज तुझे जो देगा, उसे तू स्वीकार करेगा । हरेक के दिल मे यह भावना होनी चाहिए कि जो सम्पत्ति मेरे पास है, जो खेती मेरे पास है, जो अक्ल मेरे पास है, जो परिवार मेरा है, वह सब समाज के लिए है । अगर हमे वैभव बढ़ाना है, सम्पत्ति और लक्ष्मी बढानी है, तो वह सब समाज की वढानी है । समाज-रूपी नारायण की लक्ष्मी होगी । हम तो उस नारायण के केवल सेवक मात्र है ।"

अपरिग्रह पर आधारित समाज-रचना

विनोबाजी कहते हैं—"हमें तो अपरिग्रह के आधार पर समाज निर्माण करना है । अपरिग्रह का अर्थ यह नही कि शंकर की तरह भभूत लगाकर वैठ जाना । भभूत तो लगानी है, पर कुबेर को भी हाथ में रखना है । यह कुवेर घर-घर मे होगा और इस तरह समाज में सबके लिए सम्पत्ति होगी । आज भविष्य की चिन्ता सबको करनी पड़ती है, लेकिन फिर चिन्ता भविष्य की तो क्या, शाम की भी नही करनी होगी, क्योंकि सबको सब चीजे सदा के लिए उपलब्ध हो सकेंगी । और अगर जवानी में हम अपरिग्रह की साधना करते हैं तो वृद्धावस्था मे समाज को हम भार-भूत नही बनेंगे । ऐसे अपरिग्रही सेवकों की बुद्धि का वृद्धावस्था तक अत्यन्त विकास हुआ होगा ।"

□ □ □

धन और धर्म

अपने मन, मस्तिष्क और हृदय मे निश्चित धारणा वना लीजिये कि धन कभी तारने वाला नही है, धर्म ही तारने वाला है । यदि आप लक्ष्मी के दास न वनकर लक्ष्मी के पति वन गये तो लक्ष्मी आपके चरण चूमती रहेगी ।

□ आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा.

४२

अपरिग्रह की दो दृष्टियाँ

□ श्री जवाहरलाल जैन

दुनिया की सभी धर्म-परम्पराओं ने अपरिग्रह, असंग्रह, सादगी और स्वैच्छिक गरीबी को आध्यात्मिक उन्नति के लिए अनिवार्यतः आवश्यक माना है। जैन तथा योग परम्परा मे अपरिग्रह या असंग्रह को पांच महाव्रतों में मान्य किया गया है। ईसा मसीह ने स्वैच्छिक गरीबी को ईश्वरीय राज्य की आवश्यक शर्त माना है। उन्होने कहा कि गरीबों को ही विश्व का उत्तराधिकार मिलेगा। परिग्रह की निन्दा मे उन्होने यहाँ तक कहा कि सुई के छेद में से ऊंट का निकलना सभव भी हो सकता है, पर धनी का प्रवेश स्वर्ग मे हो जाना बिल्कुल असम्भव है। इस्लाम धर्म में भी संयम, गुरवत और फकीरी की सराहना की गई है।

पर जैन परम्परा में परिग्रह और अपरिग्रह का विश्लेषण और विस्तार जितना किया गया है, उतना अन्य किसी परम्परा में नही मिलता। वस्तुओं के ममत्वमूलक सग्रह को परिग्रह कहा गया है। ममत्वमूलकता का ही दूसरा नाम आसक्ति है। आसक्ति से परिग्रह वढता है और परिग्रह से आसक्ति बढ़ती है। जितनी आसक्ति वढती है उतनी ही हिसा वढ़ती है तथा समाज मे विषमता को वढावा मिलता है।

परिग्रह नौ प्रकार के माने गये हैं:—(१) क्षेत्र, (२) वस्तुए, (३) हिरण्य, (४) सुवर्ण, (५) धन, (६) धान्य, (७) द्विपद, (८) चतुष्पद, (९) कुप्य। श्रमण के लिए सव प्रकार का परिग्रह अनुचित माना गया है। वह स्वय कोई संग्रह करता नही, दूसरों से कराता नही तथा करने वालों का समर्थन करता नही। श्रमण पूर्णतया अनासक्त और अकिंचन रहता है। अपरिग्रह व्रत की पूर्णता के लिए पांचों इन्द्रियो के विषयों—रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श के प्रति पूर्ण अनासक्ति का भाव आवश्यक माना गया है। इस ममत्व अथवा आसक्ति को ही हृदय-ग्रन्थि कहा गया है। जो इस ग्रन्थि को छेदता है, वही निर्ग्रन्थ कहलाता है। इस ग्रन्थि के छेदन के कारण ही महावीर सम्भवतः "निगण्ठ" कहलाये।

गृहस्थ साधक के लिए पूर्ण अपरिग्रह सम्भव नही है इसलिए उसके लिए अपरिग्रह के वजाय 'परिग्रह परिमाण' को अणुव्रत के रूप में मान्य किया गया। इसके अन्तर्गत उपर्युक्त नौ प्रकार के परिग्रह के सबंध में गृहस्थ अपने

आवश्यक वस्तुओं की मर्यादा निश्चित कर शेष समस्त वस्तुओं के ग्रहण एवं सग्रह का त्याग कर देता है अर्थात् उन पर उसकी कोई आसक्ति नही रहती। इस अपरिग्रह व्रत के पाच अतिचार भी बतलाये गये है जिनसे आडे-टेढे चलकर उस सीमा के अतिक्रमण को रोका जा सके। दूसरी ओर तीन गुणव्रतों के द्वारा इस व्रत की रक्षा तथा विकास का भी प्रयत्न किया गया है। वे है :—(१) दिशा परिमाण व्रत, (२) उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत, (३) अनर्थ दण्ड विरमण व्रत। फिर इन गुण व्रतो के अतिचारो का विश्लेषण कर इनकी अनुपालना को दृढ़ करने का प्रयत्न किया गया है।

सारी दुनिया मे विचारकों के सामने यह सवाल है कि समाज मे लोग गरीब-अमीर, दु खी-सुखी, रोगी-स्वस्थ क्यों है और सत्कर्म करने वाले भी दु खी और अभावग्रस्त देखे जाते है और अत्याचारी-अनाचारी भी सुखी और समृद्ध दिखाई देते है, इस विचित्रता और विषमता के क्या कारण है ? इसका जवाब कुछ धर्मो ने ईश्वर को स्थापित करके दिया कि ईश्वर की मर्जी के खिलाफ एक पत्ता भी नही हिल सकता, इसलिए जो कुछ होता है उसकी मर्जी से, उसके आदेश से होता है अतः दु.ख, हीनता, रोग आदि से बचना है तो वह ईश्वर की भक्ति से, उसकी दया से ही सभव है। अनीश्वरवादियों ने भलाई-बुराई को अच्छे-बुरे कर्मो का परिणाम माना, पर उसकी विचित्रता और विषमता के समाधान के लिए उन्हे पुनर्जन्म मानना पडा ताकि विषमता का जवाब पिछले जन्मों के नाम पर दिया जा सके। अनेक ईश्वरवादी धर्मो ने भी पुनर्जन्म तथा कर्मवाद स्वीकार किया।

इस विषमता और सासारिक द्वन्द्व का आर्थिक समाधान मार्क्स और यूरोप के ईसाई समाजवादियो ने भी सोचा। उन्होने पाया कि सारे विश्व मे प्राकृतिक साधनों के विषम वितरण और निजी सम्पत्ति के विचार और उत्तराधिकार की पद्धति के कारण लोगों के पास सपत्ति का विषम एकीकरण हुआ। प्राकृतिक साधनो मे धरती, खेत और गाव, कस्बे और नगर तथा खाने सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। जल सबधी साधनो—नदी-नालो तथा समुद्र का भी इसमे भाग रहा। इन साधनों से प्राप्त उपज और उससे तैयार माल विषमता-मूलक मालिकी के कारण विषमता को बढाने वाले अर्थात् गरीब को अधिक गरीब और मालदार को अधिक धनी बनाने वाले होते गये। उत्तराधिकार के नियम के कारण मालदार बाप का बेटा बिना परिश्रम के मालदार होता गया। फिर व्याज, किराया, मुनाफा, विजय और दान भी मालदार की मालदारी को बढाते गये। गरीब को गरीबी और कर्म ही उत्तराधिकार मे मिला और मालदार को जमीन, जायदाद, खेत, पशु और नकद धन मिला, जिनकी कीमते अपने आप बिना मेहनत के लगातार बढती गई तथा उनको बढाने वाली मेहनत पर भी उसका अधिकार बढ़ता गया। मार्क्स का कथन है कि सारी निजी पूंजी चोरी

है—इसमे मेहनतकश की मेहनत से पूंजीपति के मालदार बनने की करुण कहानी छिपी है, यद्यपि इसमें सत्य का एक अंश ही है, क्योंकि सामाजिक व्यवस्था, मान्यता और कानून इस विषमता, शोषण और अन्याय के लिए जिम्मेदार हैं। सत्ता और सम्पत्ति के शोषकों के हाथ में केन्द्रित हो जाने के कारण यह सभव हुआ है। सत्ता के विकेन्द्रीकरण, सम्पत्ति के समाजीकरण और व्यक्ति के अज्ञान को हटाने तथा उसके तप को अधिक तेजस्वी बनाने से ही समतापूर्ण, सहयोगी तथा उन्नतिशील समाज बन सकता है और मरने के बाद मिलने वाला कल्पित स्वर्ग और मोक्ष मानव को इसी जीवन में साकार हो सकता है।

शोषण करने वालो को सम्पत्तिविहीन कर देना चाहिए। इसे मार्क्स और उनके सहचिन्तकों ने क्रान्ति माना। रूस मे लेनिन ने और चीन में माओ ने तलवार के जोर से व्यक्तिगत परिग्रह को समाप्त करने का प्रयत्न किया। पर वह स्वैच्छिक अपरिग्रह नही था इसलिए लोगों के मन में से परिग्रह की मूर्च्छा समाप्त नही हुई और वे मुक्त जीवन की ओर अग्रसर नही हो सके। वे पूर्व की भाति ही हिंसा, संघर्ष, प्रतिस्पर्धा और भोग में लिप्त रहे। टालस्टाय, हैनरीजार्ज, गाधी और विनोवा ने सत्ताधारियों, सामन्तों, पूंजीपतियों, औद्योगिकों और व्यापारियो द्वारा किये जा रहे शोषण को समझा और निजी संपत्ति-परिग्रह की मूर्च्छा और उसके अनौचित्य को भी समझा पर उस अपरिग्रह की प्राप्ति हिंसा और जोर-जबर्दस्ती से करने के बजाय प्रेम से, समझाने-बुझाने और अन्त मे लोकतान्त्रिक कानून से करने का उपाय सुझाया। उन्होंने कहा कि सारी निजी सम्पत्ति परिग्रह, पाप है, शोषण है, क्योकि प्रकृति के सारे साधन ईश्वर के है, समाज के है। इसलिए धरती और प्राकृतिक साधन मनुष्यों के अधिकार में रहने ही नही चाहिये। विनोवा ने ग्रामदान के द्वारा सारी भू सम्पत्ति पर से व्यक्ति का अधिकार समाप्त कर दिया और उस पर समाज का अधिकार स्थापित कर दिया। उपयोग का अधिकार समाज की ओर से व्यक्ति पर रहा। इस प्रकार भूमि तथा प्राकृतिक साधनो पर से जिसका अधिकार समाप्त हो जाता है, उसकी मूर्च्छा भूमि सबधी परिग्रह से समाप्त हो जाती है।

गाधीजी ने ट्रस्टीशिप के विचार द्वारा यह समझाने की कोशिश की कि सामान्य जन के स्तर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक साधनों के अलावा सारी सम्पत्ति-सारा परिग्रह समाज का है, उसका है ही नहीं। वह उस अतिरिक्त सम्पत्ति का समाज के हित में ट्रस्टी मात्र है। ट्रस्टी के रूप में ही उसे इसका समाज के हित मे उपयोग करना चाहिये। गांधीजी ने कहा—"अपनी बुद्धि, कौशल और परिश्रम से मनुष्य चाहे जितना कमाये, पर उस कमाई मे उसका कोई हिस्सा नही है, उसमें उसकी कोई मूर्च्छा नहीं होगी, उसका मोह नही होगा। अपनी सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन मात्र

छोड़कर सारी सम्पत्ति समाज की हो जायेगी और समाज के हित में व्यय होगी। इस प्रकार प्रत्येक क्रम मे एक ग्राम ट्रस्ट होगा, जिसमें सारी भू-सम्पत्ति निहित होगी और पारिवारिक आवश्यकताओ की पूर्ति के अतिरिक्त सारी कमाई ट्रस्ट मे जमा होती रहेगी। व्यक्ति और परिवार निजी उपभोग के लायक सीमित परिग्रह ही रखेंगे और बाकी सारा परिग्रह समाज के हित मे अर्पित रहेगा। व्यवस्था इस ट्रस्ट की ग्राम सभा तथा उसके द्वारा निर्वाचित ट्रस्ट प्रबन्ध समिति द्वारा होगी और उसके सचालन मे सारे परिवारों के मुखिया शामिल होगे। वे यथेष्ट कमाई करेगे, पर सारी अतिरिक्त कमाई ट्रस्ट को सौंप देंगे और स्वय लगभग अपरिग्रही संन्यासी की तरह रहेगे। परिवार के सारे सदस्य भी न्यूनतम परिग्रह से अपना जीवन-यापन करेगे। उनकी परिग्रह की मूर्च्छा समाप्त हो जायेगी और वे समाज सेवा के श्रम तथा तप के द्वारा श्रमण तथा तपस्वी बनेंगे। हिंसा और असत्य से वे मुक्त होगे और उनका जीवन सात्विक संतोष और आनन्द से परिपूर्ण हो जायेगा।"

□□□
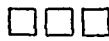
वस्तु का उपयोग

एक बार पं. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के यहाँ खुदीराम बोस नाम के एक सज्जन पधारे। विद्यासागर ने उन्हे नारंगियाँ खाने को दी! खुदीरामजी नारंगियो को छीलकर उसकी फाँके चूस-चूसकर फैंकने लगे। यह देखकर विद्यासागर बोले—"देखो भाई! इन्हे फैंको मत, ये भी किसी के काम आ जायेंगी!"

खुदीराम बोले—"इन्हे आप किसे देंगे?"

विद्यासागर ने हँस कर कहा—"इन्हे आप खिड़की के बाहर रख दे और वहाँ से हट जाये तो अभी पता लग जाएगा।"

खिड़की के बाहर उन चूसी हुई फाँकों को रखने पर कुछ कौए उन्हे लेने आ गये।

अब विद्यासागर ने कहा—"देखो! भाई, जब तक कोई पदार्थ किसी भी प्राणी के काम मे आने योग्य है, तब तक उसे व्यर्थ नही फैंकना चाहिए। उसे इस प्रकार रखना चाहिये कि धूल-मिट्टी लगकर वह नष्ट न हो जाये और अन्य प्राणी उसका उपयोग कर सकें।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने दीन-दु.खियो की सेवा करने के लिये अपना सर्वस्व दान कर दिया था। हर प्राणी की सेवा करना वे अपना कर्तव्य समझते थे।

□ श्याम मनोहर व्यास

४३

अपरिग्रह : सुखी समाज का आधार

□ श्री रणजीतसिंह कूमट

वच्चे ने जन्म लिया नही कि रोना शुरू कर दिया । क्या चाहिये ? भूख लगी है—दूध चाहिये । माँ ने छाती से लगाया, दूध मिला और चुप । कुछ घडी वाद फिर भूख लगी, फिर रोया और फिर दूध मिलने पर चुप । कितनी सीधी सादी माँग है और कितना सरल उपाय है । पर आदमी का बच्चा रोता ही जन्मा है और जीवन पर्यन्त ही रोता है । मरते वक्त भी उसका रोना नही छूटता । विरले ही होते है जो इस रोने के क्रम से छूट पाते है ।

वचपन का रोना तो सब समझते है । दया भी आती है । परन्तु जन्म भर यह आदमी क्यो रोता है ? जब तक मृत्यु नही आती । कभी वस्तु की चाह के लिये रोता है तो कभी चाही वस्तु के वियोग के लिये रोता है । कभी नही चाहने वाली वस्तु के मिलन से रोता है । कुछ न कुछ वस्तु उसे चाहिये । इसी चाह की पूर्ति की उधेडबुन में वह जीवन भर रोता रहता है ।

अब यह रोना केवल भूख-प्यास या कपड़ा-मकान का हो तो भी कोई वात है । अब तो चाह और कई गुना बढ जाती है । विकराल रूप भी लेती जा रही है । कोई अन्त नही है । धन चाहे करोडो मे हो जावे परन्तु अभी चाह पूरी नही हुई । नौकर, चाकर, धन-धान्य, हीरा, जवाहरात सब हाजिर है । हुकूमत व सल्तनत भी हाजिर है । वांदियाँ, गुलाम और हूर की परियाँ भी हाजिर है । परन्तु इन सवके वाद भी क्या रोना बन्द हो गया ? अभी तो बहुत बाकी है । वस चाह का अन्त नही है ।

अब चाह को पूरी करने मे जुटा है । झूठ, चोरी, कपट, हिसा इन सबका उपयोग चाह को पूरी करने के लिए ही करता है । जब धन, जन, जमीन प्राप्त करने ही है तो सब ही उपाय आवश्यक है, औचित्य की कसौटी की कोई आवश्यकता नही । हिसा, चोरी और झूठ की जब सहायता ली जाती है तो किसी अन्य का हक छीना ही जावेगा, हत्या की ही जावेगी और अपने सुख के लिए किसी और का चैन समाप्त किया जावेगा । होड यही होगी कि कौन संग्रह मे अधिक कुशल और ताकतवर है और दूसरो से बटोर कर स्वय के खजाने में भरती कर सकता है । सग्रह की हविस मे प्रियजन की हत्या, कपट के विभिन्न उपाय, चोरी, डकैती या अन्य कई जघन्य कृत्यो से इतिहास भरा पड़ा है और

आज भी यही क्रम चल रहा है। संग्रह की प्रवृत्ति एक बार चल पडी तो उस प्रवृत्ति के पोषण के लिए सव कर्म होते है जो वर्जित है। सग्रह संघर्ष की जड है जो न केवल दूसरों का सुख चैन छीनता है स्वय को भी अशान्त करता है। यही है परिग्रह जिसके त्याग के लिए महावीर ने आवाज उठाई और कहा—'परिग्रह पाप का मूल है और इसके त्याग से ही धर्म है।'

सग्रह या परिग्रह पर आघात अन्य कई महात्मा व पैगम्वरों ने भी किया है। ईसा मसीह ने कहा 'सुई की नोक से ऊँट का निकलना सम्भव है परन्तु स्वर्ग के द्वार से धनी आदमी का निकलना सम्भव नही है।' मोहम्मद साहव ने अपने धन का चालीसवाँ हिस्सा हर वर्ष जकात के रूप मे देने का फरमान किया।

सग्रह या परिग्रह का सामाजिक व आर्थिक विश्लेषण जितना मार्मिक व यथार्थ ढग से मार्क्स ने किया, उतना किसी अन्य दार्शनिक ने नही किया। मार्क्स ने सारे इतिहास और विश्व के क्रियाकलापो का आर्थिक दृष्टिकोण से विश्लेषण कर एक नया अर्थ दिया और वताया कि हम सव जो भी कार्य करते है या नीति की घोषणा करते है अपने निहित स्वार्थो के हितो की रक्षा के लिये करते है। राज्य जिसे हम अपने जीवन का आवश्यक अंग मानते है, वह भी निहित स्वार्थो के हितो के लिये वनी संस्था है। धर्म और इसके उपदेश भी पैसे वालो के व शक्तिशाली वर्गो की रक्षा के लिए वने है और गरीवो के लिए अफीम का कार्य करते है जिससे गरीब धर्म के नशे मे रहे और विद्रोह न करे।

सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को हम प्राकृतिक देन मानकर चलते है और समाज में जाति, वर्ग और विषमता को कर्मो का फल वताते है। परन्तु मार्क्स इस वात से सहमत नही है। प्रारम्भ में कुछ ऐसे सिद्धान्त चले थे कि राज्य करने के लिये भगवान ही किसी को राजा के रूप में जन्म देता है और वही राज्य करने के लिए अधिकृत होता है। इन सिद्धान्तो से यही सिद्ध किया जाता था कि राज्य का राजा भगवान द्वारा निर्धारित है और उसकी आज्ञा का पालन करना जनता का कर्तव्य है। इस मान्यता के आधार पर राजा का प्राकृतिक साधनों को अपनी इच्छानुसार वाँटने व उपयोग करने का एकाधिकार मिला, कुछ लोग जो राजा के नजदीक थे, वे सभी सुविधाओ का उपयोग करते थे और शेप जनता उनकी सेवा या गुलामी करती थी। राजा के निर्देशन मे शोपण होता था और उसका औचित्य दार्शनिक देते थे कि यह भगवान के फरमान के अनुरूप है।

धीरे-धीरे अर्थ व्यवस्था वदली। कृपि का स्थान उद्योग ने लिया और पूँजीपति ने राजा का स्थान लिया। अव जिसके पास उत्पादन के साधन अधिक होंगे वही और अधिक उत्पादन कर सकेगा, मजदूरो को रोजगार दे सकेगा और उन पर आर्थिक व सामाजिक नियन्त्रण कर सकेगा। पूँजीपति मजदूरों का

शोषण करता है और अब अर्थव्यवस्था व राज्य का नियन्त्रण पूँजीपति करते हैं। राज्य का नया रूप बनता है। राजा का स्थान चुनी हुई ससद लेती है और चुने वे ही जाते है जिनको पूँजीपति का अनुमोदन है। यह सरकार अब पूँजीपतियो के इशारे पर चलती है और ऐसे नियम और कानून बनाती है जिससे पूँजीपति का पोषण हो, उसके हितो की सुरक्षा हो और उसे शोपण की पूरी छूट हो। कहने को यह राज्य प्रजातन्त्र है परन्तु यह ऊपरी दिखावा है। वास्तव मे नियन्त्रण उसी का है जो पूँजीपति या सरमायेदार है। जब तक उत्पादन के साधनो का नियन्त्रण कुछ हाथो मे है वे शेष जनता का शोपण करते ही रहेगे। यही वर्ग-सघर्ष की जड है। इससे समाज मे सघर्ष और विद्रोह पनपता है।

जब राज्य अपने हाथ मे है, कानून अपना पक्ष करता है और थोडी-सी मेहनत करने से संग्रह की चक्की आसानी से चल जाती है तो कौन मूर्ख होगा जो इस संग्रह की दौड मे भाग नही लेगा ? जन्म से ही देखेगा कि यह जीवन सग्रह की दौड है और जो जितना इस व्यवस्था को तोड-मरोड़ कर फायदा उठाता है, वह उतना ही धनी और इज्जत वाला बनता है। जिसको जरा भी मौका मिलता है वह मध्य वर्ग से उच्च मध्य वर्ग की ओर दौड लगाता है और उच्च मध्यवर्ग से उच्चतम वर्ग की ओर दौड लगाता है। जिसके पास कोई साधन नही है, वह मजदूरी करना ही अपना भाग्य समझता है। यही उसका धर्म है। जीवन भर जूझता रहता है दो जून की रोटी के लिये। समझ में उसके आता नही कि किस प्रकार वह अपना स्तर सुधारे। दार्शनिक और धर्म के नेता जब उसे यह उपदेश देते है कि जो कुछ आज हो रहा है, वह पूर्व सचित कर्मो का फल है तो अपनी गरीबी को पूर्व जन्म का फल मानकर संतोष कर लेता है। उसके मन मे यदि कभी धनी व्यक्ति पर रोप भी आया तो धर्म की वाणी सुन कर शान्त हो गया। धर्म उसका यही रहा कि ईमानदारी से काम करे और जीवनभर मेहनत करे अपने वर्तमान जीवन को पूर्व कुकर्मो का फल समझ कर। यदि अच्छा धनी, चक्रवर्ती जैसा जीवन प्राप्त करना है तो इस जन्म मे अच्छे कर्म करे जिससे अगला जन्म सुधरे। यदि यह धर्म की अफीम मिल गई कि अगला जन्म सुधारना है और उसके लिए इस जीवन मे ईमानदारी व सतोष से रहना है तो फिर धनी वर्ग चैन से रह सकता है क्योकि निर्धन वर्ग तो अपने वर्तमान को अपना भाग्य मानकर सतोष कर रहा है। सतोष उसका सबसे बडा धन है और वह धन धनी लोगो के करोडो रुपयो से भी बड़ा है। दोनो वर्ग भाग्यशाली रहे—धनी वर्ग चैन से सो रहा है कि कोई विद्रोह करने वाला नही और उनकी आत्मा को भी संक्लेश नही क्योकि जो धन उनके पास है वह पूर्व कर्मो के फल से है और उसकी मान्यता है कि यदि गरीब दु खी है तो उसके पूर्व जन्म के कुकर्मो से। दूसरी ओर गरीब वर्ग सुखी है कि उन्होंने अगले जन्म की बुकिंग करा ली है और ईमानदारी से व सन्तोष से रह रहे है और सन्तोष रूपी धन सर्वश्रेष्ठ धन है।

धर्म की इस अफीम के बावजूद भी यदि कुछ सिरफिरे ऐसे मिले कि जो इस शोषण की प्रक्रिया को जान गये और वर्ग को भड़का कर आवाज उठाने की कोशिश करें तो राज्य के कानून और व्यवस्था ऐसी है जो उनको हमेशा दबाती रहेगी। कभी विद्रोह की आग को भड़कने ही नही देगी। इसके बावजूद भी कभी आग भड़की तो धनी वर्ग के पाले गुण्डे और लठैत उनको दबा देंगे और कानून उन गुंडों को कुछ नही कहेगा क्योंकि साजिश हो गई है। मुट्ठी गरम हो गई है। रिश्वत ने वह सब काम कर दिया जो अब तक कानून नही कर पा रहा था। कानून का अर्थ निकालने और कानून को लागू करने वाले को रिश्वत के माध्यम से अपनी तरफ कर लिया और अब जो गरीब वर्ग को दबाने की प्रक्रिया में समाज सुधारक कानून भी बाधक बने थे, उनको निष्प्रभावित कर दिया।

मार्क्स का मानना है कि यह सब व्यवस्था, कानून, धर्म और अनेकानेक संस्थाएँ जैसे अखबार, वकील, न्याय, सब धनी व प्रभावशाली वर्ग का समर्थन करने के लिए हैं। अतः इसका एकमात्र उपाय है कि संग्रह पर रोक लगाओ और कोई व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक रखे ही नहीं। सब अपनी क्षमता के अनुसार समाज को दे और आवश्यकतानुसार लें। यह समाजवाद का आदर्शवादी सिद्धान्त मार्क्स ने द्रष्टा के रूप में देखा, प्रतिपादित किया और कल्पना की कि एक ऐसे समाज का निर्माण होगा जिसमें न शोषक होगा न शोषित और तब किसी राज्य या सरकार की भी आवश्यकता न होगी। सब आदर्शवादी ढंग से रहेंगे और जब संग्रह किसी एक व्यक्ति या वर्ग के पास होगा ही नहीं तो सघर्ष भी नही होगा। यह आदर्श समाज के स्वरूप की चरम सीमा होगी।

कल्पना आदशवादी थी और वास्तव में एक ऐसा आदर्श जहाँ सब भौतिक व मानसिक रूप से सुखी रह सकते है। परन्तु ऐसे समाज की स्थापना का जो मार्ग सोचा या बताया, वह कभी भी उस आदर्श तक नही पहुँचा सकता। इस ओर उसने कभी ध्यान नही दिया। उसने सोचा था कि पूँजीवादियों और श्रमिकों के बीच संघर्ष होगा और एक दिन सगठित श्रमिक जीतेंगे व समाज के सारे उत्पादन के साधन समाज के अधीन कर लेगे। जिस समाज का जन्म सघर्ष के मार्ग से होगा वहाँ से संघर्ष समाप्त कैसे हो सकता है ? सघर्ष पुनः संघर्ष को ही जन्म देगा चाहे उसका रूप पलट जावे। यही हुआ। सोवियत सघ व चीन ने संघर्ष से समाजवाद स्थापित किया, जबरदस्ती थोपा और लाखो व्यक्ति मौत के घाट उतारे गये। आज भी सत्ता दल व अन्य वर्गों के मध्य संघर्ष है और नित प्रति झगड़े इसी बात के होते है कि कौन सत्ता को हथियाये ? मूल मे प्रवृत्ति सत्ता व संग्रह की है और केवल जन साधारण पर समाजवाद थोपा हुआ है। वे भी जब मौका लगता है अपनी सग्रह प्रवृत्ति को जाहिर करते है।

महावीर, गांधी और मार्क्स के आदर्श मे कोई अन्तर नही है। तीनों का आदर्श है कि समाज को हम क्षमता के अनुसार दे और अपनी आवश्यकता के अनुसार ले। संग्रह न करे वल्कि अपनी योग्यता या धन का लाभ दूसरो को दे। परन्तु मार्क्स आदर्श स्थापित करने के वाद आदर्श को प्राप्त करने के तरीके पर ध्यान नही देता जवकि महावीर और गांधी तरीके पर ही नही समाज के प्रमुख अग 'मानव' और उसके मनोविज्ञान पर ध्यान देते है। जव तक मानव स्वय नही वदलेगा, ऊपर से थोपा हुआ तन्त्र अस्थायी रहेगा। मानव की प्रवृत्ति को वदले विना स्थायी समाज का प्रादुर्भाव नही हो सकता।

भगवान महावीर ने अपरिग्रह को इसीलिए अत्यधिक महत्त्व दिया और अपनी आवश्यकताओ को सीमित कर परिग्रह पर सीमा लगाने का उपदेश दिया। साधु के लिये तो पूर्ण अपरिग्रह का उपदेश दिया परन्तु गृहस्थ के लिये भी सीमित अपरिग्रह का। महावीर ने इस वात पर जोर नही दिया कि सीमा कितनी हो पर इस वात पर जोर दिया कि सीमा अवश्य वाधे। सीमा के उपरान्त जो भी आवे, वह समाज को अर्पण करे।

यह कितना मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है। यदि भगवान महावीर अमुक सीमा वाधते तो आने वाले शिष्य या अनुयायी उस सीमा के औचित्य पर विवाद करते। परन्तु सीमा जव स्वय अपनी इच्छा से गृहस्थ वाध रहा है तो विवाद कैसा ? जोर इस वात पर नही है कि सीमा कितनी हो, जोर इस वात पर है कि सीमा अवश्य हो। आवश्यकता है मनोवृत्ति मे परिवर्तन की। व्यक्ति की इच्छा अनन्त है और इच्छा पूर्ण करने की सीमा नही। परन्तु महावीर ने कहा—इस इच्छा पर ही सीमा लगाओ और चाहे वह सीमा काफी दूर है इसकी परवाह न करो, परन्तु सीमा अवश्य लगाओ। एक वार सीमा लगी कि प्रवृत्ति में मोड़ आयेगा, मनोवृत्ति सग्रह की वदलेगी और इसका उपयोग समाज के लिए होने लगेगा।

गाधीजी का ट्रस्टीशिप सिद्धान्त भी इसी पर आधारित है। जितनी आवश्यकता है उतना रखो व शेष को समाज का ट्रस्टी बनकर समाज के लिए उपयोग मे लाओ। ट्रस्टी होने के नाते सारे धन को अमानत मान कर रखो। यह भी मनोवैज्ञानिक रूप से धन के प्रति मूर्च्छा छुड़ाने मे सहायक है। मूर्च्छा ही तो परिग्रह है। जब धन को अमानत माना तो धन से मूर्च्छा हटेगी। जव तक धन अपना माना तव तक मूर्च्छा रहेगी। महावीर ने मूर्च्छा को ही परिग्रह की सज्ञा दी। परिग्रह छोड़ने के लिये द्रव्य मे सीमा करने का निर्देश दिया। जव सीमा का पालन करेगा, सीमा से अतिरिक्त धन का दान करेगा तो जो सीमा के भीतर धन है उस पर से भी मोह हटेगा। सीमा के भीतर का रुपया या वाहर दोनो पर छाप एक सी है अतः मोह तो दोनों से है परन्तु जव सीमा से वाहर का

रुपया दान दिया तो मोह का खंडन हुआ । एक वार मोह टूटा कि जैसे किला टूटता है वैसे मोह का विसर्जन होने लगता है । जब तक देने की वजाय लेने मे प्रवृत्ति है तब तक घोर परिग्रह में व्यक्ति घूमता है । परन्तु एक वार लेने के साथ देने लगता है तो उसका मोह खंडित होने लगता है और अन्त में लेना छूटता है और देने में प्रवृत्ति बनती है ।

अपरिग्रह एक व्यक्ति या एक वर्ग के व्यक्तियों द्वारा करने से समाज मे परिवर्तन नही आ सकता । यह सामूहिक आवश्यकता है । सव की प्रवृत्ति मे परिवर्तन आवश्यक है । यह प्रवृत्ति पहले राजा से चले और जन-जन तक पहुँचे तो सही समाजवादी समाज का निर्माण हो सकता है । राज्य में उच्चस्थ व्यक्ति चाहे वह मन्त्री हो या अधिकारी, सब इस नियम का पालन करे तो समाज की सग्रहवादी प्रवृत्ति वदल कर अपरिग्रहवादी हो सकती है । लेकिन उच्चस्थ व्यक्ति तो धन का संग्रह करें और जन-जन को अपरिग्रह का उपदेश दे तो समाज का अपरिग्रह के सिद्धान्त पर निर्माण असम्भव है ।

आज की आवश्यकता है समाज के नव-निर्माण की । अपरिग्रह के आधार पर समाज का निर्माण हो । आज जो होड लगी है संग्रह और व्यक्तिगत मौज-मस्ती की, उसे समाप्त कर धन सग्रह की प्रवृत्ति सीमित करने और आवश्यकताओं को सीमित करने पर वल देना होगा । तभी यह समाज सुखी समाज वन सकेगा, अन्यथा पश्चिमी देशो के सब दु.ख व बीमारियॉ हम अपने यहाँ आयात कर लेगे और तब भारतीय संस्कृति का तो नाश हो ही चुका होगा, हम सब अपने विनाश की भी तैयारी कर चुके होगे । भारतीय संस्कृति की रक्षा मे ही हम सब की रक्षा निहित है । इस सच का एकमात्र आधार है अपरिग्रह । हम सब धन का संग्रह का रोना बन्द करे और जो है उसका सदुपयोग कर, अपने साथी और समाज के अन्य व्यक्तियो पर ध्यान दे और सव समानता व सरसता का जीवन जीवे तो सुखी समाज का निर्माण कर सकते है ।

○ ○ ○

कोई दीन-दु:खिया जब किसी के द्वार पर भीख मॉगने आता है, तब प्राय: उसे डांट कर कहा जाता है—"चल हट यहाँ से, यहाँ क्या तेरे बाप की धरोहर धरी है ?" ऐसा कहने वाले लोगो से पवन भी कदाचित् यही कह दे तो कैसी वीते ?

☐ श्रीमद् जवाहराचार्य

४४ अपरिग्रह का आर्थिक स्वरूप

□ डॉ. सी. एस. बरला

भारतीय योजना आयोग का ऐसा अनुमान है कि १९८४ मे समूचे देश में २७.३ करोड व्यक्ति निर्धनता की रेखा से नीचे रह रहे थे। देश की जनसंख्या मे इनका अनुपात ३७ प्रतिशत से अधिक था। यदि यह मान लिया जाए कि देश की जनसख्या के अनुपात मे ही निर्धनता की रेखा से नीचे रहने वाले व्यक्तियों की सख्या में भी वृद्धि होगी तो अगले १५ वर्षो मे इनकी सख्या लगभग ३८ करोड तक पहुँच जाएगी।

वस्तुत: सरकार द्वारा जिस आधार पर निर्धनता की परिभाषा की गई है वह दोषपूर्ण है। भारत में सरकारी तौर पर निर्धन व्यक्ति उसे माना जाता है जिसे अपनी दैनिक खुराक में २,१०० कैलोरी से कम प्राप्त होता हो। परन्तु कपडा, आवास, मूलभूत शिक्षा आदि की आवश्यकताओ को इसमे सम्मिलित नही किया जाता। यदि इन्हे भी शामिल किया जाए तो निश्चित तौर पर देश की ५५ प्रतिशत जनसख्या निर्धनता की रेखा से नीचे मानी जा सकती है। प्रश्न है, निर्धनता की समस्या अथवा आर्थिक विपमता की उत्पत्ति क्यो होती है? वस्तुत. इसका प्रमुख कारण यह है कि भारत मे अनेक शताब्दियो से शोषण की जो प्रक्रिया चल रही है, उसने सम्पत्ति तथा आय-सृजन के स्रोतो का स्वामित्व कुछ हाथो मे केन्द्रित कर दिया। इसके फलस्वरूप निर्धन तथा सम्पन्न लोगो की आय का अन्तराल बढता गया तथा बचत-निवेश के केन्द्रीकरण के कारण उत्पादन का लाभ भी कुछ ही व्यक्तियो को प्राप्त होता रहा। इसी प्रक्रिया का परिणाम यह हुआ कि एक ओर समाज के कुछ व्यक्तियों को आय का अधिकाश भाग प्राप्त होता रहा, जबकि दूसरी ओर बहुसख्यक, साधनहीन लोग अनवरत रूप से विपन्नता के गर्त मे जाते रहे।

कार्ल मार्क्स ने लगभग १४० वर्ष पूर्व इस समस्या पर गम्भीर चिन्तन किया। उन्होने पूँजीपतियो की शोषण की प्रवृत्ति पर प्रकाश डालते हुए बतलाया कि इस शोषण के फलस्वरूप उत्तरोत्तर निर्धन, विपन्न सर्वहारा वर्ग का विस्तार होता रहेगा और अन्तत: ये ही लोग सगठित होकर पूँजीपतियो के विरुद्ध क्राति करके साम्यवाद की स्थापना करेगे।

हम लोग मार्क्स के विचारो से भले ही सहमत न हो और भले ही अपने

सस्कारों के कारण हिंसक क्रांति का अनुमोदन न करते हो, फिर भी यह तो हमे स्वीकार करना ही होगा कि पूँजीवादी व्यवस्था में धन, पूँजी या सम्पत्ति का संग्रह अपरिहार्य है। यह भी हमें विदित है कि संग्रह का मूल "मूर्च्छा" या परिग्रह है। एक व्यक्ति जब संग्रह करता है तो स्वाभाविक तौर पर उसके चेतन अथवा अवचेतन मस्तिष्क में यह भावना निहित रहती है कि वह अपने लिए, अपने परिजनो के लिए अथवा आने वाली पीढ़ियो के लिए सुखद भविष्य बनाना चाहता है और बस यही से शोषण तथा उससे उत्पन्न वर्ग सघर्ष का सूत्रपात हो जाता है।

परिग्रह अथवा "मूर्च्छा" का मूल है मोह अथवा ममत्व। जैन दर्शन की सूक्ष्म मीमांसा करने पर ज्ञात होता है कि परिग्रह का स्थूल रूप भौतिक साधनो के प्रति आसक्ति हो सकता है, परन्तु यदि व्यक्ति को अपने रूप, ज्ञान, शौर्य अथवा आचरण के प्रति राग उत्पन्न हो जाए तो यह भी परिग्रह ही माना जाएगा।

यूनान मे नार्सीसस नामक एक युवक रहता था। एक दिन उसने पानी में अपनी परछाई देखली तथा स्वयं की सुन्दरता पर मुग्ध हो गया। स्वयं पर मुग्ध होने की इसी प्रवृत्ति को नार्सीसिज्म कहा जाने लगा। कहने का अभिप्राय यह है कि मूर्च्छा केवल धन या सम्पत्ति से हो यही परिग्रह नही है। राग का परित्याग देवत्व का परिचायक है, चाहे वह भौतिक साधनों के प्रति राग हो अथवा अभौतिक साधनों के प्रति।

परिग्रह का आर्थिक पक्ष

परिग्रह का आर्थिक पक्ष भौतिक साधनों यथा धन या लक्ष्मी के प्रति आसक्ति का बोध कराता है, परन्तु महावीर का अपरिग्रह धन या सम्पत्ति को पूर्णरूपेण निरर्थक नही मानता। महावीर कहते है, धन या सम्पत्ति एक सीमा तक ही आवश्यक है। अन्य शब्दों में, धन का सग्रह मर्यादित रूप मे करना चाहिए।

कल्पना कीजिए हम अमर्यादित रूप मे धन का संग्रह करना चाहते है। स्वाभाविक रूप से इससे लोभ की उत्पत्ति होगी। यदि हम अक्षम है तो अपने उद्देश्य मे सफल नही हो पाएंगे और इससे क्रोध रूपी कषाय की उत्पत्ति होगी। यदि हम सक्षम है तो हम दूसरो का शोषण करके धन का संग्रह करेंगे और यही से वर्ग-सघर्ष का प्रारम्भ हो जाएगा। अस्तु, परिग्रह से शोषण प्रारम्भ होता है और इससे समाज मे संघर्ष तथा अस्थिरता का वातावरण सृजित होता है। सम्पन्न वर्ग मे संग्रह की प्रवृत्ति जितनी बलवती होगी, उतनी ही विषमताएं

बढेगी, तथा समाज के कमजोर वर्ग मे उतना ही अधिक असतोप व आक्रोश बढेगा।

महात्मा गाधी ने जीवन के चार स्वरूप बतलाए है। प्रथम स्वरूप एक शेर के जीवन का है। शेर कोई सग्रह नही करता, और अन्य प्राणियो का शिकार करके जीवन यापन करता है। दूसरा स्वरूप मधुमक्खी का है। वह मधु का संचय करतो है। उसे अपने छत्ते एव उसमे निहित मधु से बडा मोह रहता है। परन्तु अन्ततः इन्सान अग्नि प्रज्वलित करके मधुमक्खियो को भगा देता है और स्वय मधु प्राप्त कर लेता है। जीवन का तीसरा स्वरूप एक गाय का है। गाय यदि स्वय तृप्त है तो अपने बछडे को दूध पिलाती है। यदि उसे चारा व दाना-पानी नही मिलता तो उसे अपने बछडे से भी कोई प्रयोजन नही है। इन सबसे भिन्न स्वरूप एक मा का होता है जिसे अपने आपसे मोह नही है, और जो स्वय भूखी रहकर भी अपनी सन्तान को भोजन देती है। महात्मा गांधी प्रश्न करते है—आप जीवन का कौनसा स्वरूप प्राप्त करना चाहेगे ? निश्चय ही एक विवेकशील व्यक्ति न तो शेर की भॉति किसी अन्य प्राणी को मारकर अपना पेट भरना चाहेगा, और ना ही मधुमक्खी की भाति बूॅद-बूॅद मधु किसी अन्य व्यक्ति के लिए संचय करना चाहेगा। एक विवेकशील व्यक्ति के जीवन का स्वरूप "स्व" से हटकर "पर" के लिए होता है। यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति धनोपार्जन करते समय संचय की इच्छा न करे अथवा "स्व" का परित्याग कर दे तो शोषण को समाप्त करके हम अपनी अधिकाश समस्याओ का सहज ही समाधान कर सकते है।

ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त

भगवान् महावीर के युग में भी आनन्द तथा महाशतक जैसे बड़े-बडे श्रेष्ठि थे। प्रभु की वाणी से प्रभावित होकर उन्होने अपना व्यापार नही छोड़ा और न ही सम्पूर्ण सम्पत्ति का परित्याग किया। हा, उन्होने परिग्रह की मर्यादा अवश्य निर्धारित कर दी। महात्मा गाधी भी कहते है कि यदि आपके पास सम्पत्ति है तो आप स्वय को इसका ट्रस्टी मानिए—स्वामी नही। यदि आप स्वयं को ट्रस्टी मानते है तो करोड़ो की सम्पत्ति होने पर भी अपरिग्रही है। इसके विपरीत यदि किसी भिखारी को अपने भिक्षा पात्र से भी मोह है तो वह परिग्रही होगा।

राजा भर्तृहरि ने अपना राजपाट-वैभव सभी त्याग दिया। सन्यासी होकर वे वन मे चले जा रहे थे कि मार्ग मे कोई चीज चमकती हुई दिखाई दी। झुककर उसे उठाया तो पाया कि वह तो काच का टुकड़ा था, सूर्य की रोशनी मे चमक रहा था। समूचे वैभव को छोडने पर भी उनकी धन के प्रति आसक्ति शायद कुछ शेष रह गई थी।

वहुत से बन्धु अपनी सम्पत्ति का एक अंश दान कर देते है। परन्तु साथ ही यह अपेक्षा भी करते है कि दानवीरों की सूची मे सवसे ऊपर उनका नाम हो। दान का महत्त्व है, परन्तु यश की कामना को परिग्रह ही माना जाएगा। सच्चा अपरिग्रही यश या कीर्ति की अपेक्षा से दान नही करेगा। क्योकि यश या कीर्ति सापेक्ष है, तथा हमसे वड़ा कोई दानी होने पर हमारा स्थान गौण हो जाएगा। फिर "स्व" की कोर्ति का मोह क्यों? वस्तुत: कभी-कभी हम इस तथ्य को विस्मृत कर देते है कि जिस सम्पदा का हमने संचय किया है, नैतिक ही नही अपितु कानूनी दृष्टि से भी उसके एक अंश के ही हम स्वामी हो सकते है। यश या कीर्ति के मोह में पडकर जव हम सार्वजनिक रूप से इसका एक भाग दान करने की घोषणा करते है तो यह परिग्रह तो है ही, उन राजकीय अधिकारियो के लिए एक खुला आमत्रण भी है जो कर-वचकों की तलाश कर रहे है।

ऐसा कहा जाता है कि वर्तमान शताव्दी मे हुए दोनो महायुद्धो (१९१४-१९१९ तथा १९३९-१९४५) का मूल कारण यह था कि विश्व की वडी औद्योगिक शक्तियाँ अन्य देशो पर अपना आर्थिक वर्चस्व स्थापित करना चाहती थी। अपनी-अपनी वस्तुओं के बाजार का विस्तार करने की चाह मे ये शक्तियाँ उलझ पडी, तथा समूचा विश्व युद्ध की ज्वाला मे जल उठा। वैसे प्राचीन काल मे भी अनेक युद्धो की पृष्ठभूमि में आर्थिक कारण ही निहित हुआ करते थे। यदि वे सभी शासक अथवा राज्याध्यक्ष धन-सम्पदा की चाह पर अंकुश रखते तो इन युद्धों की विभीपिका से मानव जाति को बचाया जा सकता था।

औद्योगिक विस्तारवाद के प्रभाव

कार्ल मार्क्स ने कहा है कि पूँजीवाद के अन्तर्गत एक छोटा उद्योगपति (कैप्टेन) उत्तरोत्तर वडा और अन्ततः सबसे वडा उद्योगपति (फील्ड मार्शल) वनना चाहता है। आज विश्व के प्रत्येक देश में वडे-वड़े उद्योग स्थापित किए जा रहे है। जानते है आर्थिक सत्ता के इस अनियन्त्रित विस्तार की परिणति किस रूप मे होती है? कहा जाता है कि न्यूयार्क महानगर का वायुमडल इतना प्रदूपित हो रहा है कि जहरीली गैस की एक परत हमेशा हवा मे तैरती रहती है। जापान मे १९४६ के वाद औद्योगिक विकास तेजी से हुआ, उसके कारण सैकड़ो-हजारो टन मर्करी समुद्र मे नियमित रूप से प्रवाहित किया जाता रहा। इस मर्करी ने सामुद्रिक मछलियो को जहरीला वना दिया तथा जिन व्यक्तियो ने नियमित रूप से समुद्र के किनारे पाई जाने वाली इन मछलियो का उपभोग किया वे असाध्य वीमारियो के शिकार हो गये।

हाल के सर्वेक्षणों से पता चला है कि राजस्थान के पाली व कोटा आदि

औद्योगिक नगरों मे भी पानी मे प्रदूषण की गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गई है। हम लोग भोपाल गैस दुखान्तिका के विषय मे सोचकर ही सिहर उठते है। यह सब औद्योगिक विस्तारवाद की ही देन है तथा मानव की निर्बाध रूप से अपनी आर्थिक सत्ता को विस्तृत करने की लालसा का परिणाम मात्र है। यदि उद्योगपति अथवा श्रेष्ठिवर्ग के लोग परिग्रह को मर्यादित करले तो विश्व को प्रदूषण के घातक प्रभावो से बचाया जा सकता है।

हमे आज विचार करना होगा कि अपनी धनलिप्सा पर अंकुश लगाकर हम समाज के दूसरे व्यक्तियो के अधिकारों का हनन करने, तथा आर्थिक दृष्टि से कमजोर व्यक्तियो का शोषण करने से स्वय को रोके। समाज मे व्याप्त आर्थिक विषमताओ का दायित्व काफी सीमा तक हमारा स्वयं का है, न कि विपन्न व साधनहीन व्यक्तियो के कर्म मात्र का। यही विषमता समाज को विघटित कर रही है। स्वधर्मी भाइयो की सहायता का प्रयास स्तुत्य है परन्तु हमे उनकी समस्याओ के मूल को पहचान कर ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के अनुरूप अपना आचरण बनाना होगा। हम अपनी सम्पत्ति का एक भाग किसी स्वधर्मी बन्धु की सहायतार्थ देकर स्वय-भू दानवीर और बड़े हो जाएँ तथा वह व्यक्ति हेय हो जाए, यह भी हमारे परिग्रह का ही एक रूप माना जाएगा।

अब वह समय आ गया है जब हम भगवान् महावीर के अपरिग्रह के पावन सन्देश को समझे तथा उस पर आचरण करते हुए समाज मे सौहार्द, स्नेह तथा स्थिरता लाते हुए दीर्घकालीन प्रगति के मार्ग को प्रशस्त करने का सकल्प करें। यदि हम ऐसा करने मे समय रहते असफल रहे तो या तो आर्थिक समानता लाने हेतु हमें सर्वहारा वर्ग के आक्रोश का शिकार होना पडेगा, अथवा सरकार की नीतियाँ हमारी संचय-वृत्ति पर अंकुश लगाएंगी। फिर हम प्रभु महावीर के बताए हुए मार्ग पर स्वेच्छा से ही क्यो न चले ?

दान-दीपक

'दादू' दीया है भला, दिया करो सब कोय।
घर मे धरा न पाइये, जो कर दिया न होय॥
—सत दादू

तबही लगि जीबो भलो, दीबो परै न धीम।
बिन दीबो जीबो जगत, हमै न रुचै 'रहीम'॥
—रहीम

४५

ट्रस्टीशिप के दो पहलू

□ दादा धर्माधिकारी

अस्तेय और अपरिग्रह प्राय साथ-साथ लिये जाते है। अपरिग्रह का अर्थ आज तक लोगों ने यह किया है कि हम अपनी जरूरत से ज्यादा चीज नही रखते। लेकिन अपरिग्रह की वृत्ति का अर्थ यह है कि अपनी जरूरत की चीज भी जो मै रखता हूँ, वह अपने स्वामित्व के लिये नही रखता। अपनी जरूरत की चीज तो रखता हूँ, लेकिन जरूरत की चीज पर मेरा स्वामित्व नही। जैसे शरीर पर भी हमने अपना स्वामित्व नही माना। जो लोग परमार्थी होते है या सेवक होते है, उन्होने यह माना है कि यह शरीर धर्म का साधन है। भक्त कहते हैं कि यह भगवान् का आयतन है। भगवान् के रहने का मदिर है। लेकिन सेवक लोग कहते है कि यह तो समाज की थाती है। यह शरीर समाज की धरोहर है और यह मेरे पास है, इसलिये इसके विषय मे मेरे मन मे ममता नही होनी चाहिये। यदि शरीर के लिये भी ममता नही है, तो फिर शरीर यात्रा के लिये जो चीजे आवश्यक है, उनके सम्बन्ध मे स्वामित्व की कोई भावना कैसे हो सकती है? यह अपरिग्रह, असग्रह का अतिम विचार है। अस्तेय मे से असंग्रह आता है। अस्तेय के लिये इतना काफी है कि मै दूसरे की प्रिय वस्तु का हरण नही करता, लेकिन अपरिग्रह इससे एक कदम आगे जाता है।

•

अपरिग्रह कहाँ तक जाता है, यह समझने के लिये हम गाँधी की ट्रस्टीशिप की बात भी समझ ले। उसके बारे में लोग चाहे जैसा लिखते है और चाहे जैसा कहते है। वे यह मानते है कि ट्रस्टीशिप का मतलब यह है कि तुम्हारे पास जो धन है, वह धन समाज के लिये है, यह समझकर वह धन बढाते ही चले जाओ। समाज के लिये है, तो समाज के लिये बढा रहा हूँ।

लोगो ने ट्रस्टीशिप का मतलव यह कर लिया है कि ब्याज भी लेते जाओ और उस धन को वढ़ाते भी चले जाओ। उसके विपय मे आसक्ति भी रखो। अन्त मे केवल इतना करो कि इसका भोग भगवान् को लगा दिया करो। जैसे हम सवा सेर मिठाई लेकर मन्दिर मे जाते है, एक पेडे का भोग लगा देते है, वाकी के पेड़े तो हमारे है ही। यह भगवान् का प्रसाद हो गया।

सोचने की वात यह है कि जिस व्यक्ति ने व्रत के रूप में सत्य-अहिसा-अस्तेय का प्रतिपादन किया, उसने भला ट्रस्टीशिप का अर्थ ऐसा किया होगा?

ट्रस्टीशिप का अर्थ यह है कि परम्परा से और परिस्थिति से जो धन मुझे प्राप्त हो गया है, उसे दूसरो का समझकर जल्दी से जल्दी उससे मुक्त हो जा, नही तो ट्रस्टीशिप का कोई अर्थ ही नही है। किशोरलाल भाई ने सार्वजनिक सस्थाओ के बारे में लिखा था कि सार्वजनिक निधियो को भी हम ब्याज ले लेकर वढाते है और उसका सरक्षण करना अपना कर्त्तव्य समझते है। यदि व्यक्तिगत परिग्रह, व्यक्तिगत सग्रह निषिद्ध है, तो सार्वजनिक सग्रह भी कम निषिद्ध नही है।

ट्रस्टीशिप के दो पहलू है। एक है—सक्रमण काल का पहलू। सक्रमण काल के लिये यह व्यवस्था है। पूजीवादी समाज व्यवस्था से हमे श्रमनिष्ठ समाज-व्यवस्था की ओर कदम वढाना है, इसके लिये संग्रह के विसर्जन की आवश्यकता है। सग्रह का यह विसर्जन व्रतनिष्ठा से होना चाहिये, याने व्यक्ति का शुद्धिकरण होना चाहिये। क्राति की प्रक्रिया मे व्यक्ति के शुद्धिकरण की, व्यक्ति की चित्तशुद्धि की योजना "हृदय-परिवर्तन" कहलाती है। क्रान्ति की प्रक्रिया ही ऐसी है कि उसमे व्यक्ति को चित्तशुद्धि की योजना हो इसलिये जिन्हे आज आनुवशिक अधिकार से विरासत मे सपत्ति मिल गयी है या कानून से मिल गयी है या जिन लोगो ने पहले खरीद ली है या कमा ली है, उन लागो से गाँधीजी कहते है कि इस सपत्ति को अपनी मत समझो। समाज की धरोहर या थाती समझो। इसका मतलव यह नही है कि इसे तुम बढाते चले जाओ। वस्तुत उसका मतलब यह है कि तुम्हे यह चिन्ता होनी चाहिये कि कब मै यह सम्पत्ति समाज को लौटा देता हूँ और कब मेरा चित्त शान्त होता है। धनिको के लिये, मालिको के लिये, सम्पत्तिमानो के लिये गाँधीजी के ट्रस्टीशिप का सही अर्थ है कि उन्हे सग्रह का विसर्जन करना है। यदि यह अर्थ उन्होने नही लिया और यह माना है कि गाँधीजी का यह मतलव था कि तुम मे सग्रह की कुशलता है, इसलिये सग्रह ही वढाते जाओ और यह मान लो कि अपने समाज के लिये वह सग्रह कर रहा है, इसमे से तुम हलवा-पूडी के रूप में प्रसाद लेते जाओ और दूसरो को बाजरे की रोटी के रूप मे कभी-कभी देते जाओ, तो उसका ऐसा मतलब उनके मन मे कभी हो ही नही सकता।

ट्रस्टीशिप का दूसरा पहलू यह है—केवल धनिक ही ट्रस्टी नही है, श्रमिक भी ट्रस्टी है। वहुत सम्पत्ति, धन या सग्रहवाला ही नही, अल्प सग्रहवाला भी ट्रस्टी है। उसे भी अपने आपको ट्रस्टी ही मानना चाहिये। जहाँ वह काम करता है, वह काम समाज का काम है। उस काम के उपकरण भी समाज के है, उसके अपने नही हैं। उनका वह ट्रस्टी है। हम पहले यह माँग करते है कि उत्पादन के साधन उत्पादक के कब्जे मे होने चाहिये। वाद मे हम यह माँग करते है कि उत्पादक भी उनका ट्रस्टी होगा। वे साधन उसके अपने नही होगे। वह उन उपकरणों का और उत्पादन का अपने-आपको मालिक नही मानेगा।

जितना उत्पादन वह करेगा, उतने उत्पादन का भी वह अपने आपको मालिक नही मानेगा।

संग्रह परायण मनुष्य ने कहा कि "तुम ईमानदारी से यदि धन कमाते हो, तो उस धन पर तुम्हे अधिकार है।" उसकी ईमानदारी का मतलब यही है कि होड़ मे तुम जीत जाते हो, तो उस धन पर तुम्हारा अधिकार है।

दूसरे ने कहा—"यह चढा-उतरी और होड की पद्धति से जो धन कमाया जाता है, यह चोरी ही है। जितनी सम्पत्ति है, वह सब चोरी ही है। "स्तेन एव सः" 'भगवद्गीता' मे कहा गया। सारी संपत्ति, सारा संग्रह यदि चोरी है, तो उसके निराकरण के लिये संग्रहवान् से कहा कि तुम अपने को अपने संग्रह का थातीदार मानो, निधिपालक मानो, न्यासधर मानो। तुम समाज की ओर से उसे रखो, लेकिन इसका मतलब यह नही है कि जितनी जल्दी खर्च कर सको, उतनी जल्दी उसे खर्च कर डालो और समाज की जिम्मेदारी से मुक्त हो जाओ। जिनके पास अल्प संग्रह है, उनके लिये गाँधीजी कहते है, "तुम जो कमाते हो, अपनी मेहनत से कमाते हो, लेकिन अपनी मेहनत की कमायी हुई रोटी पर भी तुम्हारा अधिकार न हो। भूख का अधिकार है, रोटी भूख के लिये है। तुम्हारे पेट में भूख है, इसीलिये भूख का अधिकार रोटी पर अवश्य है। परन्तु तुम्हारे पड़ौस में कोई भूखा है तो उसे बाँट दो। तुम्हारे पास आधी रोटी हो, तो उस आधी को भी बाँट दो। गरीब आदमी या अल्प संग्रहवान् व्यक्ति का भी अपनी मेहनत की उपज पर और अपनी मेहनत के उपकरणो पर स्वामित्व नही माना जाता। इसी का नाम है 'ट्रस्टीशिप।' यह शाश्वत 'ट्रस्टीशिप' है।

पवित्रता की कसौटी

अगर अनुचित लोभ-लालच में फँसे नही हो, दिन-रात हाय-पैसा, हाय-पैसा नही करते रहते हो, वल्कि न्याय-नीति के साथ निर्वाह के योग्य धन उपार्जन करके सन्तोष मान लेते हो और परमात्मा के भजन के लिए समय वचा लेते हो, वडे-वड़े प्रलोभन के सामने होने पर भी मर्यादा से नही गिरते हो और धर्म के पथ पर अग्रसर होते चले जा रहे हो तो निःसन्देह तुम्हारा मन पवित्र है।

☐ जैन दिवाकर श्री चौथमलजी म० सा०

४६

अपरिग्रह : वर्तमान युग की आवश्यकता

□ श्री नारायण देसाई

गाधीजी ने सत्याग्रह आश्रम की नियमावलि में सत्य, अहिसा आदि एकादश व्रतों को स्थान देकर जो तव तक व्यक्तिगत गुण माने जाते थे, उन्हे सामाजिक मूल्य का रूप दिया। अपरिग्रह भी उन एकादश व्रतों मे एक प्रमुख व्रत था।

यों तो अपरिग्रह का पाठ तो मानवता को हजारो वर्षो से मिलता आ रहा है, किन्तु आज वह व्रत जितना प्रासगिक है, उतना शायद पहले कभी नही था।

चीज-वस्तुओं का अभाव अपरिग्रह नहीं है। विपुल सामग्री होते हुए भी उनसे स्वेच्छापूर्वक अलग रहने को अपरिग्रह कहते है। आज जब विश्व में विपुल सामग्री उपलब्ध है तभी अपरिग्रह का व्रत अधिक प्रस्तुत एवं प्रासगिक बनता है। आज जितनी विपुलता है उतनी ही विषमता भी है। जगत मे आर्थिक विषमता आज जितनी है, शायद पहले कभी नही थी। विषमता को दूर करने के लिए, सम्पन्न लोगों के लिए अपरिग्रह स्वीकार करना एक ऐतिहासिक आवश्यकता वन जाता है।

अति श्री मे तथा उपभोगवाद के सयोग से विश्व के अमीर और गरीब के वीच की खाई दिन-व-दिन गहरी वनती जा रही है। विश्व-शांति एवं मनुष्यता के अस्तित्व के लिए ही यह खाई खतरनाक सिद्ध हो सकती है। अतः आज अपरिग्रह केवल सयम और तपस्या का नही वरन् मानवता की आत्मरक्षा का प्रश्न वन गया है।

मनुष्य ने आज जिस गति से वसुन्धरा के वस्तुओं का उपभोग शुरू किया है, उससे यह नौबत आई है कि कुछ दशाब्दियो मे ही बहुत सारे ऊर्जा-स्रोत दुर्लभ हो जायेगे। इस अवस्था में वस्तुओं के उपभोग के सम्बन्ध में सयम से वरतना या वसुधा का तकाजा बन गया है।

अपरिग्रह का अर्थ गरीवी का बटवारा नही है। अपरिग्रह का अर्थ मन को इतना अमीर बनाना कि उसे अधिक वस्तुओ के परिग्रह की आवश्यकता ही न रहे।

मन के आनन्द का सम्बन्ध वस्तुओं के सग्रह से नही, संतोष से है। उपभोग की इच्छा, महत्त्वाकांक्षा या लोलुपता के कारण बढाया गया परिग्रह

नित्य निरंतर अधिक परिग्रह करने को तरसाता है। इस प्रकार की अदम्य तरस का न संतोष से संबध है न शाति से, न सुख से।

अपरिग्रह का जितना आग्रह जैन धर्म मे रखा गया, उतना शायद और किसी धर्म ने नही रखा, किन्तु जैनियो मे परिग्रहियो की सख्या कुछ कम नही पाई जाती। शायद इसका कारण यह है कि अपरिग्रह को हमने व्यक्तिगत गुण भर माना, सामाजिक मूल्य नही माना, अपरिग्रह आदि को मुनियो का धर्म मान कर श्रावकों के लिए उसे उतना अपरिहार्य नही माना। इस अवस्था को वदल कर अपरिग्रह को सार्वत्रिक धर्म बनाया जाये, तभी विपुलताग्रस्त और दरिद्रता-ग्रस्त विश्व का कल्याण होगा।□□□

प्रायश्चित

बहुत समय पहले की बात है। किसी जगल मे एक साधु रहता था। उसने तपोबल के माध्यम से कई विद्याएँ अर्जित कर रखी थी। वक्त गुजरता गया। लोगो मे उसकी छवि निखरती गई। साधु की ख्याति के बारे मे वहाँ के राजा ने भी सुना तो वह भी आश्रम मे पहुँचा। राजा ने साधु के दर्शन किये और साधु से निवेदन किया कि वो कुछ दिन उसके महल मे गुजारे। साधु ने राजा के अत्याचारों की गाथाएँ सुन रखी थी। फिर कुछ सोचकर उसने राजा का निमन्त्रण सहर्ष स्वीकार कर लिया। महल मे साधु, राजा के अत्याचारपूर्ण कमाये धन मे आमोद-प्रमोद मे डूब गया। नित्य भाति-भाति के व्यंजन खाकर उसकी वुद्धि खराब हो गई।

एक दिन मौका पाकर उसने रानी के कीमती हार अपने चोगे मे रख लिए और महल से फरार हो गया। भागते-भागते वह थककर चूर हो गया और जगल मे भूख लगने पर उसने फल तोड़कर खाये कि उल्टी-दस्त लगने प्रारम्भ हो गये। उधर महल मे रानी के आभूषणो को चोरी का समाचार जगल की आग की भाति फैल गया। पहरेदार चोर-साधु की तलाश मे जमीन-आसमान एक कर रहे थे। कई बार दस्त हो जाने के बाद साधु को अपने कुकृत्य पर क्षोभ हुआ। उल्टे पावो वह महल लौट गया। राजा ने आश्चर्य से पूछा—"पहले चोरी की फिर वापिस लौटाने क्यो आये?" साधु ने कहा—"राजन्! तुम्हारे काले अन्न को खाकर मेरी बुद्धि विकृत हो गई लेकिन वन का स्वच्छ फल खाकर उसने मेरे हृदय मे वसे मैल को निकाल दिया। उससे मुझे वास्तविकता का वोध हो गया।" यह सुनते ही राजा की आँखे खुल गई कि वास्तव मे जवरदस्ती, अनैतिक रूप से सगृहीत विपुल-सम्पदा का परिणाम कितना कष्ट-कारी होता है। उसने साधु से क्षमा मागी और वचन दिया कि वह न्याय व दयालुता के माध्यम से शासन चलायेगा।

□ मनोज आंचलिया

४७

अपरिग्रह : समाजवादी समाज-रचना का आदर्श

☐ डॉ. उम्मेदमल मुनोत

भगवान् महावीर के चिन्तन में जितना महत्त्व अहिसा को मिला, उतना ही अपरिग्रह को भी मिला। उन्होने अपने प्रवचनो मे जहाँ-जहाँ आरम्भ (हिसा) का निषेध किया, वहाँ-वहाँ परिग्रह का भी निषेध किया।

परिग्रह क्या है ?

उचित-अनुचित का विवेक किए बिना आसक्ति के रूप मे वस्तुओं को सब ओर से पकड लेना, जमा करना और मर्यादाहीन गलत असामाजिक रूप मे उपयोग करना। वस्तु न भी हो, यदि उसकी आसक्ति मूलक मर्यादाहीन अभीप्सा है, तो वह भी परिग्रह है। इसलिए महावीर ने कहा था—मूच्छा परिग्गहो—मूर्च्छा, मन की ममत्व दशा ही वास्तव मे परिग्रह है। जो साधक ममत्व से मुक्त हो जाता है, वह सोने-चाँदी के सिहासन पर बैठा हुआ भी अपरिग्रही कहा जा सकता है। इस प्रकार भ० महावीर ने परिग्रह की, एकान्त जड़वादी परिभाषा को तोड़कर उसे भाववादी, चैतन्यवादी परिभाषा दी।

अपरिग्रह का मौलिक अर्थ

भ० महावीर ने बताया, अपरिग्रह का सीधा सादा अर्थ है–निस्पृहता, निरीहता। 'गीता' मे भी कहा गया है जो पुरुष सम्पूर्ण कामो का त्याग कर ममत्व रहित व अहकार रहित निस्पृह जीवन बिताता है, वह स्थितिप्रज्ञ है।[1]

वस्तुतः भ० महावीर के अपरिग्रहवादी चिन्तन की पॉच फलश्रुतियाँ आज हमारे समक्ष है—

१. इच्छाओ का नियमन।
२. समाजोपयोगी साधनो के स्वामित्व का विसर्जन।
३. शोषणमुक्त समाज की स्थापना।
४ निष्काम बुद्धि से अपने साधनो का जनहित में सविभाग।
५ भौतिक व आध्यात्मिक शुद्धि।

---

१ गीता अ० २, श्लोक ७।

१. इच्छाओं का नियमन

इच्छा ही सबसे बडा बधन है, दु:ख है। जिसने इच्छा का निरोध किया—उसे मुक्ति मिल गई। इच्छा-मुक्ति ही वास्तव मे संसार-मुक्ति है। इसलिए सबसे प्रथम इच्छा और आकांक्षाओं पर संयम करने का उपदेश महावीर ने दिया। बहुत से साधक, जिनकी चेतना इतनी प्रबुद्ध होती है कि वे अपनी सम्पूर्ण इच्छाओ पर विजय प्राप्त कर सकते है, महाव्रती-संयमी के रूप में पूर्ण अपरिग्रह के पथ पर बढते है, किन्तु इससे अपरिग्रह केवल संन्यास क्षेत्र की ही साधना मात्र बन कर रह जाता है। अत: सामाजिक क्षेत्र में अपरिग्रह की अवतारणा के लिए उसे गृहस्थ धर्म के रूप मे भी एक परिभाषा दी गई। महावीर ने कहा—सामाजिक प्राणी के लिए इच्छाओं का सम्पूर्ण निरोध, आसक्ति का समूल विलय यदि सम्भव न हो, तो वह आसक्ति को क्रमश: कम करने की साधना कर सकता है, इच्छाओ को सीमित करके ही वह अपरिग्रह का साधक बन सकता है।

इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त है। उनका जितना विस्तार करते जाओ, वे उतनी ही व्यापक, असीम बनती जाएँगी, और उनसे कष्ट एव अशांति बढती जाएगी। इच्छाएँ सीमित होंगी, तो चिता और अशांति भी कम होगी। इच्छाओ को नियंत्रित करने के लिए महावीर ने 'इच्छा परिमाणव्रत' का उपदेश दिया। यह अपरिग्रह का सामाजिक रूप था। बड़े-बड़े धन-कुबेर, श्रीमंत एवं सम्राट् भी अपनी इच्छाओ को सीमित-नियंत्रित कर मन को शात एव प्रसन्न रख सकते है। और साधनहीन साधारण लोग भी, जिनके पास सर्वग्राही लबे-चौडे साधन तो नही होते, पर इच्छाएँ असीम दौड़ लगाती रहती है, वे भी इच्छा-परिमाण के द्वारा समाजोपयोगी उचित आवश्यकताओ की पूर्ति करते हुए भी अपने अनियत्रित इच्छा प्रवाह के सामने अपरिग्रह का एक आन्तरिक अवरोध खड़ा कर उसे रोक सकते है।

२. समाजोपयोगी साधनों के स्वामित्व का विसर्जन

स्वामित्व-विसर्जन का सीधा अर्थ है—वस्तु से अपनी मालकियत हटा लेना। जीवन के साधन प्रकृति के द्वारा प्रदत्त है, और हम सब प्रकृति के पुत्र है, अत: भाई है। जीवन के साधनो मे सब समान हिस्सा रखते है और कोई उनके स्वामी नही है। हर व्यक्ति मात्र सरक्षक है, जो अपनी अपेक्षा के अनुसार योग-क्षेम के साधन ले, शेप औरो के लिए छोड़ दे, जिनको आवश्यकता है। महावीर कहते है—अपनी आवश्यकता के लिए लेने से पूर्व यह देख लो कि क्या इससे कम मे भी मेरा काम चल सकता है? क्या इससे दूसरे की आजीविका का विच्छेद तो नही हो जायेगा? इन परिस्थितिओ मे वह अपनी आवश्यकताओ को और कम करके शेप सम्पत्ति से अपने स्वामित्व को हटा

ले । स्वामित्व-विसर्जन तभी हो सकता है, जब अपनी आवश्यकताएँ सीमित हो ।

राष्ट्रपिता गांधीजी ने भ० महावीर के इसी सूत्र को ट्रस्टीशिप का रूप दिया । स्वामित्व-विसर्जन की यह परिभापा समाज में सम्पत्ति के आधार पर फैली अनर्गल विषमताओ का प्रतिकार करने मे सफल सिद्ध हो सकती है । मनुष्य जब आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति व वस्तु के सग्रह पर अपना अधिकार हटा लेता है, तो वह समाज और राष्ट्र के उपयोग के लिए उन्मुक्त हो जाती है, इस प्रकार अपने आप ही एक सहज समाजवादी अन्तरप्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है ।

३. शोषणमुक्त समाज की स्थापना

महावीर शोषण मुक्त व्यवसाय से प्राप्त आय को भी व्यक्ति की अपनी नही मानते । विसर्जन स्वामित्व का अस्वीकार है और स्वामित्व अह का विस्तार । स्वामित्व टूटने पर आवश्यकता बचती है, जिसे भी उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत द्वारा महावीर अधिकाधिक सीमित करते जाने का आदर्श देते है । श्रावक की तीन मनोकामनाओ में सर्व प्रथम यह है कि मै अल्पतम आरम्भ और अल्पतम परिग्रह पर कब पहुँच सकूँगा ? पूर्ण अपरिग्रह यानी स्वामित्व का विलोप महावीर का मूल आदर्श है, जहाँ विषमता व शोषण का बीज ही समाप्त हो जाता है । मानवीय शोषण को तो उन्होने प्रायश्चित-योग्य बड़ी हिसा कहा है । इसके अतिरिक्त सम्भवतः महावीर ही एक व्यक्ति थे, जिन्होने पशु पर अधिक भार नहीं लादने तक का भी निर्देश श्रावकीय आचार-व्यवस्था में दिया ।

महावीर ने छोटे-छोटे उद्योगों को अपने दर्शन मे स्थान दिया—जिससे अल्प आरम्भ, अल्प परिग्रह हो, धन का विकेन्द्रीकरण हो, विषमता दूर हो तथा क्षेत्रीय स्वावलम्बन हो । महावीर का दिशा परिमाण व्रत इस दिशा मे स्पष्ट निर्देश है । छोटे उद्योगों में भी शोषण न हो, इसके लिए महावीर ने सजगता वरतने का निर्देश दिया ।

गांधीजी का सर्वोदय तथा विनोबा के भूदान एवं ग्राम स्वराज्य की धारणा के पीछे जो सत्य है, वह उद्योग-व्यापार के अतिचारो के वर्जन तथा परिमाण व्रत के भीतर निहित है । इस प्रकार के विकेन्द्रित एवं लघु उद्योगों द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर विकास का उदाहरण जापान है, जिसके लिए अमेरिका के प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्री हर्मन कीन का कहना है कि इस शताब्दी के अन्त तक वह संसार का सबसे धनी और शक्तिशाली राष्ट्र होगा । अतः महावीर ने

कहा, उसकी मूल भावना को समझकर हमारे जीवन में उसके उपादानो द्वारा उसकी व्याख्या और क्रियान्विति अपेक्षित है ।

४. निष्काम बुद्धि से अपने साधनों का जनहित में संविभाग

भगवान् महावीर ने स्पष्ट शब्दो में कहा—

"असविभागी न हु तस्स मोक्खो ।"

ढाई हजार वर्ष पहले की अर्धमागधी की यह गाथा आधुनिक परिप्रेक्ष्य मे भी कितनी महत्त्वपूर्ण है । इसका अर्थ भी समझना पड़ेगा ।

असविभागी किसे कहते है ? जो अपने साधनो का, अपनी प्राप्त सामग्री का, जो कुछ इन्सान ने पाया है उसका, अपने साथियो मे, अपने आस-पास के जगत् मे अगर सविभाग अर्थात् सम्यक् वितरण नही कर रहा है, तो वह बन्धन से मुक्त नही हो सकता । कोरा वितरण ही नही, वितरण मे तो सिर्फ बांटने का ही सवाल है । यहाँ विभाग शब्द है, उसका स्पष्ट अर्थ होता है, विशिष्ट भाग । मतलब यह है कि तुम्हे जो प्राप्त है, उसमे जनता का भी हिस्सा है, तुम्हारे साथियो का भी हिस्सा है, तुम जैसे ही चैतन्य और भी है, उनका भी भाग है । इसलिए उस भाग-हिस्से को देते समय, ठीक तरह से उचित विभाग करना सविभाग कहलाता है । किसी लज्जा, भय से नही, किसी प्रकार के आतक से नही, अह से भी नही, बिल्कुल सहज भाव मे विभाग करना, जैसे स्नेही भाई अपने भाई के लिए करता है । भ० महावीर ने सविभाग की बात इसलिए कही कि संसार मे जितने द्वन्द्व, जितनी पीड़ाएँ, जितने सघर्ष खडे होते है—इन्सान-इन्सान के बीच मे, वे प्राय· इसी असविभाग के कारण होते है । मैत्री वहाँ से विदा हो जाती है । जहाँ भी द्वन्द्व खड़े हो, समझ लीजिए वहाँ जीवन के आधारभूत साधनो का ठीक तरह से सविभाग नही हो पाया है । यह प्रश्न आज का नही है, हजारों-लाखो वर्षों पहले का है ।

समष्टि चेतना के लिए व्यक्ति अपने आप मे क्या करे ? यह सनातन सवाल रहा है । भ० महावीर का दर्शन उत्तर मे कहता है – व्यक्ति अपने आपको समष्टि का एक अग मान कर चले और आस-पास के जगत् से उसे जो भी प्राप्त हो, वह जगत् का है, यह मानकर समष्टि के लिए अर्पण करके उसका उपभोग करे । जैसा कि 'ईशावास्योपनिषद्' मे भी कहा है—

"ईशावास्यमिद सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेनत्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध· कस्यविद धनम् ?"

इन चराचर जगत् में जो कुछ भी है, वह सब ईश से व्याप्त है । यानी

जैन दृष्टि से समष्टि में समाविष्ट है । उसका त्याग (संविभाग) करके उपभोग करो । किसी भी पदार्थ पर ललचाओ मत । यह धन, यह ऐश्वर्य किसका है ? अर्थात् किसी एक का नहीं, समाज का है । 'ईशावास्योपनिषद' भ० महावीर के सविभाग-दर्शन की ही साक्षी दे रहा है । यहाँ जैन दर्शन और वैदिक दर्शन एक है । वास्तव में यही तो समाजवाद की मूल आत्मा है ।

भ० महावीर ने मानव जाति के छोटे-बडे सभी वर्गों के अधिकार का प्रश्न भी संविभाग से हल किया । वास्तव में जो अभाव है, वही दुनिया में सबसे वडा पाप है । और जव अभाव होता है, तो पीड़ित मानव कुछ का कुछ कर गुजरता है । अतः अभाव की समस्या का हल होने में ही मानव जाति का कल्याण है और अभाव का हल सविभाग है । संविभाग के सिवाय और किसी उपाय से वह हल नही हो सकता । अतः महावीर का यह दर्शन इन्सान की समस्या की जड़ पर पहुँचता है ।

ढाई हजार वर्ष का संसार हमारे समक्ष है । इतिहास की आँखों से उससे पहले के संघर्षरत जगत् का भी हम अवलोकन कर रहे है । महाभारत और रामायण का युद्ध भी हम देखते है । इतिहास के पन्नों पर भ० महावीर के युग का वह चेटक-कोणिक का भयंकर संग्राम भी हमने पढा और सुना है । आज भी हम कई युद्ध देख रहे है । इन सबके मूल में मानव का अन्धा स्वार्थ है और है असंविभाग के कारण भड़की हुई आग । अगर कोई एक जाति या धर्म के नाम पर इस समस्या को हल करना चाहे, इस आग को बुझाना चाहे, तो वह असफल होगा । एक जाति या धर्म के नाम पर किया गया समाधान कुछ दूर तक तो चल सकता है, लेकिन आगे चलकर किसी न किसी रूप में वह असंतोष की आग भडके विना नही रहेगी । आखिर जो अभाव है, वह एक न एक दिन उभर कर ऊपर आएगा ही । इसलिए एक जाति के और एक धर्म के लोग भी लडते है । और तो क्या एक परिवार के लोग भी झगड़ते है, विभक्त होते है । दो भाई—जो एक ही रक्त के होते है, उनका भी बॅटवारा होता है । धर्म के नाम पर, जाति और परिवार के नाम पर कब तक एकता रखेगा मनुष्य ? कब तक किसी को भुलावे मे डाल रखेगा वह ? बगला देश का उदाहरण ले लीजिए । एक धर्म के होते हुए भी अलग हो गए । चालाक लोग वास्तविक सत्य को दबाने के लिए जाति और धर्म आदि के झूठे नारे खड़े कर देते है । साधारण लोग उनके भुलावे में आ जाते है । इसका अर्थ यह है कि मूल प्रश्न कुछ और होते है, जनता को भुलावे मे डालने के लिए वताए जाते है कुछ और, लेकिन वह भुलावा अधिक देर तक नही टिक सकता । एक बार भले ही कोई किसी को धोखे में डाल दे । मगर सत्य आखिर एक न एक दिन खुल कर रहता है ।

अतः जो संघर्ष या द्वन्द्व होते है या अभाव पैदा होते है, वे आपसी

ठीक तरह से वितरण न करने से होते है और इसके समाधान का विशुद्ध उपाय है भ० महावीर का सविभाग ।

५. भौतिक व आध्यात्मिक-शुद्धि

जगत्-जगत् है अपने आप में आध्यात्मिक जगत् अन्दर मे है और बाह्य जगत् है बाहर मे । बाहर मे भी रहता है इन्सान ! ऐसा नही कि वह सब कुछ अन्दर मे ही रह रहा है । आत्मा शरीर के साधनो की पूर्ति बाह्य जगत् से करती है । तो ऐसी स्थिति मे विचार कीजिए कि इसान की क्या भूमिका है ? ये जो कुछ लोगो ने जगत् के भौतिक और आध्यात्मिक दो टुकडे अलग-अलग कर रखे है, जीवन के ये दो रूप पृथक्-पृथक् बना रखे है, सब गलत है, और निरतर आध्यात्मिकता के नाम पर भौतिकता को ठुकराने की जो वात कही जाती है, वह भी आधारहीन है ।

हमारे ऋषि-मुनि कह सकते है कि पैसा शैतान है, वह आदमी को गिराता है और उससे विवेक नष्ट होता जाता है । यह बात पैसे का महत्त्व मानकर ही कही जा सकती है । क्या सचमुच पैसे मे इतनी ताकत है कि मनुष्य पर उसका काबू रहे ? पैसे की कीमत है और वह भी राज्य अथवा हमारे द्वारा आँकी गई है । अब यह व्यक्ति पर निर्भर है कि वह पैसे को सिर पर चढाता है या पैरो के तले दबाता है या कि जेब मे रखता है । नदी और कुए मे आदमी डूबकर मर जाता है । क्या यह पानी की शैतानियत है ? पानी न शैतान है, न भगवान् । पानी किसी को मार नही डालता, मार नही सकता । आदमी अपनी ही कमजोरी, असमर्थता या अज्ञान से डूबता-मरता है । समझ-बूझकर पानी से काम लिया जाय तो सब ठीक है । वह "जीवन" ही है । पानी न हो तो प्राण तक जा सकते है । यही बात पैसे की है । पैसा सिर्फ पैसा है । उसे हम सिर्फ पैसा समझे और समझ-बूझकर उसका सदुपयोग करे, तो वह बडे काम का भी है ।

अर्थ-व्यवस्था के दो पक्ष होते है—पूँजी और श्रम । इनमे भी सर्वोच्च स्थान श्रम का है । महावीर ने श्रम को जितनी प्रतिष्ठा दी, उतनी शायद ही मार्क्स दे पाया हो । उन्होने कहा—जो श्रम करता है, वही श्रमण है अर्थात् सत है । "श्रम ही साधना" है—यह बात विचारक—ससार मे टॉलस्टाय कह पाया था, जिसे रूस की जनता साम्यवाद का एक प्रचेता मानती है । उससे भी पूर्व महावीर ने श्रम को इतनी बड़ी प्रतिष्ठा दी थी ।

धर्माचार्यो या महापुरुषो ने आर्थिक दृष्टि से विपन्न व्यक्ति को निर्धन माना और इस स्थिति के लिए उसके पूर्व-कर्मो को जिम्मेदार माना । भगवान् महावीर का यह स्पष्ट आघोष रहा है कि गरीवी सग्रह और शोषण

(असंविभाग) का परिणाम है। इस विषय में मार्क्स महावीर के बहुत निकट है। दोनो ने प्रतिपादित किया कि मनुष्य की अभावग्रस्तता या गरीबी उसके भाग्य का फल नही है।

इसलिए यथार्थवाद कहता है कि जीवन के दो टुकडे न करो। टुकडे करने से समस्या का हल नही है, और न आध्यात्मिकता के नाम पर भौतिकता को ठुकराने से ही कुछ होगा। पानी गंदा है तो गदा होने से उसे फैक मत दो। प्यास तो लगेगी ही, तब पानी की मांग भी होगी। अत. जैसा भी पानी है, उसको शुद्ध करो, उसे छानो, उसका परिष्कार करो और उसका उपयोग कर प्यास बुझाओ। अतः भौतिक जीवन को परिष्कृत करो, शुद्ध करो और उसका उपयोग करके आवश्यकता की प्यास बुझाओ। कोई भी धर्म जीवन की वास्तविक आवश्यकताओ को ठुकरा नही सका है। जगत् मे धन, सम्पत्ति या ऐश्वर्य के जितने भी जीवनोपयोगी रूप है, क्या जैन धर्म उसका कोई द्वेषी है ? क्या जैन धर्म यह चाहता है कि सारा ससार दरिद्र, कगाल या भिखमंगा बन जाए ? क्या उसका मकसद यह है कि सारा ससार आज ही मुनि बन जाए और संथारा करके बैठ जाए ? क्या इससे समस्या हल हो जाएगी ? क्या फिर किसी से किसी को कोई अपेक्षा नही रहेगी ? क्या फिर इस जीवन मे कोई दूषण ही नही आने पाएगा ?

अगर हम अन्तर की गहराई मे उतर कर देखे तो हमारे सामने यह स्पष्ट भासित होगा कि ऐसा न कभी हुआ है, और न कभी होगा। इसका अर्थ यह है कि विश्व जगत् मे हमारा व्यावहारिक जीवन दूषित हो गया है, दूषित मनोवृत्ति के कारण से समाज का धन दूषित हो गया है, ऐश्वर्य दूषित हो गया है, सिहासन दूषित हो गए है, राजनीति दूषित हो गई है, परिवार दूषित हो गए है। इन सबके परिष्कार के लिए हमारी मनोवृत्ति का संस्कार करना होगा। उसे शुद्ध करके उसका सही रूप मे उपयोग करना होगा।

ऐसी स्थिति मे भ० महावीर का कहना है कि तुम अन्दर के जगत् मे भी रह रहे हो और बाह्य जगत् मे भी रह रहे हो। तुम विराट् हो। तुम्हारा जीवन उभयमुखी है। जब तक जगत् मे रह रहे हो, तब तक दोनो तरफ परिष्कार की आवश्यकता है। अन्दर को भी मांजो, अन्दर को भी निखारो। अन्दर भी बहुत से भूत-प्रेत, शैतान और हैवान है। वहाँ भी बहुत से साप और अजगर फु कार मार रहे है। इनको भी साफ करो। और बाह्य जीवन मे भी परिवार, राष्ट्र, समाज और जगत् मे जो विग्रह, कलह, द्वन्द्व खडे है, सघर्ष के अजगर फु कार रहे है, दूषित वातावरण है। उनका भी परिष्कार करो, परिमार्जन करो। जीवन मे शान्ति इकतरफा नही हुआ करती। जीवन उभयमुखी है। इसलिए शान्ति भी उभयमुखी ही होगी।

भ० महावीर का स्पष्ट कथन है कि जीवन के सत्य का ठीक यथार्थ सत्य के रूप में दर्शन करो, भावुकता के रूप मे नही । केवल भावुकता समस्या को हल नही कर सकती । सत्य के पीछे गहरा विवेक जागृत होना चाहिए, चिन्तन-मनन की बुद्धि होनी चाहिए । चिन्तन के बिना सत्य का यथार्थ मृत रहता है, सचेतन नहीं होता । अत: देश, काल, व्यक्ति एव परिस्थिति आदि के समग्रता प्रधान चिन्तन से सत्य के मूल को पकड़ो । मूल को पकडोगे तभी जाकर जीवन का परिष्कार हो सकेगा, अन्यथा नही ।

यह दुर्भाग्य का विषय रहा है कि महावीर को गत २५०० वर्षो में दुनिया के लोगो ने समझने और अनुसरण करने का प्रयास किया ही नही । अन्यथा विश्व में एक महान् रक्तहीन आर्थिक क्रान्ति होती और हमारे सामाजिक-आर्थिक तत्र का समाजवादी आधारों पर नवनिर्माण कभी का हो जाता । अपरिग्रह के सिद्धान्त को मानने वालों ने महापरिग्रह का जीवन चुना, सविभाग के प्रचेता के नाम पर स्वामित्व, विषमता, शोषण एवं हिसा का मार्ग चुना । फलत: वर्ग-संघर्ष एवं घृणा का वातावरण बन गया, जो निरन्तर बढता जा रहा है। वस्तुत' हमारे सम्मुख इस गहरे अन्धकार में विकल्प स्पष्ट है— अपरिग्रह, जो समाजवादी समाज रचना का भारतीय आदर्श है, इसे अपनाकर ही मानवता को राहत दिलाये, अन्यथा खूनी क्रान्ति का सामना करें ।

□ □ □

सच्ची शान्ति

शान्ति नही तब तक जब तक,
सुख–भाग न नर का सम हो ।
नही किसी को वहुत अधिक हो,
नही किसी को कम हो ।।

ऐसी शान्ति राज्य करती है,
तन पर नही हृदय पर ।
नर के ऊँचे विश्वासो पर,
श्रद्धा, भक्ति, प्रणय पर ।।

—रामधारीसिह 'दिनकर'

४८

अपरिग्रह : व्यावहारिक चुनौतियाँ

□ डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

धर्म की एक सार्वभौमिक धारणा है और एक साम्प्रदायिक। सभी 'धर्मों' मे वाह्य नियमो या आचार के भीतर धर्म की सार्वभौमिक धारणा मिलती है। अर्थात् 'धर्म' का प्रतीयमान लक्षण तो 'आचार' होता है, बाहरी चिह्न, नियमानुशासन, आचरण के सूत्र, विधि-निषेध के अनुशासन-आदेश, 'यह करो, यह मत करो' इत्यादि। उदाहरण के लिए जैन-बौद्ध-इस्लाम-हिन्दू-ईसाई धर्मो मे वेषभूषा, खान-पान, आराधना, पूजा, व्यवहार-वर्ताव, शिष्टाचार आदि के आचारगत नियम भिन्न-भिन्न है। ऊपर से, इन्ही लक्षणो से धर्मविशेष की पहचान होती है। ये आचार भी, धर्मविशेष की विचारधारा या आइडियालॉजी पर आधारित होते है। विचार से आचारको पृथक् नही किया जा सकता और इस विचारधारा में धर्मविशेष की विश्व दृष्टि (वर्ल्ड व्यू) मूल्य व्यवस्था (Value-system) और मिथक (Myth) या पौराणिकता भी सम्मिलित रहती है।

किन्तु, इस विचारधारा मे एक अतर्वस्तु ऐसी भी होती है जो सार्वजनिक, सर्ववर्गीय, सार्वभौम और सार्वकालिक मानव-कल्याण के आदर्श पर आधारित होती है। वस्तुतः इसी धरातल पर, मानवध्येयो के इसी उच्च धरातल पर, सर्वधर्मो की एकता सिद्ध होती है किन्तु व्यवहार में धर्मो का रूप संकीर्ण और साम्प्रदायिक होता है। वे पृथक् पहचान के लिए अपना-अपना आचार-विचार दूसरो से अलग रखकर इन चिह्नो के लिए आपस मे विग्रह करते रहते है और मानव समाज की मूल एकता को विखडित करते हुए साम्प्रदायिक समाज (Cult-society) की रचना और रक्षा करते है।

अतएव धार्मिक-साम्प्रदायिकता से बचने का एक उपाय तो यही है कि धर्मो के मूल का अनुसधान हो जो एक ओर मिथक या विश्वास या पोराणिकता पर आधारित होता है तो दूसरी ओर मानवहित के चरम आदर्शो पर।

उदाहरण के लिए सभी धर्मो का सार यह है कि किसी भी प्राणी को पीडा पहुँचाना अधर्म है—

सव्वे अक्कांत दुक्खा य
अओ सव्वे अहिसिया

सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय लगता है अत· किसी की हिसा मत करो।

इस अहिसा की उच्चतम धारणा मे मन-वचन-कर्म से किसी को कष्ट न देना शामिल है । स्पष्ट है कि अपने स्वार्थ के लिए किसी का प्रयोग शोषण है और शोषण सबसे बड़ी हिसा है ।

परहित सरिस धरम नहि भाई ।
पर पीडा सम नहि अधमाई ।। (तुलसी)

सर्वे वेदा न तत्कुर्युः सर्वे यज्ञाश्च भारत ।
सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च, यत्कुर्यात् प्राणिना दया ।।
(शांतिपर्व, महाभारत)

प्राणियो पर दया जो फल देती है वह चारों वेद भी नही दे सकते और तीर्थो के स्नान तथा पवित्र स्थान भी यह फल नही दे सकते ।

'गीता' में विकारो के मूल मे तृष्णा[1] या इच्छा या लोभ को माना गया है, जैन-बौद्ध-धर्मो मे भी तृष्णा ही सर्वदु.खकारक मानी गई है । तृष्णातृप्ति के लिए ही हिसा करनी पड़ती है अतः जब तक तृष्णा है तब तक हिसा अनिवार्य है ।

इस रूप मे, तृष्णा, हिसा और उन पर आधारित संग्रह या परिग्रह के आत्यतिक निर्मूलन के चरम आदर्श को मानव जीवन का ध्येय सिद्ध करने वाली यह तर्क पद्धति, रागात्मक सामान्य जीवन को पापमय सिद्ध कर देती है और वैराग्यमय जीवन ही निष्पाप, निर्विकार और मुक्तिकारक प्रमाणित हो जाता है ।

प्रायः सभी पारम्परिक-समाजों में यह माना जाता है कि राग-द्वेषपरक सामान्य आहारविहारात्मक निद्रामैथुनमय जीवन मे उच्चता असम्भव तो नही पर दुःसाध्य है, अत. सन्यास को श्रेष्ठ माना गया है और इसी धारणा के कारण सामान्य जन लगभग एक करोड़ साधु-सन्यासियो-वैरागी-औघडो-अवधूतो को पाल पोस रहा है और बदले मे उनसे डॉट फटकार पा रहा है, अपराधभाव पनपा रहा ह । इन करोडो पुरोहितो तथा बाबालोगो और बाह्यों मे निश्चय ही कई श्रेष्ठ साधक होते है, कई पहुँचे हुए अतर्दृष्टि-सम्पन्न सिद्ध भी किन्तु अधिकतर बाबासमाज मे अधविश्वास-पाखण्ड-प्रपंच और पापपोपलीला ही दिखाई पडती है और यह पूरा समुदाय, परजीवीवर्ग (पैरासाइट्स) बन गया है जो सामान्य जन मे अधविश्वास जगाता रहता है और आधुनिक विज्ञान-शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन के विचारो और मूल्यों को व्यर्थ कर देता है । वर्गीय समाज की यथास्थिति बनाए रखने में एक बहुत बडा कारक यह बाबा समाज भी है जो

---

१ ध्यायतो विषयान् पु स ।

चरम आदर्श की बाते करता है और व्यापक जनहित में किसी भी तब्दीली का विरोधी है। यह जनएकता मे मुख्य बाधक समुदाय है।

अतएव अमूर्त्त और चरम धारणा के रूप में, धर्मो ने, अनेक प्रत्ययो (कसैप्ट्स) को सार्वभौमिक रूप मे प्रस्तुत किया है। यदि व्यवहार की बात छोड दे तो कथनी के रूप मे उच्च आदर्शो का आकर्षक विधान धर्मो मे उपलब्ध है और इस सार्वभौम स्तर पर सभी धर्मो मे अविरोध है।

इन्ही सार्वभौम प्रत्ययो मे जैन धर्म का **अपरिग्रह का सिद्धान्त** है जो समाजवाद और पूँजीवाद के सघर्ष के इस युग मे अत्यन्त प्रासंगिक है।

ऊपर कहा जा चुका है कि विकारो के मूल मे इच्छा या तृष्णा होती है और भवचक्र इसी की पूर्ति के संदर्भ मे शुरू होता है। परिग्रह से ही तृष्णा की तृप्ति होती है, अपरिग्रही या तो इच्छा ही न रखे या इच्छा रखने पर मन के भीतर लोलुपता न पाले अत आदर्श तो यही है कि इच्छा का सम्पूर्ण निर्मूलन ही हो तभी कोई व्यक्ति अपरिग्रही हो सकता है। परिग्रही कभी मुक्त नही हो सकता—

चित्तमतमचित्त वा, परिगिज्भ किसामचि।
अन्न वा अणुजाणइ, एव दुक्खाणा मुच्चइ॥

किन्तु यह चरम आदर्शवाद सामान्य जीवन के परे की वस्तु है, अत· अपरिग्रह को वस्तुओ का त्याग न मानकर जैन धर्म मे मनोवैज्ञानिक दशा के रूप मे भी माना गया है। साधको-सिद्धो-वैरागियो के लिए तो ठीक है कि वे अपरिग्रह का उच्चतम आदर्श प्रस्तुत करे, परम अकिचन् रहे किन्तु तब सामान्य जीवन असभव होगा।

अत. जैनमत मे अपरिग्रह के मनोवैज्ञानिक प्रकार को माना गया है। आचार्य श्री शय्यभव के अनुसार परिग्रह मूर्च्छा अर्थात् आसक्ति का नाम है। जेन शब्द, 'मूर्च्छा' बहुत सटीक शब्द है क्योकि वस्तु या व्यक्ति के प्रति आसक्ति के क्षणो मे चेतना मूर्च्छित रहती है, इसमें ज्ञानज ताटस्थ्य नही रहता, वस्तु और व्यक्तियो के प्रति चिपकाव की मनोदशा मे स्वतत्र बुद्धि सोच-विचार का कार्य वन्द कर देती है।

यदि अपरिग्रह मनोदशा है तो वह भीतरी अवस्था है और वह वस्तुओ और व्यक्तियो के सग्रह की दशा मे भी रह सकती है—

मूर्च्छ्या रहिताना तु जगदेवा परिग्रह·
(ज्ञानसार)

आसक्ति न हो तो सारे संसार का ऐश्वर्य भी मनुष्य को विकृत/विचलित नही कर सकता अत: इस रूप मे अपरिग्रह का अर्थ है, अनासक्ति और अनासक्ति

वस्तु से असम्बन्धित होती है या हो सकती है क्योंकि – अनासक्त व्यक्ति, वैभव और अधिकारों के बीच भी मनसा तटस्थ रह सकता है, जब चाहे उस सुख को छोड़ सकता है और मूर्च्छित / आसक्त व्यक्ति वैरागी हो जाने पर भी, मन ही मन लोलुपता पाले रखता है, अत: अपरिग्रह, आतरिकता है, बाह्यता नही ।

इसी रूप में जनक, याज्ञवल्क्य और कृष्ण ने अनासक्त योग या जीवन-मुक्तावस्था की धारणा का प्रवर्त्तन किया था । 'गीता' में अनासक्त योग या कर्म-योग का विशदीकरण मिलता है और इस ग्रथ मे सामान्य जीवन या कर्ममय जीवन तथा आध्यात्मिक जीवन की एकता स्थापित की गई है कि जो वरेण्य है, श्रेष्ठ है, कर्त्तव्य है, उसे अनासक्त होकर करो ।

यदि अपरिग्रह का अर्थ अनासक्ति है तो वैराग्य धारण करना आवश्यक नही रहता क्योकि सामान्य जीवन जीते-भोगते हुए भी जब भीतर से, जल में कमल-पुष्पवत् रहा जा सकता है तब असामान्य वैरागी जीवन जीकर आत्म-निषेध की क्या आवश्यकता है ?

जैनधर्म में अपरिग्रह के कई भेद किए गए है—

क्षेत्र परिग्रह—ये दो प्रकार के है । सिचित भूमि को सेतु और असिचित भूमि को केतु कहा गया है । क्षेत्र के प्रति आसक्ति ही क्षेत्र-परिग्रह है ।

वास्तु—भवन के प्रति आसक्ति । खात (तलघर) उच्छृत और खातो-च्छृत आदि भवनो के प्रकार होते है ।

हिरण्य (स्वर्ण), धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, कुप्य आदि वस्तुएँ परिग्रह के अन्य रूप है । इनमे '**द्विपद**' शब्द रोचक है । 'द्विपद' का अर्थ है, दास, दासी, मोर, हस आदि दो पैरो वाले प्राणी । क्योकि प्राचीनकाल मे दास प्रथा प्रचलित थी, विशेषकर गृहदास प्रथा । अत. दासो को "द्विपद" कहकर उन्हे दो पैरो वाले पक्षियो-पशुओ की श्रेणी मे रखा गया है । तथाकथित आदर्शवादी-अपरि-ग्रही, कितने असवेदनशील हो सकते है, विषमता के समर्थक, यह इस एक ही उदाहरण से प्रमाणित है ।

अहिसा के घोर समर्थक जैन और बौद्ध समाजो मे भी, वैराग्य के क्षेत्र मे, सघों मे तो समता थी पर सामान्य जीवन मे दास प्रथा के विरुद्ध कोई घृणा नही थी । इसीलिए अपरिग्रह यदि मात्र मानसिक प्रत्यय है, समाज मे वस्तुओ और व्यक्तियो से वह असम्बन्धित है तो वह कितना क्रूर हो सकता है, कितना अपरि-वर्तनवादी, यह स्पष्ट है ।

आदर्श रूप मे जैनमत मे तो हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपु सकवेद और मिथ्यात्व को भी परिग्रह माना गया है किन्तु इस उच्च परिग्रह के प्रचारको-प्रवर्त्तको ने वर्ग-वैषम्य का कभी विरोध नही किया अर्थात् वर्ग-हिसा-वर्गशोषण पर प्रबल प्रहार

नही किया। यही कारण है कि जैन और बौद्ध मतों की भूमिका जागरणकारी, मानवीय और सुधारक की भूमिका रही है, क्रान्तिकारी नही। आज जैन समाज यथास्थिति का सम्पोषक समुदाय है।

यदि अपरिग्रह को मात्र मानसिक प्रत्यय माना जाता रहेगा, तो यही होगा, यथास्थिति बनी रहेगी। अहिसक समाज बनाने के लिए जरूरी है कि मनुष्य मात्र के लिए जीवन धारण और विकास के लिए आवश्यक वस्तुओं या ससाधनों की व्यवस्था की जाए और यह "दान" द्वारा न हो क्योकि "दान" से याचक में हीनभाव और दानी में अहम्मन्यता उपजेगी ही, इससे बचाव असभव है। अत: अपरिग्रह, अहिसा, सत्य आदि मानवीय आदशो की मात्र परिकल्पना न कर उन्हे वास्तविक जीवन मे चरितार्थ कर सकने वाली सामाजिक व्यवस्था स्थापित होनी चाहिए। मात्र व्यक्ति मे परिवर्तन के लिए धार्मिक प्रयत्न, अपर्याप्त, भ्रान्तिकारी और अपूर्ण है, परिवर्तन वर्गीय संरचना मे होने चाहिए ताकि एक अहिसक-समसमाज बन सके।

जैनधर्म के अहिसा, सत्य और अपरिग्रह के चरम आदर्श यकीनन प्रेरक है किन्तु उन्हे समाज मे चरितार्थ नही किया जा सका। शताब्दियो से ऋषि, मुनियो, सिद्ध साधको ने चरम आदर्शो का प्रचार किया है किन्तु समाज में न अहिसा आ पाई, न अपरिग्रह। साधुओ और गृहस्थो की समान अन्तरवाली व्यवस्था जो बनी वह यथावत चली आ रही है। धर्म आचार के रूप मे प्रचलित रहा है, व्यवहार मे वही सूक्ष्म हिसा, शोषण और परिग्रह रहता आया है। परिग्रही दान देकर अपने अपराध भाव को दूर करना चाहते रहे है किन्तु दान से अपराध भाव समाप्त नही होता, वह अपराध के त्याग से होता है।

अतएव चरम आदर्शो का प्रचार भी जन साधारण की दृष्टि से, वितरण न्याय के अभाव में मात्र उपदेश सा लगता है, प्रवंचक आवरण भी क्योकि परि-ग्रही समाज अपने शोषण से किए गए संग्रह को छिपाता है।

मै समझता हूँ कि यह आधारभूत चुनौती है, जैन समाज के सम्मुख भी कि अमूर्त्त चरम आदर्शो का प्रचार होता रहे और व्यवहार मे वैषम्य, हिसा और शोषण की व्यवस्था और बर्ताव बना रहे अथवा परिग्रह के ससाधनो का निजी स्वामित्व समाप्त कर दिया जाए, भूमि, उद्योग आदि का समाजीकरण कर दिया जाए ताकि परिग्रह का वस्तुगत आधार ही समाप्त हो जाए और वर्गहीन अहिसक समाज बनाया जा सके।

प्रूधो ने कहा था कि—'सम्पत्ति चोरी है' तो उसका अर्थ यह था कि सम्पत्ति पर, वायु और जल की भाँति भूमि, निधि, कारखाना या अन्य ससाधनों पर निजी स्वामित्व की परिकल्पना परिग्रही कल्पना है और निजी स्वामित्व चौर्यकर्म या दस्युता है क्योकि शोषण के बिना सम्पत्ति बनती नही है।

अतः समाजवादी व्यवस्था में ही व्यवहार्य-अपरिग्रह का जैन सिद्धान्त चरितार्थ हो सकता है, पूँजीवादी व्यवस्था में अपरिग्रह, अहिंसा, सत्य, न्याय और समानता की बात सोचना आत्मभ्रम है।

वस्तुत: जैनशास्त्रों में—जो ऊँचे मानवादर्श है, वे सही है, सच्चे भी है पर वे अमूर्त्त (Abstract) और अव्यवहार्य है। वे व्यक्ति के विकास की सभावना पर निर्भर है। निश्चय ही जैन समाज में कुछ महान् व्यक्ति अपरिग्रही हो सकते है, है भी, किन्तु उससे सम्पूर्ण समाज की मुक्ति की कोई सभावना नही बनती।

धर्म वैयक्तिक मुक्ति के लिए प्रेरणा देते है और 'अणुव्रत' के रूप मे सुधार की। बौद्धमत में अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व की कल्पना वहुत मनोहर है। सुखावती स्वर्ग में जाने की योग्यता होने पर भी बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर ने स्वर्ग स्वीकार नही किया और कहा कि जब तक प्रत्येक प्राणी का दु:ख दूर नही होता, तब तक वे स्वर्ग नही जाएँगे। कहा जाता है कि अवलोकितेश्वर आज भी ऊर्ध्वलोक से नीचे की ओर सकरुण-नेत्रो से देख रहे है।

अनुत्तर योगी महावीर तथा अन्य तीर्थकरो और जैन मुनियो ने व्यक्तिशः मानवीय दुर्बलताओ का अतिक्रमण कर त्याग और आत्मानुशासन की उच्चतम परम्परा कायम की। उनके उपदेशो में वस्तुत: स्वतंत्रता, समता और बधुत्व की क्रान्तिकारी प्रेरणा विद्यमान है किन्तु व्यवहार (Practice) मे उनके नाम पर जो सम्प्रदाय बना, वह परिग्रह का प्रतीक बन गया।

इतिहास का यह कोई आश्चर्य नही है बल्कि यह अनिवार्य था क्योकि चरम आदर्श प्रेरक होने पर भी मात्र कुछ व्यक्तियो को प्राकृतिक प्रवृत्तियो से परे ले जाते है जबकि बहुसख्यक समाज उन्हे 'भगवान' मानकर पूजा करने लगता है और व्यवहार मे परिग्रही, हिसक और वैषम्यवर्धक जीवन व्यतीत करता है।

अतएव समाजवैज्ञानिको ने पुरानी धार्मिक विचारधाराओ के स्थान पर समाज अभियांत्रिकी (Social Engineering) का विकास किया। प्रूधो-क्रोपाटकिन जैसे अराजकतावादियो और मार्क्स-एगिल्स जैसे साम्यवादियो ने व्यवहार्य आदशो का प्रकल्प प्रस्तुत किया और अमूर्त्त सिद्धान्तो/दर्शनो को 'अफीम' मे खोए रहने की जगह कहा कि अव्यावहारिक, अवैज्ञानिक व्याख्याओ का चक्कर छोड़कर इस विषम-परिग्रही-हिसक और शोपक समाज व्यवस्था को वदलो और वर्ग शोषणमुक्त समाज की स्थापना करो।

वस्तुत. जैनमत के महामुनियो का अपरिग्रही-आग्रह, सच्चे समाजवादी समाज की स्थापना से ही पूरा होगा। जैनमत के मूल मे सार्वभौम समतावादी धारणाएँ है, उन्हे समाज मे चरितार्थ करने की चुनौती जैन-अजैन सभी सज्जनो को स्वीकार करनी चाहिए। □ □ □

४९

अपरिग्रह : व्यक्ति और समाज के सन्दर्भ में

□ डॉ प्रेम सुमन जैन

वर्तमान युग के विकासशील व्यक्ति एवं समाज के जीवन में जितनी अधिक भौतिक समृद्धि आयी है, उतनी मात्रा मे ही उसे अनुभव होने लग गया है कि वास्तविक सुख वस्तुओ के सग्रह मे नही है। धन के सविभाग, विसर्जन से ही कुछ आत्मिक शान्ति मिल सकती है। जीवन का सार ग्रन्थी होने मे नही है, निर्ग्रन्थ के पथ की तलाश में है। तृष्णा के तिरोहित करने मे है। भारतीय धर्म-दर्शन मे तृष्णा से मुक्ति एव त्याग की भावना आदि का अनेक ग्रन्थों में प्रतिपादन है, किन्तु अपरिग्रह के स्वरूप एवं उसके परिणामों का सूक्ष्म विवेचन जैन ग्रन्थो मे ही अधिक हुआ है। पार्श्वनाथ के चातुर्याम विवेचन से लेकर प. आशाधर तक के 'श्रावकाचार' ग्रन्थों मे पाच व्रतों के अन्तर्गत परिग्रह-परिमाण व्रत की सूक्ष्म व्याख्या की गयी है। उस सबका विवेचन यहाँ प्रतिपाद्य नही है। मूल वात इतनी है कि जैन गृहस्थ अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ अपरिग्रह व्रत को भी जीवन मे उतारे। वस्तुत: यह पाचवा व्रत कसौटी है श्रावक व साधु के लिये। यदि वह अहिसा आदि व्रतो के पालन में प्रामाणिक रहा है तो वह परिग्रही हो नही सकता और यदि वह परिग्रही है तो अहिसा आदि व्रत उससे सधे नही है। अपरिग्रह के इस दर्पण में आज के भारतीय समाज का मुखौटा दर्शनीय है।

परिग्रह की सबसे सूक्ष्म परिभाषा 'तत्त्वार्थ सूत्र' मे दी गयी है—'मूर्च्छा परिग्रह.।' भौतिक वस्तुओ के प्रति तृष्णा व ममत्व का भाव रहना मूर्च्छा है। इसी वात को 'प्रश्न व्याकरण' सूत्र आदि ग्रन्थो मे विस्तार से दिया गया है। अन्तरग परिग्रह और वाह्य परिग्रह की बात कही गयी है। आत्मा के निज गुणो को छोडकर क्रोध, लोभ आदि परभावों को ग्रहण करना अन्तरग परिग्रह तथा ममत्व भाव से धन, धान्य आदि भौतिक वस्तुओ का सग्रह करना वाह्य परिग्रह है।

प्रश्न यह है कि जिस परम्परा के चिन्तक परिग्रह से सर्वथा निर्लिप्त होकर विचरे, जिनके उपदेशो मे सबसे सूक्ष्म व्याख्या परिग्रह के दुष्परिणामो की की गयी, उसी परम्परा के अनुयायियो ने परिग्रह को इतना क्यो पकड रखा है? भौतिक समृद्धि के कर्णधारो में जैन समाज के श्रावक अग्रणी क्यो है ? भगवान् महावीर के समय मे भी श्रेष्ठिजन थे। उनके वाद भी जैन धर्म में सार्थवाहों की कमी नही

रही। मध्ययुग के शाह और साहूकार प्रसिद्ध है। वर्तमान युग मे भी जैन धर्म के श्रीमन्तो की कमी नही है। ढाई हजार वर्षो के इतिहास मे देश की कला, शिक्षा व संस्कृति इन श्रेष्ठजनों के आर्थिक-अनुदान से संरक्षित व पल्लवित हुई है। किन्तु इस वर्ग द्वारा सचित सम्पत्ति से पीड़ित मानवता का भी कोई इतिहास है क्या ? इनके अन्तर्द्वन्द्व और मानसिक पीडा का लेखा-जोखा किया है किसी ने ? भौतिक समृद्धि की नश्वरता का आठों पहर व्याख्यान सुनते हुए भी परिग्रह के पीछे यह दीवानगी क्यो है ? कौन है इसका उत्तरदायी ? इन प्रश्नो के उत्तर खोजने से ही व्यक्ति और समाज के परिप्रेक्ष्य मे अपरिग्रह को समझा जा सकेगा।

भारतीय समाज की संरचना की दृष्टि से देखे तो महावीर के युग तक वर्णगत व्यवस्था प्रचलित हो चुकी थी। किन्तु अहिसा की उसमे सर्वाधिक प्रमुखता होने से कृषि और युद्धवृत्ति को अपनाने वाले वर्ग ने जैन धर्म को अपना कुलधर्म बनाने मे अधिक उत्साह नही दिखाया। व्यापार व वाणिज्य मे हिसा का सीधा सम्बन्ध नही था, अतः जैनधर्म वैश्यवर्ग के लिये अधिक अनुकूल प्रतीत हुआ। और वह क्रमश· श्रेष्ठजनों का धर्म बनता गया। इस तरह श्रीमन्तो के साथ व्यापारिक समृद्धि और जैनधर्म दोनों जुडे रहे। विभिन्न प्रकार के दानो द्वारा परिग्रह-संग्रह की अपरोक्ष स्वीकृति मिलती रही।

श्रेष्ठिजनो के साथ जैनधर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध होने से वह दिनो-दिन मंहगा होता गया। मूर्ति-प्रतिष्ठा, मंदिर-निर्माण, दान की अपार महिमा आदि धार्मिक-कार्य बिना धन के सभव नही रह गये। साथ ही इन धार्मिक-कार्यो को करने से स्वर्ग की अपार सम्पदा की प्राप्ति का प्रलोभन भी जुड़ गया। व्यापार-वुद्धि वाले श्रावक को यह सौदा सस्ता जान पड़ा। वह अपार धन अर्जित करने लगा। उसमे से कुछ खर्च कर देने से स्वर्ग की सम्पदा भी सुरक्षित होने लगी। साथ ही उसे वर्तमान जीवन मे भी महान् दानी व धार्मिक कहा जाने लगा। इस तरह परिग्रह और धर्म एक दूसरे के बराबर आकर खड़े हो गये। महावीर के चिन्तन से दोनो परे हट गये।

परिग्रह-सचय का तीसरा कारण मनोवैज्ञानिक है। हर व्यक्ति सुरक्षा मे जीना चाहता है। सुरक्षा निर्भयता से आती है और निर्भयता पूर्णता से। व्यक्ति अपने शरीर की क्षमता को पहिचानता है। उसे अगरक्षक चाहिये, सवारी चाहिये, धूप एव वर्षा से वचने के लिये महल चाहिये। और वे सब चीजे चाहिये जो शरीर की कोमलता को वनाये रखे। इसीलिए इस जगत मे अनेक वस्तुओ का सग्रह है। शरीर की अपूर्णता वस्तुओ से पूरी की जाती है। शरीर के सुख का जिसे जितना अधिक ध्यान है, वह उतनी ही अधिक वस्तुओ के संग्रह का पक्षपाती है। इन वस्तुओ के सामीप्य से व्यक्ति निर्भय वनना चाहता है। धर्म, दान-पुण्य उसके शरीर को स्वर्ग की सम्पदा प्रदान करेंगे इसलिए उसने धर्म को

भी वस्तुओं की तरह संग्रह कर लिया है। वस्तुओं को उसने अपने महल में संजोया है। धर्म को अपने बनाये हुए मन्दिर मे रख दिया है। इस तरह इस लोक और परलोक दोनो जगह परिग्रही अपनी सुरक्षा का इन्तजाम करके चलता है।

आधुनिक युग में परिग्रही होने के कुछ और कारण विकसित हो गये है। भय के वैज्ञानिक उपकरण बढे है। अत: उनसे सुरक्षित होने के साधन भी खोजे गये हैं। वर्तमान से असंतोष एव भविष्य के प्रति निराशा ने व्यक्ति को अधिक परिग्रही बनाया है। पहले स्वर्ग के सुख के प्रति आस्था होने से व्यक्ति इस लोक मे अधिक सुखी होने का प्रयत्न नही करता था। अब वह भ्रम टूट गया है। अत· साधन-सम्पन्न व्यक्ति यही स्वर्ग बनाना चाहता है। स्वर्ग के सुखो के लिये रत्न, अप्सराएँ आदि चाहिये सो व्यक्ति जिस किसी तरह से उन्हे जुटा रहा है। और उस अपव्यय को रोक रहा है जो वह धर्म पर खर्च करता था। पहले व्यापार और धर्म साथ-साथ थे। अब धर्म मे भी व्यापार प्रारम्भ हो गया है।

परिग्रह के प्रति इस आसक्ति के विकसित होने मे आज की युवा पीढ़ी भी एक कारण है। पहले व्यक्ति अपने परिवार व सम्पत्ति के प्रति इसलिए ममत्व को कम कर देता था कि उसे विश्वास होता था कि उसके परिवार व व्यापार को उसकी सन्तान सम्हाल लेगी। वृद्धावस्था मे वह नि.सग होकर धर्म ध्यान कर सकेगा। कारण कुछ भी हों, किन्तु परिवार के मुखिया को आज की युवा-पीढी मे यह विश्वास नही रहा। वह अपने लिये तो परिग्रह करता ही है, पुत्र मे ममत्व होने से उसके लिये भी जोडकर रख जाना चाहता है। न केवल पुत्र अपितु दामादो का पोषण भी पुत्री के पिता के ऊपर आ गया है। ऐसी स्थिति मे यदि वह परिग्रह न करे तो करे क्या ? समाज मे तो उसे रहना है। पहले एक पिता अपने चार बेटो का भरण-पोषण कर लेता था, किन्तु आज चार बेटे एक पिता के भार को नही उठा पा रहे है। यह सब मनोवृत्तियो के परिवर्तन का खेल है।

वर्तमान सामाजिक मूल्यो से भी परिग्रह-वृत्ति प्रभावित हुई है। चक्रवर्ती सम्राटो व सामन्तों का वैभव साहित्य में पढते-पढते हमारी आँखे चौधिया गयी है। समाज मे हमने उसे प्रतिष्ठा देनी प्रारम्भ कर दी है जो वैभव सम्पन्न है। नैतिक-मूल्यो के धनी हमारी उगलियो पर नही चढते। युवापीढी के कलाकारों, चरित्रवान् युवको व चिन्तनशील व्यक्तियो की हमे पहिचान नही रही। वनावटी-पन की इस भीड में महावीर का चिन्तन कही खो गया है। जीवन-मूल्य को हमने इतना अधिक पकड़ लिया है कि जीव-मूल्य हमारे हाथ से छिटक गया है। और जब जीव का, आत्मा का, निर्मलता का मूल्य न रह ही पनपेगी। कीचड़ ही कीचड़ नजर आयेगी। जड़ता मे मूर्च्छा नही।

निर्ग्रन्थ दशन इसी मूर्च्छा को तोडने की वात करता है । भगवान् महावीर का चिन्तन यही से प्रारम्भ होता है । परिग्रह के इन परिणामो से वे परिचित थे । वे जानते थे कि व्यक्ति जब तक स्वयं का स्वामी नही होगा, वस्तुएँ उस पर राज्य करेगी । उसे इतना मूर्च्छित कर देगी कि वह स्वय को न पहिचान सके। जिस शरीर को उसने धरोहर के रूप में स्वीकार किया है, उस शरीर की वह स्वयं धरोहर हो जाय इससे बड़ी विडम्बना क्या होगी ? अतः महावीर ने आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान से ही अपनी वात प्रारम्भ की है । विना इसके अहिंसा, अपरिग्रह आदि कुछ फलित नही होता । अतः अपरिग्रह की साधना के लिये मूर्च्छा को तोडना आवश्यक है ।

व्यक्ति और समाज के सन्दर्भ मे अपरिग्रही होना कठिन नही है । समझ का फेर है । साधन-सम्पन्न व्यक्ति आज हर रह से पूर्ण होना चाहता है, निर्भय होना चाहता है और चाहता है कि उसका सुख अपरिमित हो, कभी न समाप्त होने वाला । इस सबके साथ वह धार्मिक भी रहना चाहता है । समाज मे प्रतिष्ठित भी । इस सबके लिये उसने दो रास्ते अपनाकर देख लिए । त्याग का और संग्रह का मार्ग । हजारो वर्षो से वह दान करता आ रहा है । करोडो का उसने सग्रह भी किया है । किन्तु छोड़ने और बटोरने की इस आपाधापी में उसने जीवन को जिया नहीं । हमेशा उसका कर्तापन, अहं सिर उठाकर खडा रहा है । इसीलिए उसकी अन्य उपलब्धिया बौनी रह गयी । वह जमाखोर, पू जीपति, पाखण्डी न जाने किन-किन नामो से जाना जाता रहा है । अतः अब ये दोनों रास्ते बदलने होगे । केवल दान देने से अपरिग्रही नही हुआ जा सकता, उसके लिये आसक्ति का त्याग भी जरूरी है ।

महावीर का चिन्तन सही मार्ग खोजने मे बहुत उपयोगी है । उन्होने अहिसा से अपरिग्रह तक का मार्ग प्रशस्त किया । उनकी पहली शर्त है कि तुम अपना गन्तव्य निश्चित करो । बनावटीपन के रास्ते पर चलना है तो स्वप्न मे जीने के अनेक ढंग है । और यदि बाहर-भीतर एक-सा रहना है तो आत्मा और शरीर की सही पहिचान कर लो । आत्म-ज्ञान जितना बढता जायेगा, उतने तुम अहिसक होते जाओगे । जगत् के प्राणियो के अस्तित्व को अपने जैसा स्वीकारने से तुम उनके साथ झूठ नही वोल सकते । कपट नही कर सकते । शरीर से स्वामित्व मिटते ही चोरी नही की जा सकती । क्योकि तुम्हारी आत्मा के विकास के लिये किसी परायी वस्तु की अपेक्षा नही है । सत्य और असत्य को जीने वाला व्यक्ति परिग्रह मे प्रवृत्त ही नही हो सकता । किसके लिए वस्तुओ का सग्रह ? आत्मा निर्भयी है । पूर्ण है । सुखी है । फिर परिग्रह का क्या महत्त्व ? वह तो शरीर के ममत्व के त्याग के साथ की विसर्जित हो गया । यह है महावीर की दृष्टि मे अपरिग्रही होने का महत्त्व । इसी के लिये है—अणुव्रतो और महाव्रतों की साधना ।

प्रश्न हो सकता है कि परम्परा से परिग्रह में आकंठ डूबे रहने से एका-एक आत्म-ज्ञान की समझ कैसे जागृत हो सकती है? व्यापार-वाणिज्य को अचानक छोड देने से देश की अर्थ-व्यवस्था का क्या होगा? अथवा किसी एक या दो व्यक्तियों के अपरिग्रही हो जाने से शोषण तो समाप्त नही होगा? प्रश्नों की इस भीड़ में महावीर की वाणी हमें सम्वल प्रदान करती है।

जैन धर्म को कितना ही निवृत्तिमूलक कहा जाय, किन्तु वह प्रवृत्ति मार्ग से अलग नही। उसमे केवल वैराग्य की बात नही है। समाज के उत्थान की भी व्यवस्था है। 'स्थानांग' सूत्र मे दस प्रकार के जिन धर्मो का विवेचन है, वे गृहस्थ के सामाजिक दायित्वो को ही पूरा करते है। अणुव्रतो का पालन, बिना समाज के सम्भव नही है। श्रावक जिन गुणो का विकास करता है, उनकी अभिव्यक्ति समाज मे ही होती है। अतः महावीर ने अपरिग्रही होने की प्रक्रिया मे समाज के अस्तित्व को निरस्त नही किया है।

गृहस्थ-जीवन मे रहते हुए हिसा, परिग्रह आदि से बचा नही जा सकता, यह ठीक है। किन्तु महावीर का कहना है कि श्रावक अपनी दृष्टि को सही रखे। जो काम वह करे उसके परिणामो से भलीभाति परिचित हो। आवश्यकता की उसे सही पहिचान हो। जीवनयापन के लिए किन वस्तुओ की आवश्यकता है, उनको प्राप्त करने के क्या साधन है, तथा उनके उपभोग से दूसरो के हित का कितना नुकसान है आदि बातो को विचारकर वह परिग्रह करने मे प्रयुक्त हो तो इससे कम से कम कर्मो का वन्ध उसे होगा। श्रावक के बारह व्रत एव ग्यारह प्रतिमाएँ आदि का पालन गृहस्थ को इसी निस्पृही वृत्ति का अभ्यास कराता है। इसी से उसे आत्म-ज्ञान की समझ विकसित होती है। व्यक्ति को उपयोग एव उपभोग के अन्तर को समझना होगा। वस्तुओ के उपयोग से वे दूसरो के काम भी आ सकती हैं, किन्तु जब उनका उपभोग होने लगता है तब वे एक के पास संगृहीत हो जाती हैं। उनका सविभाग नहीं हो पाता।

अपरिग्रही होने के लिये दूसरी बात प्रामाणिक होने की है। उसम वस्तुओं की मर्यादा नही, अपनी मर्यादा करना जरूरी है। सत्य-पालन का अर्थ यह नही है कि व्यापारिक गोपनीयता को उजागर करते फिरे। इसका आशय केवल इतना है कि आपने जिस प्रतिशत मुनाफे पर व्यापार करना निश्चित किया है, उसमे खोट न हो। जिस वस्तु की आप कीमत ले रहे है, वह मिलावटी न हो। और अस्तेय का अर्थ है कि आपकी व्यापारिक सीमा है उसके बाहर की वस्तु का अनावश्यक सग्रह नही किया जाय। इन अतिचारो से बचते हुए यदि जैन गृहस्थ व्यापार करता है तो वह देश के व्यापार को प्रामाणिक बनायेगा। आवश्यकता और सामर्थ्य के अनुरूप समृद्ध भी। तब उसकी दुकान एव मन्दिर में कोई अन्तर नही होगा। व्यापार और धर्म एक दूसरे के पूरक होगे।

प्रश्न रह जाता है समाज में व्याप्त शोषण व जमाखोरी की प्रवृत्ति को बदलने का। महावीर का चिन्तन इस दिशा मे बड़ा संतोषी है। पूरे समाज को बदलने का दिवास्वप्न उसमें कभी नही देखा गया, किन्तु व्यक्ति के बदलने का पूरा प्रयत्न किया है। इसलिए महावीर का समाज अशुभ से शुभ की ओर, हेय से उपादेय की ओर जाने मे किसी समारोह की प्रतीक्षा नही करता। भीड का अनुगमन नही चाहता। और न ही किसी राजनेता या वड़े व्यक्ति के द्वारा उसे उद्‌घाटन की आवश्यकता होती है। क्योकि ये सभी मूर्च्छा के कार्य है, ममत्व और आकाक्षा के। इसीलिए महावीर की दृष्टि से तो कोई भी व्यक्ति, किसी भी स्थिति से बदलाहट के लिये आगे आ सकता है। उसके परिवर्तन की रश्मिया समाज को प्रभावित करेगी ही। व्यक्ति मे जब अनासक्ति दृष्टि हो तो समाज मे सविभाग स्वयमेव आयेगा। ममत्व के हटते ही समत्व का द्वार खुलेगा।

□ □ □

सुकृत की सीख

[तर्ज—लालन लील करूगी]

सुकृत करले रे मू जी, थारी पडी रहेला पू जी ।। टेर ।।

कूड कपट करने चतुराई, घणी जमाई पेढी ।
भोला ढोला काल डकोला, प्राते निकली सीढी ।। सु. १ ।।

कूड कपट कर माया मेली, नीठ-नीठ कर सरची ।
पाव पलक मे परभव पहुँचो, पड़ी रही सब खरची ।। सु. २ ।।

अधिको लेवे ओछो तोले, बोले मधुरी बानी ।
एडा मारे धडी उड़ावे, कर-कर अन्तर काणी ।। सु, ३ ।।

कर्मादान अकारज करने, धन मेल्यो नवि खूटे ।
कुलजम काल रावले लेवे, बध कायाना छूटे ।। सु. ४ ।।

निखरो खाय पहरे पण निखरो, सुख भर नीद न सोवे ।
नर सुखियो दीठो नही इणसु, तो पिण इणने रोवे ।। सु. ५ ।।

पीपल-पान कान कु जर को, डाभ अणी जल जाणो ।
इणसुं मोह करे सो मूरख, अन्तर-ज्ञान पिछाणो ।। सु ६ ।।

सेखे काल कुचामण नगरे, चेत महीने आया ।
'रतनचन्द' कहे मूंजी मिनखे, सेठी पकड़ी माया ।।

□ आचार्य श्री रत्नचन्द्रजी म. सा.

५० | अपरिग्रह का समाजशास्त्र

□ श्री आनन्द काश्यप

आज का समाजशास्त्र वस्तुतः अपरिग्रह का नही वरन् आधुनिकता का समाजशास्त्र है। सामाजिक सत्य तथा सामाजिक विकास की आधुनिकतापरक व्याख्याएँ तथा अवधारणाएँ पारम्परिक अपरिग्रही सामाजिक अवधारणाओ से नितान्त भिन्न ऐसी अवधारणाएँ है जिनका सूत्रपात १७वी शताब्दी के पुनरुत्थान-वादी यूरोप की प्रबोधनात्मक (एनलाइटनमेट) विचारधाराओं मे हुआ था। इस युग ने धर्म तथा आध्यात्म की रहस्यात्मक सत्य विषयक अनुभूतियो तथा धारणाओ को पुराणपथी ढकोसला मानकर अस्वीकार कर दिया था तथा ज्ञान की तार्किक-वैज्ञानिक विधि के रूप मे एक ऐसी विधि का सूत्रपात किया था जिसके द्वारा सत्य का वस्तुपरक अनुसधान सम्भव हो सके तथा ऐसे शक्ति सम्पन्न ज्ञान की उपलब्धि हो सके जो मानव को बाह्य प्रकृति पर विजय दिला पाने मे सक्षम हो। ज्ञान की इस विजय प्रबोधिनी अवधारणा के कारण ही आधुनिक विज्ञान, तकनीक एव प्रौद्योगिकी का वर्तमान विकास सम्भव हो सका है। वर्तमान समाजशास्त्र का सूत्रपात भी इसी वैज्ञानिक तथा औद्योगिक क्रान्ति के परिप्रेक्ष्य मे हुआ था जिसका उद्देश्य औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न सामाजिक दोषो तथा कुरीतियो का वैज्ञानिक विधियो द्वारा अध्ययन कर उनका निराकरण करना था। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के सफल विकास तथा उससे प्राप्त होने वाली उपलब्धियो को दृष्टिगत रखते हुए समाज की अवधारणा भी एक वृहद् सम्पन्न अथवा विशाल जैविक जन्तु के रूप मे की गई थी जिसकी सरचना मे व्यक्ति की निजी चेतना अथवा स्वातत्र्यबोध को कोई विशेष महत्त्व प्राप्त नही था। समाज के यथार्थ या सत्य को व्यक्ति या मानव के सत्य से पृथक् घोषित किया गया था। अगस्त कोत, कार्ल मार्क्स, दुर्खीम, पार्सस आदि अनेक समाज शास्त्रियो की सिद्धान्त रचनाएँ तथा समाज सम्बन्धी व्याख्याएँ इसी कोटि की विज्ञानवादी यात्रिक व्याख्याएँ है।

इन समाजशास्त्रीय सिद्धान्तो मे सत्य के सम्बोध (परसेप्शन) तथा व्यक्ति व समाज के विकास-सप्रत्ययो मे कही भी अपरिग्रह का स्थान नही है क्योकि यहां विकास या प्रगति की अवधारणा मूलत. एक आयामी, वहिर्मुखी आर्थिक-तकनीकी प्रगति की ही अवधारणा है, मनुष्य की आत्मोन्नति तथा समाज की ऊर्ध्व चैतन्यात्मक मूल्यात्मक प्रगति की अवधारणा नही है। वास्तव

मे अपरिग्रह जैसे मूल्य का समावेश ऐसे समाजशास्त्र में ही सम्भव है जहा कि वहिर्मुखी यांत्रिकता के स्थान पर मानव की चैतन्यात्मक सत्ता की प्रतिष्ठा अधिक मुखरित हो। पश्चिम मे भी इस कोटि का चितन तथा चितक वर्ग रहा है। किन्तु उसका महत्त्व ऐतिहासिक अधिक तथा व्यावहारिक कम है। इस कोटि के पश्चिमी समाज-शास्त्रियों में टोनीज, मैक्सशेलर, सोरोकिन, लीविस ममफर्ड, शूमाखैर आदि को लिया जा सकता है। पारम्परिक भारतीय चिन्तन का तो 'अपरिग्रह' आधार स्तम्भ ही कहा जा सकता है और इस जीवन मूल्य का अनुक्रम उपनिषदकालीन आरण्यक सस्कृति और भगवान बुद्ध तथा महावीर स्वामी से लेकर महात्मा गाधी तक सतत् प्रवहमान रहा है। भारतवर्ष मे भी जीवन मूल्य के रूप मे अपरिग्रह का वास्तविक क्रम-भग मुख्य रूप से अग्रेजी शासन द्वारा आरोपित पाश्चात्यीकरण की धारा द्वारा हुआ है। महात्मा गाधी द्वारा छेडा गया अग्रेजी शासन के विरुद्ध स्वातत्र्य सग्राम भी मूलत मात्र राजनैतिक आन्दोलन न होकर जहा एक ओर भारतीय सामाजिक सास्कृतिक परम्परा के मूल आदर्शो पर बरबस लादी जा रही एक ह्रासोन्मुखी परकीय सभ्यता के विरुद्ध आवाज थी, वही दूसरी ओर सम्पूर्ण विश्व को ही निगलती हुई वैज्ञानिकता तथा औद्योगिक क्रान्ति के नाम पर इस आधुनिक यांत्रिक जड़ता के विरुद्ध मानवता को सावधान करने का प्रयत्न था।

इस प्रकार समाज चिन्तन तथा समाजशास्त्र के विपय क्षेत्र मे परम्परा प्रधान अपरिग्रही समाज की अवधारणा तथा भौतिक समृद्धि और धन सचयन को ही सुख-शांति का आधार एव प्रमुख जीवन मूल्य स्वीकार करने की आधुनिकतावादी प्रवृत्ति दोनो ही दो पृथक् सम्प्रदायो तथा मतावलम्बियो मे विभाजित रही है और उनके परस्पर समन्वय के प्रयास की अवधारणा भी विशेष रूप से व्यक्त नही हुई है।

वास्तव मे 'अपरिग्रह' भी स्वय मे एक एकाकी तथा सम्पूर्ण जीवन-मूल्य न होकर कुछ अन्य मूल्यों या पुरुपार्थो जैसे ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिसा तथा अस्तेय के साथ जुडा है और ये सभी मूल्य संयुक्त रूप से मानव विकास या उत्थान की एक निश्चित भूमिका का निर्माण करते है। इस कोटि के पारम्परिक जीवन मूल्यो के सन्दर्भ मे फ्रायड या चार्ल्स डार्विन की सकल्पना से भिन्न मानव पशु साम्राज्य का ही एक विकसित अंग नही तथा कार्ल मार्क्स एवं अन्य प्रगतिवादी विज्ञानवादी समाज-शास्त्रियो द्वारा अवधारित केवल एक आर्थिक सामाजिक प्राणी ही नही वरन् इनसे कही अधिक उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित एक ऐसा सचेतन प्राणी है जिसका प्रमुख लक्ष्य अपने 'स्व' में ही अन्तर्भूत दिव्यता तथा मूल स्वातत्र्य का अन्वेपण करना है। इस प्रकार अपरिग्रही मूल्य परम्पराओं का सकेन्द्रण सयत्रित अथवा सस्थावद्ध सामाजिक समदृष्टिवादिता नही वरन्

स्वातन्त्र्य अन्वेपी समूर्त मानव रहा है और समाज व्यवस्था भी एक निरपेक्ष तन्त्र न होकर मानव तथा मूल्यसापेक्ष व्यवस्था हो जाती है।

मानव मूल्यान्वेषिणी समाज व्यवस्थाओ मे जैसे भारतीय परम्परा मे, इस प्रकार जितना बल मनुष्य के आन्तरिक विकास तथा रूपान्तरण पर दिया गया है उतना महत्त्व सामाजिक परिवर्तन या क्रान्ति को नही दिया गया है। इसी कारण कभी-कभी इस परम्परा को स्थैर्यवादी परम्परा के रूप मे भी देखा जाता है किन्तु यह सत्य नही है। वास्तव मे यह परम्परा 'प्रवृत्तिजन्य' ऐहिक परिवर्तनो का नही वरन् लोकोत्तर मूल्यो की अर्थात् सनातन या शाश्वत मूल्यो के अन्वेषण की परम्परा है, केवल कर्म सापेक्षता की नही वरन् कर्मयोग की अर्थात् कर्मफल के परित्याग की अपरिग्रही परम्परा है। इस परम्परा मे वाह्य जागतिक परिवर्तन, प्रकृति-विजय तथा अर्थ-सचय उतना महत्त्वपूर्ण नही हुआ जितना कि मनुष्य की मनोविजय तथा वृत्तियो का आन्तरिक रूपान्तरण महत्त्वपूर्ण रहा है।

यदि साख्य का श्रेणी-विभाजन स्वीकार कर कहे तो कह सकते है कि जहा अपरिग्रही प्राच्य परम्पराएँ मुख्यतया 'पुरुषान्वेषिणी' अर्थात् आत्ममुखी परम्पराएँ रही है, पश्चिमी समाजशास्त्र अधिकाश 'प्रकृति-अन्वेषिणी, मूलक वहिर्मुखी तथा समाजतन्त्रवादा समाजशास्त्र रहा है जिसमें मनुष्य या व्यक्ति की लोकोत्तरता (ट्रासेन्डेन्टलिटी) तथा निजी आत्मा-सत्ता को कोई विशेष महत्त्व प्राप्त नही हुआ है।

इस प्रकार जीवन आदर्श के रूप मे अपरिग्रह मनुष्य की आत्म-अन्वेषण प्रक्रिया से जुडकर उसके अन्तःविकास का अग बनता है। इसकी सहयोगी विकास-क्रिया के रूप सामाजिक सगठन के विकास को भी रूपायित तथा प्रभावित करता है, अतः ऐसे समाज की संकल्पना वृहद्कायी नगर प्रधान आधुनिकतावादी भौतिक विकास की अवधारणा न होकर लघुकायी अन्तर्मुखी तथा आत्मनिर्भर समुदायो की अवधारणा होगी। मानव की आत्मान्वेषी अन्तर्मुखता तथा प्रकृति अथवा प्रवृत्ति प्रधान वहिर्मुखता का सम्बन्ध सरचना के आकार तथा जटिलता से सहज जोडा जा सकता है। ज शास्त्री टोनीज, मैक्सशेलर तथा शूमाखैर ऐसे अपरिग्रही लघुकायी (समुदायो) को ही वरेण्य स्वीकार करते है तथा ऐसे सरल उपलब्ध सत्य आचरण, प्रेम तथा सौहार्द्र, अहिसा, शाति, सम्वन्धो की प्रगाढता जैसे मानवीय मूल्यो को प्रधानता जनित वृहद्कायी नागर समाजों की जटिलता, निर्वैयक्तिकता, निरन्तर वढ़ती हुई भोगोन्मुखी

आपराधिकता (क्रिमनेलिटी) तथा मानव जीवन को आच्छादित करती यांत्रिक दासता के अपक्षधर है ।

इस प्रकार अपरिग्रही समाज में मानव-सुख की अवधारणा जहा उसकी अपरांगमुखी स्वाधीन सत्ता के अन्वेषण, उससे उद्भूत अन्त:शाति तथा अन्त:रस के अनुसंधान की सकल्पना है, आधुनिकतावादी भौतिकवादी समाज-तत्रो में मानव-सुख का अन्वेषण आत्म शाति में नही वरन् विज्ञान तथा तकनीक द्वारा वहिर्प्रकृति के अधिकाधिक दोहन द्वारा उत्पन्न विलास सामग्रियो तथा साधन-सुविधाओं के विकास और सचयन पर आश्रित है । अत: ऐसे समाजो मे सचित 'सम्पत्ति' (प्रापर्टी) का एक विशेष अर्थ तथा उसके नियमन की भी एक विशेष व्यवस्था होती है । समाजवादी समाज-तत्र जहां निजी सम्पत्ति को मानव शोषण तथा सामाजिक अन्याय का प्रमुख कारण मानते हुए उस पर समाज अथवा सरकार का पूर्ण आधिपत्य स्थापित करना चाहते है और इस प्रकार मानव अथवा व्यक्ति को अनिवार्य अपरिग्रह के लिए विवश करते है, पूँजीवादी समाज निजी सम्पत्ति के नियमन में सरकारी हस्तक्षेप को अत्यधिक कम कर मानव के सम्पत्ति लोभ को सामाजिक विकास की अभिप्रेरणा मे घटाकर परस्पर प्रतिस्पर्धा को पुष्ट कर सामाजिक विकास का उपक्रम रचते है । दोनो ही प्रकार के समाज-तत्रो मे परिग्रह अर्थात् सम्पत्ति सग्रह के नियमन की चेष्टा निहित है, या कहे दोनों ही प्रकार को समाज व्यवस्थाओं में 'परिग्रह' तथा 'अपरिग्रह' का एक द्विविधित द्वन्द्व (डायलेक्टिक्स) विद्यमान है जो मानव के अन्त: अन्वेषण जैसे मूल पुरुषार्थ के अभाव में किसी उच्चतर भूमि पर सश्लिष्ट नही हो पाते है । तत्वत: आत्मानुसधान जैसे मौलिक मूल्य के अभाव में अपरिग्रह की भी विशेष सार्थकता सिद्ध नहीं होती क्योकि मनुष्य की बहिर्मुखी ऐन्द्रिकता के दवाव में सत्यानुसधान, आत्मानद, सेवा-सुख, ईश्वर-भक्ति या मनोशाति जैसी किसी आभ्यन्तरिक तृप्ति के बिना मानव मन को ऊर्ध्वमुखी रख पाना कठिन ही नही वरन् असम्भव है । इसी कारण अपरिग्रह प्रधान समाज व्यवस्थाओ मे आर्थिक विकास को उतना महत्त्व प्राप्त नही हुआ है जितना कि व्यापक अर्थो मे मनुष्य के शैक्षिक विकास को (मात्र साक्षरता प्रधान ज्ञान नही)—परा तथा अपरा दोनों ही प्रकार की विद्याओ को इस शिक्षा धारा में समान महत्त्व प्राप्त रहा है । योग अथवा आत्म-अनुसधान अपरिग्रही परम्पराओ का मूल आधार है तथा एक योगी की प्रतिभा ही प्रत्येक मानव तथा शिक्षा-दर्शन की आदर्श प्रतिभा है । इस अर्थ मे अपरिग्रह युक्त समाज के विकास या उत्थान का निकष केवल भौतिक सम्पदा या सुख-सुविधाओं का विकास या सग्रह नही वरन् शील या चरित्र सम्पन्न आत्म-तृप्त सृजनशील मानव समूहो के निर्माण का निकष है । किसी समाज मे लोग साक्षर कितने है, जन-सचार साधनो का कितना उपयोग करते हैं, महत्त्वाकाक्षी कितने है, राजनैतिक गतिविधियो के प्रति कितने

जागरूक है जैसे आधुनिकता के समाजशास्त्रीय सूचकाकों द्वारा ऐसे समाज के विकास का सही मूल्याकन सम्भव नही होगा। महात्मा गाधी द्वारा अवधारित राम राज्य तथा स्वावलम्बी समाज रचना के सकल्प को आधुनिकतावादी समाज शास्त्री तथा अर्थशास्त्री कई बार एक प्रतिगामी विचार के रूप में अस्वीकार कर देते है। वास्तव में महात्मा गाधी ने वर्तमान युग के अनुरूप अपरिग्रह के सामाजिक अर्थ को व्यापकता प्रदान करते हुए सम्पत्ति-सग्रह की मानव वृत्ति को 'ट्रस्टीशिप' की अवधारणा से जोडकर एक व्यापक मानवीय आधार प्रदान किया था। जहा मार्क्सवादी सकल्पनाएँ धन सम्पत्ति को व्यक्ति के निजी अधिकार क्षेत्र से हटाकर उसे सरकारी क्षेत्र मे अधिकृत कर लेती है (यहा तक कि व्यक्ति स्वय भी सरकारी सम्पत्ति का ही एक भाग होता है, उसका अपना निजी स्वातत्र्य-वोध नगण्य प्राय. होता है) तथा इसके विपरीत पूँजीवादी या 'स्वतत्र' देशो मे सभी आर्थिक-सामाजिक उपक्रम व्यक्ति-स्वातत्र्य ('प्रवृत्ति' जन्य स्वातत्र्य) का अग बनकर एक खुली प्रतिस्पर्धा (बाजार) या दौड का हिस्सा बन जाते है। महात्मा गाधी भारतीय पारम्परिक चिन्तन के अनुरूप सम्पत्ति को उसके इन प्रचलित सन्दर्भो से निकालकर दिव्यता या भगवत सत्ता के उच्च आदर्श सन्दर्भो से जोडते है। मूलत: प्रकृति-जगत का अग होने के नाते धन-सम्पत्ति पर मात्र व्यक्ति या मानव समूह का ही अधिकार नही वरन् मूलत: वह दिव्य-सत्ता के अधिकार क्षेत्र की वस्तु है अत कुछ न कुछ अशो मे उस पर सभी जीवधारी प्राणियो का अधिकार है, जिस व्यक्ति के पास वर्तमान मे वह सम्पत्ति केन्द्रित है वास्तव में वह उसका अधिकारी नही वरन् 'ट्रस्टी' या रक्षक है और इस रूप मे साधारण भोक्ता की तुलना मे ऐसे रक्षक का दायित्व उस सम्पत्ति के प्रति अधिक गहन होता है। इस प्रकार 'सम्पत्ति' या सम्पदा को महात्मा गांधी मानव जीवन के उदात्त एव उच्चतम सन्दर्भ से जोडकर तथा पुन: उसे साधारण जीवन के निम्न आधारो या स्तरो तक उतार कर व्यावहारिक बनाने की चेष्टा करते हैं। उनके इस सम्पूर्ण चिन्तन का आधार उनकी मानव मात्र मे अटूट श्रद्धा या विश्वास है। उनकी दृष्टि मे मानव केवल प्रतिस्पर्धा, सघर्ष, ईर्ष्या-द्वेष जैसी निम्न वृत्तियो का पु ज एक हीन पशु नही वरन् अनत सम्भावनाओ का पु ज एक दिव्य सत्ता है, अमृत पुत्र है अत. उनका समस्त चिन्तन इसी आधार तथा आदर्श की ओर सकेन्द्रित है। इसी कारण उनकी अपरिग्रह तथा 'ट्रस्टीशिप' की अवधारणाएँ निकटस्थ रूप मे 'सत्याग्रह' की अवधारणा से भी जुड़ी हुई है। भगवत सत्ता को उन्होने 'सत्य' की ही अनन्त सत्ता के रूप मे ग्रहण किया है। 'सत्याग्रह' उनकी दृष्टि मे जहा आत्मनिरीक्षण तथा आत्मशुद्धि का एक प्रखर साधन है, वही वहिर्जगत की शुद्धि तथा मुक्ति का भी एक सशक्त माध्यम है। किसी देश या राष्ट्र को निजी सम्पत्ति स्वीकार कर उसका शोषण करने वाली विदेशी सत्ता का गाधीजी ने 'सत्याग्रह' के अहिंसक हथियार द्वारा ही उच्छेदन किया था और इसी अहिसक वल का

उपयोग निजी, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय किसी भी क्षेत्र मे व्याप्त मिथ्याचार (सत्य-विच्युति) के परिमार्जन के लिये किया जा सकता है।

वास्तव मे पारम्परिक अपरिग्रहवादी आत्म-अन्वेपणी धारा तथा 'प्रकृति' वादी आधुनिक विज्ञानवादी धारा, इन दोनों चितन धाराओ तथा इन पर अवलम्बित समाज-रचना की अवधारणाओ में आज अन्तराल इतना अधिक बढ गया है कि महात्मा गांधी के समाज रचना की सकल्पना भी उनके देहान्त के तुरन्त बाद राजनेताओ तथा प्रबुद्धजन द्वारा स्वप्नवत अस्वीकार करदी गई और उसका स्थान ग्रहण किया आधुनिकतावादी वृहद्‌कायी पचवर्षीय योजनाओ तथा महानगरीय कल-कारखानों ने। ये विकास योजनाएँ लघुकायी ग्रामीण समुदायो के स्वावलम्वन की अपेक्षा केन्द्रीकृत अर्थनीतियों पर आधारित परावलम्बन की योजनाएँ अधिक थी, भारतीय सामाजिक ढाचे को पश्चिमी समाज के अनुरूप ढालने की योजनाएँ अधिक थी। गाधीवादी अपरिग्रही तथा सत्याग्रही चिन्तन के एकदम प्रतिकूल इन सरकारी नीतियो का भारत के प्रबुद्ध वर्ग विशेप रूप से समाजशास्त्रियो ने भी परम्परा के आधुनिकीकरण के नाम पर पर्याप्त गुणगान किया; किसी व्यापक शिक्षा कार्यक्रम द्वारा मनुष्य निर्माण की जगह अर्थ एवं भौतिक सम्पदा की रचना पर अधिक बल दिया गया। समाज निर्माण के इस विकास-विकल्प के जो सामाजिक परिणाम प्रकट हुए है, वे हमारे सामने है। सम्पत्ति और सम्पदा, सस्थाओं और वृहद्‌कायी ढाचो का तीव्र गति से विस्तार हुआ है किन्तु 'मनुष्य' कही खो गया है, सर्वत्र एक मानवीय ह्रास तथा विसंगति दिखाई देती है।

आधुनिकतावादी समाज वैज्ञानिक इस मानवीय ह्रास को अपनी मूल्य-मुक्त वस्तु-परक दृष्टि से प्रगति या विकास के लिए समाज द्वारा चुकाई गई कीमत की सज्ञा देगा और विज्ञान व तकनीक को असीमित प्रगति की दुहाई देते हुए एक मुखद् भविष्य के लिए आशान्वित भी करेगा किन्तु वास्तविकता उसकी इस धारणा से कही अधिक गहन और गम्भीर है।

वास्तव मे आधुनिकतावाद के नाम पर घटित इस मानवीय ह्रास का उपचार जिसे आज अणु-आयुधों की होड से लेकर राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय आतकवाद तथा व्यक्ति के जीवन मे निरन्तर वढती हुई अर्थहीनता मे सहज देखा जा सकता है, केवल अच्छे प्रशासन-प्रबन्ध अथवा तकनीकी आविष्कारो द्वारा नही किया जा सकता है। वास्तव मे अतिशय भोग द्वारा उत्पन्न इस रुग्ण चेतना के आरोग्य लाभ के लिये किसी तत्र-रचना की उतनी आवश्यकता नही जितनी कि मूल्यापेक्षी मानव के निर्माण की है और यह कार्य केवल अपरिग्रह तथा आत्मान्वेपण जैसे मूल्यो पर आधारित एक नये जीवन दर्शन तथा नई आचार सहिता की स्थापना द्वारा ही सम्भव हो सकता है। और इस सन्दर्भ मे

समाज शास्त्र की कार्य भूमिका तथा मूल स्थापनाओं मे भी आमूल परिवर्तन करना होगा, उन्हे अधिक व्यापक या फलदायी बनाना होगा। अपरिग्रह का समाजशास्त्र वास्तव मे प्रचलित समाजशास्त्र से भिन्न मूल्य निरपेक्ष समाज-विज्ञान नही वरन् मानव जीवन के उदात्त मूल्यो के प्रति सकल्पित समाज का शास्त्र होगा जिसका यथार्थ-बोध प्रकृति विज्ञानो की भाति मात्र जो कुछ है अर्थात् प्रदत्त तथ्यो के विश्लेषण तक ही सीमित न रहकर अपने अध्ययन क्षेत्र मे जो होना 'चाहिये' उसे भी सम्मिलित करेगा, केवल सरकारी नीतियो का अनुगामी या पोषक शास्त्र (पॉलिसी विज्ञान) अथवा मात्र बौद्धिक रस पिपासुओ की तर्क-क्रीडा न होकर मानव की सामाजिक अपेक्षाओं को भी समाहित करेगा। सत्य, शिव तथा सुन्दर का उद्घाटन ही ऐसे मानवीय समाज शास्त्र की प्रमुख प्रेरणा होगे। आधुनिक युग मे मैक्सशेलर, सोरोकिन, श्री अरविन्द तथा गाधी का चिन्तन इसी कोटि के समाजशास्त्र की भूमिका है।

समाज के वस्तुविश्लेषण के साथ समाज तथा उसके सदस्यो को उनके मूल लक्ष्यो के प्रति निरन्तर सावधान करना भी समाज शास्त्र का प्रमुख कार्य होना चाहिये। ऐसे समाज शास्त्र को आधुनिक अर्थशास्त्र की इस मान्यता से कि मनुष्य के सुख का मूल उसकी आर्थिक माँगो की अधिकाधिक पूर्ति में निहित है के विपरीत इस सत्य या मान्यता को स्थापित करना होगा कि सुखी जीवन वास्तव मे इच्छाओ की अभिवृद्धि और उनको अविवेकी (अतार्किक नही) तृप्ति मे नही वरन् इसके प्रतिकूल उनके परिसीमन तथा उनसे मुक्ति प्राप्त करने मे है।

यह सत्य है कि वर्तमान युग में जहा विश्व का आर्थिक, राजनैतिक तथा सास्कृतिक नेतृत्व पश्चिमी राष्ट्रो के हाथों मे है, किसी अपरिग्रही समाज अथवा समाजशास्त्र की सकल्पना कर पाना तथा भौतिक ऐश्वर्यो से सम्मोहित आधुनिक विद्वत् वर्ग में उसे स्वीकृत करा पाना अत्यन्त कठिन कार्य है, फिर भी आज के तनाव ग्रस्त जीवन मे अपरिग्रह, शाति तथा अहिसा जैसे मूल्यो की स्थापना की चेष्टा अप्रासगिक न होगी। पश्चिमी देशो मे अतिशय भौतिकता तथा भोगवाद के प्रति बढती हुई जुगुप्सा, धर्म तथा भारतीय आध्यात्म के प्रति अधिकाधिक उत्सुकता तथा स्वीकृति, अणुआयुधो तथा भावी युद्ध की विभीषिका के प्रति भयातुरता तथा शांति के प्रति वढते हुए प्रयास ऐसे मूल्यात्मक अपरिग्रही समाजशास्त्र की पृष्ठभूमि की रचना करने के लिए आज पर्याप्त कारण बन गये है। वास्तव में आधुनिक परिग्रही युग की त्रासदी ही भावी अपरिग्रही समाज की पूर्व पीठिका है और भारतीय समाजशास्त्रियो को इसमे विशेष भूमिका निभानी है। □□

५१

योग और अपरिग्रह

□ डॉ० नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम'

आजकल योग के सम्बन्ध में पर्याप्त जन-अभिरुचि दिखाई पडती है। योग को विभिन्न कोणों से परिभाषित एव व्याख्यायित किया जा रहा है। सामान्यत:, भौतिकता के तापो से संतप्त मनुष्य योग से त्वरित फल प्राप्त करने का यत्न कर रहा है। शारीरिक निरोगता, शरीर-यष्टि की स्वस्थता एव मानसिक-शांति हेतु योग अत्यधिक सहायक हो रहा है। किन्तु मनुष्य का व्यक्तित्व भग्न और खण्डित ही बना हुआ है। इसका सम्भवत. कारण यह है कि हम योग के अखण्डित स्वरूप का न तो अर्थ ही जानते है और न हम उसे आज के युग की आवश्यकता के अनुकूल अपना ही पाते है। परिणामत. योग से होने वाले स्थायी लाभो से हम वंचित ही रहते हैं। व्यष्टि और समष्टि के कल्याणार्थ यह परमावश्यक है कि हम योग का सही अर्थ समझे और उसमे निहित सार-तत्त्व को मनसा, वाचा, कर्मणा आत्मसात् करे।

योग की परम्परा भारत मे अत्यधिक प्राचीन है। इस देश के आध्यात्मिक-चिन्तन की तीन मुख्य धाराओ—नैगम (वेदमूलक), बौद्ध और जैन—में योग की प्रचुर चर्चा है। नैगम वाङ्मय मे योगियो की कथाये आती है और योगाभ्यास सम्बन्धी उपदेश मिलते है। बौद्ध ग्रन्थ योग और योगियो की चर्चा से भरे पडे है। बुद्ध का जीवन ही योग का पुष्कल प्रमाण है। अर्हत-पद जहाँ पहुँच कर फिर जन्म नही लेना पडता, योग-जन्य समाधि का पुरस्कार है। जैन धर्म मे योग की चर्चा अपेक्षाकृत कम है, यहाँ योग की जगह तपश्चर्या को दी गयी है। पर प्रकारान्तर से योग सम्मत जीवन-शैली का ही प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार से योग की धारा अप्रतिहत रूप से भारत-भूमि पर प्रवाहित होती रही है। योग, जन-जीवन मे इतना घुल मिल गया है कि धर्म, अध्यात्म, तत्र, साधना, भक्ति, चमत्कार, जादू-टोना आदि का पर्याय सा वन गया है। प्रारम्भ मे योग नितान्त गुह्य विषय था, गुरु और शिष्य के वीच का सवाद था, वैयक्तिक साधना का मार्ग था। इसलिए इसमे रहस्य एवं अलौकिकता का तत्त्व समाविष्ट हो गया। फलस्वरूप, योग सम्बन्वी अनेकानेक भ्रात-धारणाये उत्पन्न हो गयी। कालान्तर में योग की मूल अवधारणा विस्मृत सी हो गयी और इस जीवन-विज्ञान को अपने-अपने ढग से समझा जाने लगा। वर्तमान युग तक आते-आते योग, मात्र व्यायाम, जिम्नास्टिक, रोगोपचार का साधन एव मन की शाति

देने वाला माध्यम मात्र रह गया है। महर्षि पतजलि की मूल अवधारणा को भुला दिया गया तथा योग विषयक पूर्ण सदर्शन की उपेक्षा कर दी गयी। परिणाम यह हुआ कि योग को खंड-खड रूप मे देखा जाने लगा। योगासनो की लोकप्रियता अथवा भावातीत ध्यान या संभोग से समाधि अथवा कुछ विलक्षण योगियो द्वारा समय-समय पर किये गये अलौकिक चमत्कारो में ही योग सिमट कर रह गया। नैतिक आचरण—व्यक्तिगत एव समष्टिगत के नियमन मे योग की महती भूमिका को नजरअन्दाज कर दिया गया। योग मात्र एक फैशन बन गया।

हम यह भूल गये कि महर्षि पतजलि एक महान् समाजशास्त्री थे। उन्होने अपने अष्टाग-योग की रचना 'व्यक्ति' के आत्म-निर्माण एवं विकास हेतु की थी तथा व्यक्ति के माध्यम से समाज का उन्नयन ही उनका अभीप्सित था। उनकी योग सम्बन्धी धारणा नितांत वैज्ञानिक एव साधनापरक है। 'योगदर्शन' के रचनाकार के दृष्टि-पथ मे मनुष्य का नैतिक शुद्धाचरण प्रमुख था। इसीलिए उन्होने यम-नियमों को वरीयता-क्रम मे पहला स्थान दिया। ये यम-नियम व्यक्ति के बाह्य एव आतरिक आचरण की मूल भित्ति है। इनके सतत अभ्यास से मनुष्य में शुचिता उत्पन्न होती है, योग-मार्ग में प्रशस्त होने की पात्रता प्राप्त होती है। यह प्रणाली एक सश्लिष्ट प्रणाली है—यम-नियम एक-दूसरे से गुँथे हुए है तथा एक-दूसरे के पूरक है। ये मनुष्य को पूर्णता प्रदान कर उसे प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की इन्द्रियातीत स्थिति तक पहुँचाते है।

व्यक्ति का कल्याण तथा उसके द्वारा-समष्टि-कल्याण ही योग-दर्शनकार का मुख्य इष्ट था। इस सदी मे योग के सम्बन्ध मे प्रभूत साहित्य लिखा जा रहा है, योग द्वारा स्वास्थ्य-सौन्दर्य, रोगमुक्ति, स्लिमिग आदि के नुस्खे बताये जा रहे है। पर, यम-नियम सम्बन्धी चर्चा का प्रायः अभाव सा ही है। इस उपेक्षा का कारण सम्भवतः मनुष्य की भौतिकता सकुल प्रवृत्ति है अथवा त्वरित फल प्राप्त करने का उतावलापन है। योग को इस प्रकार खडित स्वरूप मे देखा जा रहा है। यम (अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) तथा नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान) आज के मनुष्य-जीवन की परम आवश्यकता है। यदि मनुष्य आज के युग की भयावह त्रासदी से मुक्ति पाना चाहता है तो यह जरूरी है कि वह यम-नियम पर आधारित योगमय जीवन-शैली को अपनाये और फिर, विज्ञान के इस परिग्रही युग मे मनुष्य को अपरिग्रही बनकर विनाश से बचना है, अन्यथा, उसकी परिग्रह-प्रवृत्ति उसे जायेगी।

आज के गति-प्रधान एवं वैभवोन्मुख युग में किंचित् विचित्र सी लगे, पर सत्य तो यह है कि

मानव की कोई गति भी नही। इस अपरिग्रह की प्रवृत्ति को योग के सतत अभ्यास से अर्जित किया जा सकता है।

केवल योग की जीवन-प्रणाली मे आस्थावान् व्यक्ति ही अपरिग्रह की ओर उन्मुख हो सकते है। अपरिग्रह की बात जैन धर्म मे पंचम व्रत के रूप मे मिलती है तथा इसे नैतिक-आचरण में बड़ा स्थान दिया गया है। योगदर्शन मे अपरिग्रह पाँचवा यम है। वास्तव में किसी न किसी रूप में प्रत्येक धर्म अथवा चिन्तन मे अपरिग्रह की अवधारणा का समर्थन किया गया है। अपरिग्रह क्या है ? अपने स्वार्थ के लिए ममतापूर्वक धन, सम्पत्ति और भोग-सामग्री का संचय करना परिग्रह है, इसके अभाव का नाम अपरिग्रह है। यह बात सूत्र रूप मे कही गयी है, पर अपरिग्रह व्यक्ति की त्यागोन्मुख एवं अनासक्तिपरक वैराग्योन्मुख जीवन-दृष्टि का नाम है। जो अपरिग्रही है वह सच्चा योगी है, महात्मा है, महान् सन्त है। जहाँ कही भी परोपकार, दान, त्याग, वैराग्य का प्रसंग आयेगा, वहाँ अपरिग्रह अवश्य रहेगा। इसलिए यह परमावश्यक है कि आत्म-विकास के पथ पर चलने वाला साधक अपरिग्रह की स्थिति तक पहुँचने का क्रमशः सतत अभ्यास करे। योग के माध्यम से यह स्थिति सम्भव हो सकती है। जब व्यक्ति अपरिग्रही बन जायेगा तो शेष यम-नियम अपने आप सध जायेंगे, क्योंकि जैसा कि ऊपर कहा गया है यम-नियम आपस मे अन्तर्ग्रथित है तथा मनुष्य के आध्यात्मिक-उद्धार में समग्र रूप से योगदान देते हैं। जिस व्यक्ति में संचय-सग्रह की प्रवृत्ति का अभाव होगा—वह हिसा, द्वेष, वैमनस्य आदि दोषों से मुक्त रहेगा, वह सत्यशील होगा क्योंकि वह निर्भय होगा, वह किसी की सम्पत्ति को क्यो चुराना चाहेगा ? (अस्तेय), ऐसा व्यक्ति संयमी होगा और ब्रह्मचर्य का निर्बाध रूपेण पालन करेगा। उसके जीवन में शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान स्वतः ही प्रविष्ट हो जायेंगे। इस प्रकार से अपरिग्रह का अनुसरण करता हुआ व्यक्ति न केवल आत्मोत्थान की दिशा मे अग्रसर होगा अपितु वह समाज में प्रेम, सद्भाव, करुणा, मैत्री मुदिता, विश्व-बन्धुत्व प्रभृति दिव्योन्मुख मानवीय गुणो से एक विशेष वातावरण का निर्माण करेगा। अपरिग्रह का अभ्यासी व्यक्ति वैयक्तिक-विघटन तथा सामाजिक-वैषम्य पर पूर्णविराम लगाने मे एक सार्थक तथा प्रभावी माध्यम सिद्ध होगा।

परिग्रह के मूल मे मनुष्य के चित्त मे संचित पाँच मल विशेष कारण बनते है। जब तक चित्त इन मलों से मुक्त नही हो पाता, मनुष्य अपरिग्रही नही बन सकता। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश—मनुष्य को परिग्रह के गर्त में ढकेलते है। इन अशुद्धियों का प्रक्षालन योग से ही सम्भव है। शौच—बाह्य एव आन्तरिक—इन मलों को धो डालता है; सन्तोष, अपरिग्रह को सबल प्रदान करता है, तप के द्वारा मनुष्य परिग्रह के सम्मोहन से मुक्त होता है; स्वाध्याय चित्त में शुचिता एवं आत्मानुशीलन की पूर्वपीठिका तैयार करता है।

ईश्वर-प्रणिधान का अभ्यास कर मनुष्य निश्चिन्त भाव से अपना कर्म करता हुआ अपरिग्रह की दिशा में आगे बढता है क्योंकि उसे भगवान कृष्ण के वचन याद रहते है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां,
ये जना पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां
योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

"जो एकाग्र मन से एकमात्र मेरी भक्ति करते है और प्रत्येक क्षण अनन्य भाव से मुझमें स्थित है, मै उनके योगक्षेम की व्यवस्था कर देता हूँ । उनकी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करता हूँ और सर्वदा के लिए उनकी रक्षा करता हूँ ।"

इस प्रकार से अपरिग्रही मे ईश्वर के प्रति आस्था एव अपने कर्म के प्रति विश्वास-श्रद्धा होती है । वह निष्काम रूप से 'योग: कर्मसु कौशलम्' का पालन करता है । उसे विश्वास है कि यदि वह सतत कर्मशील रहे तो उसे चिन्ता करने की आवश्यकता नही । वह कर्म करता है अनासक्त भाव से, ईश्वर का आदेश मानकर—वह फिर कर्म-बन्धन मे क्यो कर बधेगा ? उसे अनावश्यक सग्रह की क्यो आवश्यकता हो ? कल की वह चिन्ता क्यो करे ? यदि उसमे कौशल है तो वह जब चाहे अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु अर्थ अथवा अन्य साधन जुटा सकता है । जो व्यक्ति मन से निर्बल है, जिसमें आत्म-विश्वास की कमी है, ईश्वरार्पण में जिसकी श्रद्धा नही—वही व्यक्ति परिग्रह की ओर वढता है । योग के सतत अभ्यास से व्यक्ति में संयम, शक्ति, आत्म-विश्वास आदि गुणो का विकास होता है ।

सच्चा अपरिग्रही 'अपने' ('आत्मानं विद्धि' या 'Know Thyself') को जानता है । योग दर्शनकार कहते है, "अपरिग्रह स्थैर्ये जन्म कथन्ता सबोध:" (साधन पाद ३९) । इस प्रकार के आत्म-ज्ञान से वैराग्य की उत्पत्ति होती है । उसे पता है कि भोगों के भोग से तृप्ति नही होती । भर्तृहरि के उपदेश का मर्म वह जानता है—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ता: ।
कालो न यातो वयमेव याता
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा ।

—"भोगो को हमने नही भोगा, किन्तु हम ही भोग गये । तप नही तपे

गये, किन्तु हम ही तपे गये। समय नही कटा किन्तु हम ही कट गये, सचमुच तृष्णा जीर्ण नहीं हुई, हम ही जीर्ण हो गये।"

उसे सासारिक भोगो की निस्सारता का ज्ञान होता है और वह जानता है कि—

न जातु काम. कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्ण वर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

"आग मे चाहे हवन की कितनी भी सामग्री डाली जाये आग की तृप्ति नही होती वह और उद्दीप्त हो जाती है, उसी प्रकार भोग जितने भी भोगे जाये भोगेच्छा की तृप्ति नही होती। वह और भी बढती ही जाती है।"

उसका आदर्श कबीर के शब्दों मे कहा जा सकता है—

साई एता दीजिए, जामे कुटुंम समाय।
मै भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय॥

अपरिग्रह का भाव 'योगदर्शन' मे वर्णित 'वैराग्य' से तथा 'गीता' मे प्रतिपादित 'अनासक्ति' से जुडा हुआ है। यह स्थिति सतत अभ्यास से प्राप्त होती है। जब व्यक्ति योग की प्रक्रिया से गुजरता है तो उसमें आत्म-ज्ञान का प्रकाश चमकने लगता है। वह सत्य-असत्य, नित्य-अनित्य, सार-निस्सार, जड-चेतन का भेद जान जाता है। वह व्यक्ति योग के द्वारा चित्तवृत्तियो (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति) एव चित्त-विभ्रमो (व्याधि, स्त्यान, सशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांति-दर्शन, अलब्ध भूमिकत्व, अनवस्थितत्व) का निरोध करता हुआ, 'योगस्थ' होकर कर्म करता है। कर्म की प्रक्रिया मे अनासक्त रहता है। कर्म मे कौशल अर्जित करता हुआ, फलेच्छा से वियुक्त हो, 'कर्ता' के भाव से नही जुडता। जब किसी व्यक्ति की इस प्रकार की मन स्थिति हो जाती है तो वह अपरिग्रह की ओर बढने लगता है। वह स्वार्थपरता एव सकीर्णता की कारा से निकल प्राणिमात्र को दिव्य-तत्व का अश मानने लगता है। सही अर्थो मे ऐसे व्यक्ति को 'वीतराग', 'स्थिरधी' या 'स्थितप्रज्ञ' कहा जाता है। योग-दर्शन मे, गीता मे और विभिन्न धर्मो मे योग की इस विस्तृत प्रक्रिया का वर्णन मिलता है।

अपरिग्रह मे आत्मावलम्बन, कार्यकौशल, श्रम की गरिमा, ईश्वरार्पण तथा त्यागशीलता स्वत. ही आ जाते है। योग की प्रक्रिया अपने आठ सोपानो (अष्टाग योग) के द्वारा व्यक्ति को पूर्णत्व प्रदान करती है, उसे 'जागृत' करती है 'मूर्च्छा' से। चेतना के सभी स्तर योग से प्रभावित होते है। मनुष्य का समग्र रूपेण दिव्यान्तरण हो जाता है। अनुदात्त, उदात्त होकर व्यक्ति को भीतर से

बदल देता है। यम-नियम उसे नैतिक आचरण का अभ्यास कराते है, आसन प्राणायाम—उसके शरीर को स्वस्थ और निरोग रखते है, प्रत्याहार की प्रक्रिया उसे अन्तर्दर्शन सिखाती है। धारणा, ध्यान, समाधि—उसे उसके गतव्य—कैवल्य तक पहुँचाते है।

अपरिग्रह और 'युक्त' जीवन का गहरा सम्बन्ध है। अपरिग्रही व्यक्ति 'युक्त' जीवन का अभ्यासी होता है। ऐसा व्यक्ति योग का सही लाभ उठाता है—

युक्ताहार विहारस्य, युक्त चेष्टस्य कर्मसु
युक्त स्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दु:खहा।
—गीता ६/१०

वह अपना 'जमीर' कभी नही बेचता, क्योकि उसे इच्छाओं पर विजय प्राप्त होती है। वह शायद कहता है—

अपना जमीर बेचकर, खुशियाँ खरीद लें
ऐसे तो इस जहाँ मे, तलबगार हम नही।

वह निर्भय एवं निष्काम होता है। उसे मृत्यु से भी भय नही क्योकि—

जातस्य हि ध्रवो मृत्युर्ध्रुव जन्म मृतस्य च
तस्माद परिहार्येऽर्थे न त्व शोचितुमर्हसि।
—गीता २/२७

उसकी आवश्यकताये सीमित होती है, उसे लोभ नही सताता, लिप्सा उसके पास नही फटकती। ऐसा अपरिग्रही 'या निशा सर्वभूतानां तस्याम् जागर्ति सयमी' का प्रदीप्त साक्ष्य होता है।

अपरिग्रह का मार्ग अत्यन्त कठिन है। आज के युग मे इसे 'महाव्रत' के रूप मे अपनाना सामान्यत कठिन ही है तथापि इसे 'अणुव्रत' के रूप मे अगीकार किया जा सकता है। शनै.-शनै: व्यक्ति गतव्य तक पहुँच सकता है। अपरिग्रह के राही के सामने अनेकानेक चुनौतियाँ होती है। इन अवरोधो के सम्बन्ध मे शिवानन्द आश्रम, ऋषिकेष के सन्त स्वामी कृष्णानन्दजी कहते है, "हमारे भीतर एषणाये विविध प्रकार से और नाना कोटियों के प्रलोभनो के रूप में प्रकट होती है, अत: इस पथ पर अग्रसर होते समय सर्वप्रथम आपको प्रलोभन का सामना करना पड़ता है। उसे आप जीत नही सकते। लोभ, लोभ के रूप मे नही आता, अत. उसे कोई रोक नही सकता। दुष्ट यदि दुष्ट के रूप मे आये तो आप उसे पहचान लेगे, अत: वह सन्त के रूप मे आता है और उसे आप समझने

में भूल कर जाते है। इन्द्रिय-सुख भोग और अहं-तुष्टि जीवन की अनिवार्य आवश्यकता बन जाते है। 'यह तो हमारे लिए अनिवार्य है, इसकी हमें तीव्र आवश्यकता है', 'यह आवश्यक प्रलोभन नहीं'—आप अपने समक्ष ऐसे ही तर्क प्रस्तुत कर देते हैं। आसक्ति को दयालुता मान लेते है। काम और लोभ को जीवन की आवश्यकता समझ लेते है। अहंकार और स्वार्थपरता को जनहिताय और परहिताय समझ लिया जाता है। मिथ्या वस्तु को गलती से सत्य समझ लिया जाता है। ससार को ईश्वर, दु.ख को सुख, और भ्रम को सिद्धि मान लिया जाता है। आत्म-पथ पर इन प्रलोभनों से मुठभेड़ होती है।"

अतएव, यह परमावश्यक है कि अपरिग्रह का पथिक इन प्रलोभनों से सावधान रहे। 'बाह्य अपरिग्रह' तथा 'आन्तरिक अपरिग्रह'—समन्वित रहे। यदि ऊपर से हमने वस्तुओ से नाता तोड़ लिया, पर मन से हम यह न कर पाये तो वह अपरिग्रह नहीं होगा, मात्र आत्म-प्रवंचन ही होगा। 'वैराग्य' एव 'अभ्यास' से यह स्थिति प्राप्त की जा सकती है।

योग की वैज्ञानिक-प्रक्रिया व्यक्ति मे अपरिग्रह की भाव-भूमि तैयार करती है। हमारे भीतर का त्याज्य, हेय तत्त्व रचनाशील तत्त्व में बदल जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय योग संस्थान बम्बई के संस्थापक महान् योगी श्री योगेन्द्रजी का कथन यहाँ उल्लेखनीय है : "Yoga is the triumph of human endeavour against what is evil in Nature, it is the mastery over its forces and it is the Symbol of the maximum in the psychic achievement and evolution of Man. The ultimate achievement of Yoga is the transformation of personality (चित्त) from the disintegrated into the integrated one, and from the ignoble to the noble being" योग के द्वारा मनुष्य दिव्य-चेतना से संस्पर्शित होता है, अपरिग्रह का मार्ग उसे जड से चेतन की ओर ले जाता है।

आज के विश्व को अपरिग्रह की नितात आवश्यकता है। विज्ञान की अनेकानेक उपलब्धियाँ मनुष्य को 'परिग्रह' की अन्धेरी गुफाओ मे ले जा रही है। परिग्रह ही मनुष्य के अवसान का कारण बनता जा रहा है। भौतिकता की अन्धी दौड़ मे हम अपने 'स्वरूप' को भूलते जा रहे है। मानव, शाति के लिए छटपटा रहा है। पर उसे शाति कहाँ ? परिग्रह की प्रवृत्ति राग, द्वेष, वैमनस्य, शक्ति-सचय, शस्त्र-संग्रह, स्वार्थपरता, वैपम्य के रूप मे यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रकट हो रही है। मनुष्य में असुरक्षा की भावना व्याप्त है, उसे अपने पर भरोसा नही, 'अपनों' पर भरोसा नहीं, ईश्वर पर भरोसा नही। भविष्य को सुरक्षित बनाने के भ्रम मे वह परिग्रह की ओर दौड रहा है। चारो ओर आपाधापी मची हुई है।

इस स्थिति मे योग ही मानव को बचा सकता है । व्यष्टि के स्तर पर 'अपरिग्रह' व्यक्ति का परिष्कार करेगा । उसे आनन्द की अनुभूति करायेगा, उसे निर्द्वन्द्व बनायेगा, अभय-दान देगा, उसको पूर्णता की ओर ले जायेगा । समष्टि के स्तर पर अपरिग्रह, विश्वबन्धुत्व के भाव को पुष्ट करेगा, सुख-शाति का संवाहक बनेगा । यह तभी सम्भव होगा जब हम योगमय जीवन-शैली का वरण करेंगे, उसके अखडित स्वरूप (Holistic Form) में । यदि अपरिग्रह में मनुष्य की प्रतिष्ठा हो गयी तो हिसा का अन्त हो सकेगा । अपरिग्रह के होने पर अहिसा तो स्वत फलित होगी ही । यदि लोभ नही है तो द्वेष क्यों उत्पन्न होगा और द्वेष के बिना हिसा का जन्म कैसे होगा ? अपरिग्रह की भावना मे 'ईशोवास्योपनिषद्' का यह स्वर भी मिला रहना चाहिए—

> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
> एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

यदि 'त्यक्तेन भु जीथा' का भाव, कर्म करते हुए यदि रहे तो अपरिग्रह की सिद्धि अवश्य प्राप्त होगी । अपरिग्रही सच्चे आनन्द की अनुभूति कर सकेगा—

> सुकू दिल मयस्सर हो तलब में गैर मुमकिन है ।
> सुकू चाहे तो इसा अपनी दुनिया मुख्तसर कर ले ।

अपरिग्रह की इससे अच्छी परिभाषा हो नहीं सकती ।

यह अन्न गरीबों के लिए है !

सवत् १३१३ की बात है । गुजरात मे भयकर अकाल पडा । सभी लोग दाने-दाने के लिए तरस रहे थे । सेठ जगडूशाह ने गॉव-गॉव मे सदाव्रत खोलकर भूखो को अन्न बॉटना शुरू कर दिया था । वहॉ के महाराजा ने जब यह बात सुनी तो जगडूशाह को ससम्मान राजमहल में बुलाया और उनकी दानशीलता की प्रशसा की और कहा—"सेठजी ! सुना है, आपके पास अनाज के ६००-७०० कोठार भरे पड़े है, में आपसे दान नही मांगना चाहता, सिर्फ अपनी प्रजा को जीवित रखने के लिए उन्हे मोल खरीदना चाहता हूँ ।"

"राजन् ! मेरे पास जो अनाज के कोठार है, उनमे से एक भी दाना मेरा अपना नही है, फिर बेचूँ क्या ?" सेठजी ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया ।

यह सुनकर महाराजा ने सेठजी के कोठारों की जाँच करवाई तो प्रत्येक कोठार मे ताम्रपत्र पर खुदा हुआ मिला कि 'यह अन्न गरीवो के लिए है ।'

जगडूशाह की अद्भुत उदारता, करुणा और निर्लोभता के सामने महाराजा का सिर झुक गया ।

□ राजीव भानावत

५२

अपरिग्रह व्रत एवं स्वास्थ्य

□ श्री के. एल. पोकरना

जैन धर्म विश्व धर्म है। इसका प्रत्येक सिद्धान्त आत्मा को सुख, स्वास्थ्य एवं परम शांति प्राप्त कराने वाला है। इस परम पवित्र धर्म के प्रत्येक नियम, प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार पालन कर सकता है। नियमोपनियम को सच्चे हृदय व सही रूप से पालन करने से जहाँ एक ओर आत्मा का उत्थान व परम शान्ति प्राप्त होती है, वही दूसरी ओर शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य भी प्राप्त किया जा सकता है।

जीवन मे कष्ट व दु ख से छुटकारा पाने व परम शान्ति प्राप्त करने के लिये ही परिग्रह-परिमाण व्रत का पालन करना जैन दर्शन में आवश्यक वतलाया है। प्रत्येक गृहस्थ परिग्रह की मर्यादा करके शान्ति से जीवन यापन कर सकता है, जिससे व्यर्थ की चिन्ता, फिक्र, मानसिक तनाव आदि से छुटकारा पाया जा सकता है।

वर्तमान मे बढते हुए औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण ने स्पर्द्धा, प्रतिस्पर्द्धा, इच्छा, सग्रह, चिन्ता, वैमनस्य, कटुता, मानसिक तनाव आदि को बहुत अधिक वढाया है। आज का मानव उपर्युक्त सभी जंजालो मे फंसा हुआ है, इसी के फलस्वरूप मानसिक स्वास्थ्य बिगड रहा है तथा मानसिक तनाव के कारण नाना प्रकार के आधुनिक रोगो से मानव ग्रस्त होता जा रहा है। उच्च रक्तचाप, हृदय रोग एवं मानसिक रोगो का कारण मानसिक तनाव ही है। इन रोगो पर अकुश लगाने हेतु जैन दर्शन मे बताये गये परिग्रह-परिमाण व्रत के पालन करने की अत्यन्त आवश्यकता है।

स्वास्थ्य की अवधारणा

स्वास्थ्य की परिभाषा देते हुए, विश्व स्वास्थ्य सगठन ने वताया है कि "HEALTH IS THE STATE OF COMPLETE PHYSICAL, MENTAL & SOCIAL WELL-BEING, NOT MERELY THE ABSENCE FROM DISEASE OR INFIRMITY."

अर्थात् स्वास्थ्य, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक अच्छेपन की स्थिति है, न कि रोग व दुर्वलता से मुक्ति मात्र ही।

स्वास्थ्य के उक्त तीन पहलुओं में **'आध्यात्मिक स्वास्थ्य'** का समावेश भी किया गया है। इस पहलू से जीवन को सही अर्थ मे उपयोगी बनाया जा सकता है।

मानसिक एवं आध्यात्मिक आरोग्यता को बनाये रखने में जैन धर्म मे अनेक नियम व उपनियम बताये है, इनमे परिग्रह से हटाव मुख्य है।

परिग्रह क्या है ?

साधारण शब्दों में जिसे ग्रहण किया जावे, वह 'परिग्रह' है। ग्रहण उसे ही किया जाता है जिससे ममत्व है, जिससे किसी प्रकार का ममत्व नही है, उस वस्तु को ग्रहण नही किया जाता न निश्चयपूर्वक पास ही रखा जाता है। इस प्रकार जिसको ममत्व भाव से ग्रहण किया जाता है, वही 'परिग्रह' है।

स्वर्गीय पूज्य आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज के प्रवचनानुसार परिग्रह का अर्थ ममत्वभाव है, इसलिये जिनसे ममत्वभाव है, वे समस्त वस्तुएँ परिग्रह मे है। जो क्रोध, मान, माया, लोभ का उत्पादक है, वही परिग्रह है। शास्त्रकारो का कथन है कि ज्ञान, ससार बन्धन से मुक्त करने वाला है, लेकिन यदि उसके कारण किंचित् भी अभिमान उत्पन्न हुआ है, तो वह ज्ञान भी परिग्रह है। धर्म-पालन के लिये शरीर का होना आवश्यक है, परन्तु यदि शरीर से थोडा भी ममत्व है, तो शरीर परिग्रह है। इस प्रकार जिसके प्रति ममत्व भाव है, जिससे काम, क्रोध, लोभ या मोह का जन्म हुआ है, वह परिग्रह है। परिग्रह आत्मा के लिये वन्धन है, जिससे आत्मा पुन पुनः जन्म-मरण करती है। परिग्रह आत्मा के लिये बोझ है, जो आत्मा को उन्नत नही होने देता और मोक्ष की ओर नही जाने देता। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से परिग्रह के कुप्रभाव स्पष्ट रूप से विद्वानो ने व्यक्त किये, किन्तु शारीरिक, मानसिक विकार उत्पन्न करने मे भी परिग्रह महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान करता है।

विद्वानो ने, परिग्रह के **बाह्य व आभ्यन्तर** दो भेद किये है। आभ्यन्तर परिग्रह मे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि को माना है, जिनकी उत्पत्ति मुख्यतः मन से है, मस्तिष्क से है तथा जिनका निवासस्थान भी मन ही है, अर्थात् जो मन अथवा हृदय से ही सम्बन्ध रखते है और विचार रूप है, उन सबकी गणना आभ्यन्तर परिग्रह मे है। **बाह्य परिग्रह** के विद्वानो ने दो भेद बताये है, **जड़ और चैतन्य**। जड़ भेद मे वे समस्त पदार्थ आ जाते हैं, जिनमें जान नही है, किन्तु जो निर्जीव है—जैसे—वस्त्र, पात्र, चाँदी, स्वर्ण, सिक्का, धन, सम्पत्ति, मकान, जायदाद आदि। चैतन्य भेद मे, मनुष्य, पशु, पक्षी, पृथ्वी, वृक्ष आदि समस्त सजीव पदार्थों का ग्रहण हो जाता है। यह संसार, जड़ और चैतन्य के सयोग से ही है। ससार में जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है, वह या तो

जड है या चैतन्य है। इसलिये जड और चैतन्य भेद में ससार के समस्त पदार्थ आ जाते हैं। जैन-दर्शन मे परिग्रह के बारे मे गहराई से विस्तृत वर्णन किया है। जैन-दर्शन के अनुसार—पदार्थ परिग्रह नही है, किन्तु उसके प्रति जो ममत्व भाव है, वह ममत्व भाव ही परिग्रह है।

परिग्रह को वृक्ष के रूप मे माना गया है। परिग्रह रूपी वृक्ष की जड तृष्णा है। मणि, हीरे, जवाहरात, सभी प्रकार के रत्न; तथा मूल्यवान पदार्थ, सोना-चादी आदि द्रव्य, स्त्री, परिजन, नौकर, चाकर आदि द्विपद; घोडा, हाथी, बैल, भैस, ऊँट, भेड, बकरी, गाय आदि चतुष्पद; रथ, गाड़ी, मोटर, स्कूटर आदि वाहन; अन्न आदि भोज्य पदार्थ; पानी, शर्बत आदि पेय पदार्थ; वस्त्र, बर्तन, सुगन्धित द्रव्य व घर, खेत, जमीन, पर्वत, खदान, ग्राम, नगर आदि पृथ्वी की इच्छा-मूर्च्छा, इसी परिग्रह रूपी वृक्ष की जड़ है। प्राप्त वस्तु की रक्षा चाहना और अप्राप्त वस्तु की कामना करना, यह परिग्रह वृक्ष का मूल है। क्रोध, मान, माया, लोभ इसके स्कन्ध (कन्धे) है। प्राप्त की रक्षा और अप्राप्त की इच्छाओ की प्राप्ति के लिए की गई अनेक प्रकार की चिन्तायें, इस वृक्ष की डालियाँ है। इन्द्रियो के काम-भोग, इस वृक्ष के पत्ते, फूल तथा फल है। अनेक प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक क्लेश इस वृक्ष का कम्पन है। इस प्रकार परिग्रह एक वृक्ष के समान है, जिसका विस्तार ऊपर लिखा गया है।

इच्छा या मूर्च्छा का नाम ही ममत्व या परिग्रह है। मन में सासारिक पदार्थो की इच्छा होती है। मन की चंचलता से इच्छा का जन्म होता है। मन विशेषत: इन्द्रियानुगामी होता है। वह इन्द्रियों के साथ जाना अधिक पसन्द करता है। बाधा न होने पर मन इन्द्रियों के प्रिय मार्ग पर ही चलता है तथा इन्द्रियाँ स्वय द्वारा ग्राह्य विषयो मे ही सुख मानती है। यद्यपि विषयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती है, उनका काम पदार्थो का ज्ञान कराना है, लेकिन जब बुद्धि मन के अधीन हो जाती है और मन इन्द्रियो का अनुगामी बन जाता है, इन्द्रियो के साथ हो जाता है, तब इन्द्रियाँ स्वेच्छाचारिणी बन जाती है तथा विषयो मे सुख मान कर उनकी ओर दौड़ने लगती है। परिग्रह के अन्तर्गत जहाँ भौतिक पदार्थो की प्राप्ति हेतु प्रबल इच्छा करना, प्रयास करना, न मिलने, नही प्राप्त होने पर निराश, हताश होना, मानसिक तनाव को जन्म देता है। उसी प्रकार इन्द्रियो की इच्छाओ की पूर्ति के लिये अधिक खाना, तामसिक भोजन खाना, संयम रहित जीवन यापन करना, अधिक विषयभोग मे लिप्त रहने से पाचन संस्थान सम्बन्धी व अन्य रोगो का पैदा होना समाविष्ट है।

परिग्रह से मानव-स्वास्थ्य की हानि

जैन शास्त्रो मे बताया गया है कि जहाँ परिग्रह है, वहाँ कलह का,

असतोष का, अशाति का बोलबाला है, जो मानव स्वास्थ्य को चौपट कर देता है। मानव परिग्रह से लिप्त होने से रात-दिन येन-केन प्रकारेण अर्थ उपार्जन मे लगा रहता है, उसका जीवन असंयमित व अस्वास्थ्यकर हो जाता है। वह चलती-फिरती मशीन की तरह, कोलाहलयुक्त अशात जीवन व्यतीत करता है। परिग्रह के कारण ही मानव क्रोध, द्वेष, दुर्व्यसनों से घिरा रहता है, अत: परिग्रह ही मानव के समस्त दु खों का कारण है। वह स्वयं को भी दु.ख मे डालता है और दूसरो को भी। परिग्रह व्यक्ति व समाज दोनो का ही नुकसान करता है। इससे न व्यक्ति का स्वास्थ्य अच्छा रहता है और न समाज का स्वास्थ्य ही अच्छा रहता है। परिग्रह आध्यात्मिक हानि का कारण तो बनता ही है, साथ ही साथ इससे शारीरिक हानि भी होती है।

परिग्रह के कारण ही इच्छा-मूर्च्छा का ममत्व होता है। इससे सग्रह करने की प्रवृत्ति का जन्म होता है। मानव खाद्य पदार्थों का, सम्पत्ति का आवश्यकता से अधिक सग्रह करता है, जिससे अन्य जरूरतमद लोगो की मूलभूत आवश्यकता की भी पूर्ति नही होती है। इस कारण लोगो को नगा-भूखा रहना पडता है। इसी कारण समाज मे विकृतियाँ पैदा होती है, चोरी, डाका, लूटमार, हत्या, छीना-झपटी आदि समस्याओं का जन्म होता है। मानव का मानव से समाज मे सम्बन्ध, स्नेह, व्यवहार दूषित हो जाता है, स्वास्थ्य का एक पहलू **'सामाजिक अच्छापन'** प्राय नष्ट होता सा दिखाई पड़ता है। मानवीय दरारे गहरी होती जाती है। अशाति, क्लेश से मानव जीवन बिलकुल ही अस्वास्थ्यकर व विकृत हो जाता है।

परिग्रह के वशीभूत होकर मानव बिना श्रम किये ही सासारिक सुख भोगना चाहता है, स्वय को बड़ा सिद्ध करने की इच्छा रखता है, तथा ठूंस-ठूंस कर खाता है। अभिमान मे डूबा रहता है, अधिक धन, मुनाफा कमाने की लालसा के वशीभूत होकर अमानवीय गलत कार्य करता है। खाद्य पदार्थो मे मिलावट करता है, फलस्वरूप स्वयं के स्वास्थ्य को तो चौपट करता ही है, अन्य लोगो को भी रोगग्रस्त होने मे सहायता पहुँचाता है।

परिग्रह के कारण ही दो प्रकार की पोषण सम्बन्धी स्वास्थ्य समस्याएं हमारे देश मे व्याप्त है—एक ओर तो लोग खूब-खूब खाते है, भूख से अधिक खाते है, गरिष्ठ भोजन करते है तथा **अति पोषण** (over-nutrition) के कुप्रभावो से पीडित होते है जैसे **मोटापा, मधुमेह, उच्च रक्तचाप, हृदय रोग, गठिया, बदहजमी, आमाशय व आंतों के छाले (व्रण)** आदि। शारीरिक श्रम नही करने से उपर्युक्त वर्णित कुप्रभावो का स्वास्थ्य पर घातक प्रभाव पडता है। आज का आम व्यक्ति इन रोगो से पीडित है। दूसरी ओर अन्न के अधिक सग्रह से स्वार्थ-लिप्सा व येन-केन-प्रकारेण मुनाफा अधिक कमाने के लालच के

फलस्वरूप कई व्यक्तियों को पर्याप्त मात्रा मे भोजन भी नसीव नही होता। महंगाई बढती है, लोग जीवन के लिये दो जून रोटी जुटाने मे भी असमर्थ होते है, फलस्वरूप अधिकांश लोग अल्प-पोषण या पोषण की कमी (under nutrition) से पीड़ित होते है, जैसे—प्रोटीन-कैलोरी की कमी के रोग, विटामिन 'ए' की कमी के रोग, रक्तहीनता आदि। इस प्रकार पोषण सम्बन्धी रोगो का कारण परिग्रह है, शोषण, संग्रह की वृत्तियाँ है, आवश्यक पोपण सम्बन्धी वस्तुओ का गलत वितरण है।

परिग्रह के जाल में फँसा हुआ व्यक्ति धन कमाने की चेष्टा में खाद्य पदार्थो मे मिलावट करके आम जनता के स्वास्थ्य से खिलवाड़ करता है। आँतो के रोग, पक्षाघात, रक्ताल्पता, मिर्गी के दौरे, अंधापन, जिगर की खराबी आदि रोग खाद्य पदार्थो मे मिलावट के कारण होते है। सरसो के तेल में आरगेमोन ऑयल मिलाने से नजर की कमजोरी, हृदय रोग, अर्बुद, महामारीय जलशोध, गिरी के तेल, बादाम के तेल में खनिज तेल मिलाने से जिगर में खराबी कैंसरीय प्रभाव (जिसके कारण कैंसर हो जाता है)। अरहर या चने की दाल के बेसन में खेसरी दाल मिलाने से पक्षाघात तक हो जाता है। हल्दी में लेडक्रोमेट (पीला) मिलाने से रक्ताल्पता, अंधापन, मिर्गी के दौरे आदि रोग हो जाते है। मिलावट सम्बन्धी जघन्य अपराध जिससे आम जनता का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है परिग्रह के कारण ही होता है। धन कमाने का परिग्रह इन सबका कारण है।

परिग्रह, निर्दयता भी लाता है, हृदय को कठोर बनाता है। परिग्रह के लिये ही दुर्व्यसनो का सेवन किया-कराया जाता है। मांस भक्षण, मदिरा पान, जुआ, निन्दा, चुगली, भांग, गाँजा, मोर्फिया, हिरोइन आदि के प्रयोग से शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य समस्याये आधुनिक युग मे सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। परिग्रह के कारण ही अफीम, हिरोइन आदि का व्यापार लुक-छिपकर यहाँ-वहाँ होता ही रहता है। राष्ट्र-विरोधी गतिविधियाँ तथा युवा वर्ग के स्वास्थ्य के साथ खिलवाड़ में मादक द्रव्यो के उपयोग व व्यापार का बहुत वडा हाथ है।

परिग्रह के कारण ही मानव, स्वास्थ्य के लिये उपयोगी प्रकृति-प्रदत्त-पर्यावरण—पेड-पौधे, जगलो आदि का नाश करने मे लगा हुआ है। हरियाली, पेड-पौधे, जंगल स्वास्थ्य के लिये घातक प्रभावो को दूर करके स्वास्थ्यवर्धक जलवायु तैयार करते है, मानव की स्वार्थ-लिप्सा, लोलुपता, सम्पत्ति की अभिलाषा प्रवृत्ति ने इन सबको नष्ट करने मे कोई कसर नही छोड़ी है। परिग्रह के लिये हिंसा, झूठ, परदारागमन, परदाराहरण करने से रतिज रोगो की उत्पत्ति में सहायता मिलती है। परिग्रह के लिये स्वय के शरीर से भी द्रोह करके

सद्व्यवहार से स्वय को दूर रखा जाता है तथा प्रकृति विरुद्ध भोजन, मैथुन, नशा आदि कार्य जो शरीर के लिये हानिप्रद है, किये जाते है, जिसके फलस्वरूप शारीरिक एव मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न होती है।

इस प्रकार परिग्रह के कारण पाप करने सम्बन्धी आदतों के जन्म से कर्म-बन्धन होता है, दुःख का कारण तैयार होता है, साथ ही मानव का शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। जितने भी आधुनिक रोग हैं—उनका कारण परिग्रह सम्बन्धी वृत्तियाँ है। उच्च रक्तचाप, हृदय रोग, गठिया, मोटापा, मादक पदार्थों के सेवन के जहरीले प्रभाव, पोषण सम्बन्धी रोग, सभी प्रकार के मानसिक रोग—आत्म हत्या, मानव हत्या, मानसिक तनाव, रतिज रोग, मानव जीवन मे अशान्ति, दुर्घटना, मधुमेह, कैंसर, धूम्रपान के घातक प्रभाव, बदहजमी, खाद्य पदार्थों में मिलावट के हानिकारक प्रभाव आदि अनेक रोग व स्वास्थ्य मे गिरावट, मानसिक असतुलन का मुख्य कारण परिग्रह ही है। इच्छाओ की दासता, असंयमित, अमर्यादित जीवन जीने के तरीके, रात-दिन धन-संग्रह आदि के दूषित तौरतरीको के कारण ही मानव अनेक स्वास्थ्य समस्याओ से ग्रसित हो रहा है। परिग्रह के कारण होने वाले पापो, अनर्थो का पूर्णरूपेण वर्णन कर सभी स्वास्थ्य सम्वन्धी खतरो को व्यक्त करना यहाँ कठिन है।

अपरिग्रह व्रत एवं स्वास्थ्य-वृद्धि

परिग्रह से निवर्तने के लिये जो व्रत स्वीकार किया जाता है उसका नाम 'अपरिग्रह व्रत' हैं। अपरिग्रह के धारण करने से इहलौकिक एव पारलौकिक लाभ प्राप्त होते है।

इन्द्रिय भोग के पदार्थो पर नियन्त्रण, संग्रहवृत्ति पर अंकुश, इच्छाओ का दमन, सन्तोष करना, शान्ति रखना, लालसा, अभिलाषा का त्याग, सात्विक जीवन, शारीरिक श्रम करना, क्रोध, लोभ का त्याग, चिन्ता रहित जीवन, कलह से मुक्त जीवन, त्यागमय जीवन, खाने-पीने मे संयमता, मादक पदार्थो का त्याग, ईर्ष्या, वडाई, अभिमान का त्याग, कचन, कामिनी से दूर रहने का प्रयास (साधु जीवन के लिये आवश्यक), प्रेम, स्नेहयुक्त जीवन यापन आदि कार्य-कलाप अपरिग्रह व्रत के अन्तर्गत आते है। जिनका पालन करने से रोगों से मुक्ति तथा स्वास्थ्य वृद्धि (उत्थान) को बनाया जा सकता है। 'पहला सुख निरोगी काया' तब ही पाया जा सकता है जबकि जीवन मर्यादित, संयमित व अपरिग्रह के सिद्धान्तो पर आधारित हो। जैन संस्कृति मे युगों-युगो से आध्यात्मिक—आत्मिक उत्थान हेतु कई सिद्धान्त, नियम, उपनियम, क्रियाएँ आदि का उल्लेख तो उपलब्ध है ही, किन्तु इन नियमो के द्वारा परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से स्वास्थ्य

भी बनाया जा सकता है। अपरिग्रह के सिद्धान्त के पालन करने से ही जीवन मे शान्ति, मानसिक व आधुनिक रोगों से छुटकारा मिल सकता है। नियमित, संयमित दिनचर्या, नैतिक आचार, विचार, सदाचार, सद्व्यवहार, इन्द्रिय-निग्रह, ब्रह्मचर्य, योगाभ्यास, शुद्ध व पौष्टिक सात्विक आहार, स्वच्छ प्राकृतिक वातावरण आदि कार्य-कलाप अपरिग्रह के अन्तर्गत आते है, जिससे स्वास्थ्य बनाया जा सकता है, रोगो का निवारण किया जा सकता है। आधुनिक जीवन का व्यवहार "HURRY, WORRY & CURRY, जो कई घातक आधुनिक रोगो जैसे रक्तचाप, हृदय रोग, मानसिक रोग एवं आतो व आमाशय के व्रण आदि के लिये उत्तरदायी है उन पर अपरिग्रह के द्वारा अंकुश लगाया जा सकता है तथा **"सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामय"** के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

□ □ □

बहू की बुद्धिमत्ता

एक सेठजी थे। उनके पुत्र का विवाह होने पर जो बहू घर में आई वह बड़ी विनीत, निर्भीक और धर्ममर्मज्ञ थी।

घर में आकर उसने देखा कि सेठजी धर्मनिष्ठ तो है पर है बड़े कंजूस। उनका व्यवहार देखकर उसका मन खिन्न हो उठा।

एक दिन उसने सडी जवार के आटे की मोटी काली रोटी वनाकर सेठजी को परोसी। पहला कौर मुँह में रखते ही वे थू-थू कर बोले—"बेटी, घर मे आटा तो वहुत है। रोटी बनाने के लिए तूने यह सड़ी ज्वार का आटा कहाँ से मगवा लिया ?"

बहू ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—"आपने जो अन्नसत्र खोल रखा है। उसमे भूखों को ऐसे ही आटे की रोटी वनवाकर दान की जाती है। मैने सुना है जैसा यहाँ दिया जाता है, वैसा ही परलोक में मिलता है। बेचारे भूखे लोग तो पेट की आग बुझाने के लिए ऐसी सडी-गली रोटी खा लेते है पर परलोक मे आप ऐसी रोटी कैसे खा सकेंगे। यही सोचकर मैने अन्नसत्र से वह आटा मंगवा लिया और आपको उसकी रोटी वनाकर परोसी ताकि अभी से आपको वैसी रोटी खाने का अभ्यास हो जाय।"

बहू की सटीक वात सुनकर सेठजी की आँखें खुल गई और उन्होने अच्छे अन्न का प्रवन्ध कर दिया। □ कौशल्या भानावत

५३

पर्यावरण-शुद्धि और उपभोग-परिमाण व्रत

□ श्री संजीव भानावत

सम्पूर्ण सृष्टि में अपनी कुछ कतिपय विशेषताओं के कारण मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना जाता है। उसमें सोचने, विचारने और चिन्तन करने की विशेष क्षमता है। अपनी इन्ही विशेषताओं के कारण मनुष्य विकास की प्रारम्भिक अवस्था से आज इस यान्त्रिक युग मे पहुँच गया है।

व्यक्ति मे दो प्रकार की सामान्य प्रवृत्तियाँ पाई जाती है—मानवीय और पाशविक। इन दोनो प्रकार की प्रवृत्तियो, 'जिन्हे सत् तथा असत् प्रवृत्ति भी कह सकते हैं', में आपस मे सघर्ष चलता रहता है। ज्यों-ज्यो व्यक्ति काम, क्रोध, मान, मोह आदि कुप्रवृत्तियो पर विजय प्राप्त करता जाता है, उसके आत्मिक गुण निखरते जाते है अर्थात् उसमें मानवीय प्रवृत्तियाँ विकसित होने लगती है। यदि मनुष्य इन कुप्रवृत्तियों का दास बन जाता है तो उसमे पाशविक अथवा दानवीय वृत्तियाँ घर करने लगती है तथा उसकी सुख-शाति नष्ट होने लगती है।

ये मानवीय प्रवृत्तियाँ मन से संबद्ध होती है। मन अत्यन्त चचल एव गतिशील होता है। इसी कारण विविध साधनाओ का मूल मन को नियत्रित करना है। मन इच्छाओ का अपरिमित भडार है। इच्छाओ की यह अनन्तता सुखी जीवन जीने की राह मे प्रमुख बाधा है। व्यक्ति का यह प्रयास रहता है कि वह येनकेन प्रकारेण अपनी इच्छा की पूर्ति करे। एक इच्छा के पूरा होते ही फिर दूसरी इच्छा जन्म ले लेती है। इस प्रकार इच्छाएँ लगातार पनपती रहती है और मनुष्य वस्तुओ के भोग मे, इच्छाओ की सम्पूर्ति मे ही जीवन की सार्थकता समझ बैठता है पर इच्छाएँ पूरी होती नही।

जीवन मे सुखी रहने के लिए आवश्यक है—इच्छाओ का नियत्रण। भगवान् महावीर ने इसे इच्छा परिमाण, परिग्रह-परिमाण कहा है। इसका तात्पर्य है आवश्यकता से अधिक संग्रह नही करना। संग्रह वृत्ति व्यक्ति को स्वार्थी तथा ऐन्द्रिय भोग की ओर प्रवृत्त करती है। संग्रह वृत्ति से वस्तु विशेष के प्रति ममत्व की भावना बढती है। यह ममत्व भाव ही परिग्रह कहा गया है—

"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो ।"   (दशवैकालिक ६/२०)

यह मूर्च्छा भाव ज्ञान व विवेक दृष्टि को मंद कर देता है । विवेकपूर्ण ढग से चिन्तन-मनन न कर पाने के कारण व्यक्ति स्वय अपने लिए समस्याओं का घेरा तैयार कर लेता है । उसका कार्य-संसार अपने तक ही सीमित हो जाता है, दूसरों के प्रति करुणा और आत्मीयता की भावना कम होती हुई क्रमश· सूख जाती है और व्यक्ति निर्मम तथा कठोर बन जाता है । अप्राप्य वस्तु को पाने की लालसा तथा प्राप्त वस्तु को बनाये रखने का प्रयत्न व्यक्ति को दु खी, सतप्त और स्वार्थी बना देता है ।

अधिक भोगोपभोग की सामग्री संचित होने पर एक विशेप प्रकार का अहंकार जाग्रत होता है और दूसरो को दीन-हीन समझ कर अपने अह का पोषण होने लगता है । भोग-सामग्री के संचय और सवर्धन के लिए व्यक्ति नाना प्रकार के छल-छद्म करने लगता है और लाभ के साथ-साथ उसकी लोभवृत्ति निरन्तर बढ़ती रहती है । इस प्रकार परिग्रह का दुष्चक्र व्यक्ति को क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायो मे जकड कर उसे आन्तरिक रूप से विकारग्रस्त वनाकर भयाक्रान्त और पीड़ित बनाये रखता है । इससे उसके आन्तरिक जीवन का संतुलन विगड़ जाता है ।

परिग्रह का भाव हमारी चित्त वृत्तियों को विकारग्रस्त करता है। व्यक्ति के पास रही हुई किसी वस्तु को जिस पर उसका ममत्व है, यदि कोई लेना चाहे या छीनना चाहे, अपने उपभोग में लाना चाहे तो उस पर क्रोधभाव पैदा होता है और अहित करने की प्रवृत्ति सक्रिय होती है ।

व्यक्ति की अंत:प्रकृति का सम्बन्ध बाह्य प्रकृति से भी है । जब अत प्रकृति भोग के अतिरेक से दूषित बनती है तब वह बाह्य प्रकृति का भी शोषण करने लगती है । इससे वाह्य प्रकृति का संतुलन बिगड जाता है । आज की वैज्ञानिक शव्दावली में यही पर्यावरण या प्रदूषण है । प्राकृतिक नियमो के साथ मानवीय खिलवाड़ के दुष्परिणामों से हम सब अवगत है । थल, वायु तथा जल इन तीनो के प्रदूषण से मनुष्य के स्वास्थ्य पर विपरीत असर पड़ रहा है ।

आज व्यक्ति अपनी कुछ निहित सुविधाओ के लिए वृक्षो की तेजी से कटाई कर रहा है । जगल के जगल काटे जा रहे है । इससे एक ओर जहाँ अकाल की विभीपिका से हमे जूझना पड़ रहा है वही रेगिस्तान भी वढता जा रहा है । वृक्षो से रेगिस्तान का फैलाव रुकता था । खानो से कोयला तथा अन्य पेट्रोलियम पदार्थ भी तेजी से निकाले जा रहे है । उससे इनके भंडारो के समापन का खतरा तो हो ही गया है, साथ ही भूकम्प, बाढ आदि की भी अधिकता वढने लग गयी है । इससे प्राकृतिक संतुलन विगड़ने लगा है ।

अधिक उपज प्राप्त करने के लिए आजकल हम खेतों मे कीटनाशक दवाओं का प्रयोग करते है। इनसे क्षणिक लाभ भले ही हो जाए किन्तु धरती की उर्वरता पर इससे प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इनका प्रभाव इतनी धीमी गति से होता है कि हमें इसका अहसास ही नहीं हो पाता है।

थल प्रदूषण की भाँति जब पर्यावरण में वायु के संगठन में परिवर्तन होता है तो उससे वायु प्रदूषण फैलता है। ऐन्द्रिय भोगो के लिए अधिकाधिक साधन जुटाने और धन अर्जन करने के लिए औद्योगिकरण के नाम पर कल कारखानों की संख्या लगातार बढती जा रही है। इनकी चिमनियाँ जहरीला धुंआ उगलकर आसपास के वातावरण को भी जहरीला बना देती है। इससे ऑक्सीजन कम होती जाती है। विभिन्न राष्ट्रों के द्वारा किए जाने वाले आणविक विस्फोटों ने भी पर्यावरण को प्रदूषित किया है। इन आणविक विस्फोटों से रेडियोधर्मी किरणें निकलती है जो सारे वातावरण में फैल जाती हैं।

प्रदूषण के कारण वायुमण्डल में कार्बन मोनोआक्साइड गैस तथा सल्फर डाइआक्साइड फैल जाती है। इनका प्रभाव मानव शरीर पर पड़ता है। इनसे फेफड़े क्षतिग्रस्त हो जाते है और व्यक्ति न्यूमोनिया, कैन्सर, दिल की बीमारियों और टी० बी० आदि का शिकार हो जाता है। कारखानों मे कार्यरत मजदूर की आँखे उत्तेजना के फलस्वरूप भारी-भारी तथा लाल बनी रहती है क्योंकि फेफडे श्वसन क्रिया के मुख्य अंग है तथा प्रदूषण से सीधे प्रभावित होते है।

प्रदूषण का ही यह कारण है कि शहरी व्यक्ति सदा कमजोर रहता है। शीघ्र थकान, सिर चकराना, आलस्य, खाँसी, जुकाम आदि की आम शिकायत अधिकाश व्यक्तियों को रहती है। प्रदूषक पदार्थ हमारे रक्त द्वारा अवशोषित हो जाते है तथा मस्तिष्क, जिगर और गुर्दो को प्रभावित करते रहते है।

आज का विश्व अत्यन्त तीव्र और गतिशील हो गया है। कुछ ही घंटों में व्यक्ति विश्व के एक कोने से दूसरे कोने मे पहुँच सकता है। वायुयानों, राकेटों, कारो, कल कारखानों में चलती मशीनों आदि का धुआ ही नही शोर भी वायु प्रदूषण का मुख्य हिस्सा है। ध्वनि तरंगों की शक्ति इतनी तीव्र होती है कि वे मानव शरीर के सवेदनशील ततुओं पर अपना कुप्रभाव डाल कर उन्हे नष्ट कर देती है। ये तरंगे हमारी त्वचा, आंख, हृदय, पाचनतत्र तथा मस्तिष्क अधिक प्रभावित करती है कि व्यक्ति समय से पूर्व ही वृद्ध दिखाई उसकी आँखों की रोशनी कम हो जाती है, कार्यक्षमता नष्ट हो बार उसकी श्रवण शक्ति पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। केन्द्रीय स्नायु तन्त्र पर भी घातक प्रभाव पड़ता है।

विश्व की महाशक्तियो द्वारा किए जाने वाले ।।

प्रक्रिया से जल प्रदूषण का भी खतरा हो गया है। कारखानों में से निकलने वाले अन्तिम पदार्थ जो उपयोगी नही है, पाइपो द्वारा नदियो, झीलों या समुद्रों मे विसर्जित कर दिए जाते है जिनसे जल प्रदूषित हो जाता है। इस प्रकार वायु की भाँति जल भी जहरीला होता जा रहा है। अशुद्ध जल से पीलिया, पथरी, आंत्रशोध व अन्य अनेक घातक बीमारियों का सामना करना पड़ सकता है।

अधिकाधिक भोग और परिग्रह की प्रवृत्ति ने उत्पादनो के विक्रय की खोज में नये बाजार तलाशने की होड को जन्म दिया है जिससे नयी औपनिवेशिक संस्कृति का विकास हो रहा है। नयी औपनिवेशिक सस्कृति में व्यक्ति तनाव, कुण्ठा, सत्रास, अतृप्ति, अनास्था, एकाकीपन जैसी मनोवृत्तियों से ग्रस्त होकर जीवन निर्वाह कर रहा है। इस सस्कृति ने वर्तमान में हिसा व युद्ध को प्रोत्साहन दिया है। व्यक्ति यंत्रों का गुलाम होता जा रहा है। सहज मानवीय सवेदनाएँ लुप्त होती जा रही है।

पर्यावरण का प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण पर भी पडता है। वैज्ञानिकों की यह मान्यता है कि बच्चा अपने आसपास के वातावरण से काफी कुछ सीखता है। पर्यावरण को दूषित कर हमने प्रकारान्तर से पूरी पीढी के व्यक्तित्व निर्माण में बाधक बनने का खतरा मोल ले लिया है। व्यक्ति के संस्कार-निर्माण से लेकर सम्पूर्ण सृष्टि की शुद्धता को बनाये रखने के लिये आवश्यक है कि हम सारी प्रकृति के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करे। 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'—परस्पर उपकार करते हुए जीना यह भारतीय आदर्श हमारे जीवन का उद्देश्य होना चाहिये।

उक्त विवेचन से यह आभास होना सहज है कि इस असंतुलन के मूल मे परिग्रह-भोगवृत्ति ही मुख्य है। सामाजिक प्राणी होने के नाते व्यक्ति की कुछ मूलभूत आवश्यकताओ को नकारा नही जा सकता। इन आवश्यकताओ के लिए धन-सग्रह करना भी आवश्यक है। इस सचय को अनुचित नही कहा जा सकता, किन्तु यह ध्यान अवश्य रहना चाहिये कि धन-उपार्जन के स्रोत शुद्ध हो तथा इस उपार्जन मे किसी का शोषण और उत्पीड़न न हो। उपार्जित धन पर ममत्व भाव न रखकर उसका सामाजिक हित मे उपयोग करने की तत्परता भी व्यक्ति मे होनी चाहिये। जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यकताओ की पूर्ति करनी पड़ती है किन्तु जब ये आवश्यकताएँ मन की इच्छाएँ बनकर बढने लगती है तो परिग्रह बढ जाता है।

महावीर के अपरिग्रह दर्शन में इच्छा-परिमाण पर विशेष बल दिया गया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ ऐसे व्यवसायो का भी निषेध किया है जिनसे प्राकृतिक संतुलन बिगड़ता है। आज हम जिस समस्या से जूझ रहे है उसे

महावीर ने ढाई हजार वर्ष पूर्व ही महसूस कर लिया था । उन्होने इन व्यवसायों को कर्मादान मानकर सर्वथा त्याग देने की बात कही । जैसे "इगालकम्मे" अर्थात् जगलात आदि को खेती योग्य जमीन तैयार करने के लिए जला देना । "वणकम्मे" अर्थात् लकड़ी आदि के लिये जगलो को कटवा देना ।

इच्छा-परिमाण के साथ उपभोग-परिमाण व्रत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इच्छा-परिमाण मात्र इच्छाओ को सीमित करता है, किन्तु उपभोग-परिमाण इसका क्रियात्मक पक्ष है । उपलब्ध आय एव साधनों के उपयोग को यह व्रत नियत्रित करता है । व्यक्ति के मर्यादित जीवन की दृष्टि से २६ वस्तुओ का मर्यादाओ का उल्लेख शास्त्रों मे किया गया है जिनकी परिपालना करते हुए व्यक्ति नैतिक-आध्यात्मिक विकास यात्रा की ओर बढ सकता है ।

अपरिग्रही जीवन व्यक्ति को सयमी, आस्थावान् तथा सुखी बनाता है । यह जीवन दर्शन न सिर्फ व्यक्ति को जीवन के प्रति सही दृष्टि प्रदान करता है वरन् समाज मे उसकी महत्त्वपूर्ण भागीदारी को भी स्वीकृति देता है । कहा भी गया है कि जब मनुष्य दैविक और मानुषिक (मनुष्य सम्बन्धी) भोगो से विरक्त हो जाता है, तब वह आभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह को छोड कर आत्म-साधना मे जुट जाता है—

"जया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे ।
तया चयइ सजोग, सब्भितर बाहिर ।।"

(दशवैकालिक ४/१७)

□ □ □

आचार-शुद्धि / विचार-शुद्धि

विचार-शुद्धि के बिना आचार-शुद्धि वनावटी है । वह टिकाऊ नही होती । वैसी आचार-शुद्धि सर्कस के शेर की तरह होती है । जैसे सर्कस का शेर वकरी के साथ रहता है, किन्तु वह विचारो की शुद्धता के कारण नही, वरन् केप्टिन के कोडे के डर के कारण ऐसा करता है । यह शुद्धि चिरस्थायी कभी नही हो सकती ।

यदि आप लोक लाज से, राजा के भय से या गुरुजनो की फटकार के भय से आचार-शुद्ध रखते है, उसमे आपके मनोयोग का समर्थन नही है तो ऐसी आचार-शुद्धि बालू के ढेर पर वने हुए महल के समान है, जो न जाने कव ढह जाय ।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म०

५४

अपरिग्रह, ट्रस्टीशिप और प्रजातन्त्र

□ श्री उदय जैन

मानव सभ्यता के ज्ञात इतिहास में जो कि लगभग ३,००० वर्ष का है, आदमी ने २,१०० युद्ध लड़ने में लगभग २,७०० वर्ष बिताये और मात्र ३०० वर्ष ही शान्ति रही है। इतिहास का यह युद्ध-उन्मादी दौर समाप्त हो गया हो ऐसा नही लगता। आज भी आदमी की सभ्यता विध्वस के कगार पर जा पहुँची है। हमारी पूरी की पूरी मानवीय सभ्यता "बारूद के ढेर पर" खडी है और हमारी जरा सी गलती इस सम्पूर्ण विश्व को नेस्तनाबूद कर सकती है। शायद महावीर के बाद पहली बार आदमी "पूर्ण हिसा" को प्राप्त हुआ है जबकि उसके पास ५०,००० हाइड्रोजन बम और हजारों परमाणु बमों का जखीरा विध्वस के लिए उपलब्ध है। आज की इस सभ्यता ने हर व्यक्ति को भले ही शान्ति और चैन की सास नही लेने दी हो, किन्तु उसे मौत की नीद सदैव के लिये सुला देने की व्यवस्था अवश्य की है। विशेषज्ञो का अनुमान है कि हमने इतना अधिक विध्वंस इकट्ठा कर लिया है कि हम इस धरती को कम से कम २२ बार नष्ट कर सकते है। तो इसका अर्थ यह हुआ कि यदि भविष्य मे कोई विश्वव्यापी युद्ध हुआ तो हमारी इस सभ्यता का नामोनिशान मिट जायेगा और हम पत्थर युग मे पुनः लौट जायेगे, जहां से पहली बार आदमी की सभ्यता की यात्रा प्रारम्भ हुई थी।

यह विध्वंस व्यक्ति-व्यक्ति के असन्तोष का केन्द्रीय रूप है। मानवीय सभ्यता के विध्वंस के कगार तक पहुँचने की यह यात्रा बताती है कि मनुष्य मूलतः अहिसक स्वभाव का होने के बावजूद हिसा का यह एकत्रीकरण क्यो ? शायद विश्व की ४५० करोड़ की आबादी के "केन्द्रीभूत असन्तोष की विध्वसक परिणति" यह एकीकृत हिसा है। इसलिये इस विनाश से यदि हमे बचना हो तो हमे व्यक्ति-व्यक्ति के असन्तोष को दूर करना होगा। असन्तोप जो लोभ और तृष्णा और आवश्यकताओं के विस्फोट से है, असन्तोष जो गरीबी के दुष्चक्र से है, असन्तोप जो 'स्व' को न जानने से है, असन्तोप जो परिग्रह से है, असन्तोप जो एकान्तिक दृष्टिकोण और अपने अहं से है, असन्तोप जो मात्र स्वयं को ही सही समझने से है, असन्तोप जो रंग, रूप, जाति, वर्ग, वर्ण से जनित ऊंच-नीच और सामाजिक, आर्थिक अन्याय से है और असन्तोष जो दु.ख का मूल कारण न समझने में है। जब तक यह असन्तोप क्षार-क्षार होकर व्यक्ति-व्यक्ति मे गल

नही जाता, हम एक अंहिसक मनुष्य और अहिंसक समाज का निर्माण नही कर पायेंगे। एक नई मनुष्यता पैदा करने का मौसम आ गया है।

भौतिक दृष्टि से आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और रंग भेद तथा नस्लभेदी विषमताए पूरे विश्व मे विद्यमान है। दुनिया की ४५० करोड़ की आवादी मे लगभग २५० करोड की आबादी गरीबी और अति गरीबी की स्थिति मे जीवन बिता रही है। उन्हे जीवन की पाच बुनियादी सुविधाएँ—रोटी, कपडा, मकान, दवाई और शिक्षा उपलब्ध नही है। दुनिया की यह गरीबी और अति गरीब आबादी एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका के देशो मे केन्द्रित हो गई है। इन गरीब देशों के आधे बच्चे शिक्षा से वचित हो जाते है और जो स्कूल जाते है, उनमे भी लगभग आधे अपनी स्कूली शिक्षा पूर्ण नही कर पाते। भयानक गरीबी और कुपोषण से एक तिहाई बच्चे मौत के शिकार हो जाते है।

दूसरी ओर अर्थ सत्ता का केन्द्रीयकरण इतना अधिक है कि विश्व के समृद्ध देशो की २० प्रतिशत आबादी अविकसित और गरीब, शेष विश्व की ५० प्रतिशत उपभोग सामग्री को चट कर जाती है। आय, व्यय, उपभोग और वचत की भयानकतम विषमताए है। भारत में तो ये और भी ज्यादा है। एक अनुमान के अनुसार देश के २१२ औद्योगिक परिवारो के पास हिन्दुस्तान की ७२ प्रतिशत औद्योगिक सम्पदा केन्द्रित है। कुछ लोगो की आमदनी १० लाख रुपया रोज है तो कुछ की मात्र ७ रुपये रोज। ऊंच-नीच की भावनाएं और हरिजनो को जलाने की घटनाएं केवल भारत मे ही होती हो ऐसी बात नही है। रगभेद और नस्ल भेद की घृणित परम्परायें यूरोप और अफ्रीका मे भी फैली हुई है। भारत की ७२ करोड़ जनसंख्या मे से ४२ करोड आवादी "गरीवी की रेखा से नीचे का" जीवन जीती है और ५२ करोड लोग निरक्षर है। फिर २५ करोड युवा शिक्षित बेकार है और ५ करोड़ अशिक्षित बेकार।

विषमता, भूख, अज्ञान, बेकारी, भयानक गरीवी, अधविश्वास और अहवादिता ने आज के आदमी को विचार के आधार पर शून्य, आदर्श के आधार पर खोखला और कर्म के आधार पर चेतन शून्य बना दिया है। हम 'समत्व के सूर्य सागर' मे स्नान नही कर पा रहे है और अहं जन विषमता की अन्तहीन अंधेरी गली मे भटक गये है। इस अन्तहीन अंधेरी गली से "समता के सूरज" की ओर हमे 'अपरिग्रह की तेजस्विता" ही ले जा सकती है, "विपमता के उवलते दावानल से" "गांधी का ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त" ही वचा सकता है, ताकि प्रजातन्त्र की दीपशिखा आदमी की इयत्ता और गरिमा को प्रकाशमान कर उसे "मनुष्य से भगवान तक वन जाने की आत्मजयी यात्रा" करने के जन्म सिद्ध अधिकार की रक्षा कर नयी प्रभाती की ओर ढकेल सके।

अपरिग्रह तो जीवन रूपी जल में कमल की तरह है। यह एक प्रकार से अस्पर्श योग है। चीजे छुएँ न, बस यही जीवन साधना है। चीजे यदि आपको छू ले तो परिग्रह हो जाता है। चीजे न छुएँ तो अपरिग्रह हो जाता है। असली अपरिग्रह—चीजे न छुएँ, यह बोध साध लेना है। चीजे छोड़कर भाग जाना, न भाग जाना, गौण बात है। उसका कोई मूल्य नही है। भौतिक पदार्थो के विवेक को जो अपने भीतर स्थापित करेगा, वह धीरे-धीरे अपरिग्रह की जीवन स्थिति को प्राप्त कर लेगा। अपरिग्रह, भगवान महावीर की बडी से बड़ी देनो मे से एक है।

इस ससार मे सभी मनुष्य और जीव सुख चाहते है, कोई भी दुःख नही चाहता। किन्तु धरती आज दुःखो से भर गई है। इस सबध में महावीर ने एक नई अन्तर्दृष्टि दी और उनकी यह अन्तर्दृष्टि इस एक बात पर खडी है कि हर मनुष्य अपने कष्ट को, दु ख को, पीडा को एक-एक करके दूर करने की चेष्टा कर रहा है—फिर चाहे वह धन खोजता हो, यश खोजता हो, पद खोजता हो, प्रतिष्ठा खोजता हो, वह अपने दुःख को दूर करने का उपाय कर रहा है। विना यह जाने कि दुःख क्या है और किसे है? इससे वह कभी दुःख को दूर कर नही पायेगा। क्योकि एक दु ख दूर करेगा और दूसरा दु.ख घेर लेगा, क्योकि दु.ख का मूल कारण मौजूद रहेगा। तो महावीर कहते है कि अगर मनुष्य के मूल दुःख को हम समझे और दूर करना चाहे तो एक-एक दु.ख को दूर करने की जरूरत नही है। क्योकि जिस शरीर के पीछे हम सारे दुःख और पीडाओ को दूर करने में लगे होते है, वह शरीर हम नही है। एक-एक दु ख को जो दूर करेगा, वह शरीर से बधा रहेगा और जो सारे दु.खो के मूल मे झाकेगा, वह पायेगा कि हम शरीर से अलग है।

महावीर कहते है, समस्त दु.ख का मूल क्या है? दु ख का मूल है तादात्म्य, यह आयडेन्टिटी कि मै शरीर हूँ और सारे आनन्द का मूल यह है कि मै जान लूँ कि मै शरीर नही हूँ। आज तक यह असम्भव हुआ है कि वह जो भीतर बैठा है उस पर कुछ भी घटा हो और दुःखो का कारण यह प्रतीति है कि वह हम पर घट रहा है। जीवन मे कुछ भी नही है, जो आत्मा पर घटित हो सके। इस जगत की कोई शक्ति आत्मा को छू नही सकती। जो भी छूता है, शरीर को छूता है। इसलिये महावीर की मूल शिक्षा इस वात मे है कि प्रतिक्षण हम जाने कि हम शरीर नही है। हमे स्मरण होना चाहिये कि देह चलती है, मै देखता हूँ। वासना चलती है, मै द्रष्टा हूँ। मन चलता है, मै नही चलता। सारे चलन, परिवर्तन और गति के बीच जो स्थिर प्रज्ञा है जिसे गीता मे श्रीकृष्ण ने 'स्थिर प्रज्ञ' कहा है, वह आत्मप्रज्ञ मै हूँ। यही आत्म-प्रज्ञता की स्थिति आने पर अहिसा आती है, अपरिग्रह आता है। क्योकि जिसे यह दिखाई पडने लगे कि मैं शरीर नही हूँ, उसमे चीजे इकट्ठी करने का कोई अर्थ नही रह जायेगा और वह

'अस्पर्श' को उपलब्ध हो जायेगा । चीजो के बीच होकर भी वह चीजो से मुक्त हो जाएगा । अत चीजो से बधे नही, उनसे मोह न रखे, अन्यथा आप उन्ही मे उलझ जायेगे ।

एक साधु हुआ और एक बादशाह ने उसे बहुत प्रेम किया । उसे राज-महल मे बुलाया और वह चला आया । उस रात वह बहुमूल्य पलग पर सोया । तो बादशाह को सोते समय सन्देह हुआ कि यह सच्चा साधु नही दीखता । हमने कहा—महल मे चलो और एक बार भी इन्कार किये बिना वह महल मे चला आया । फिर सुबह हुई तो बादशाह ने कहा मुझे एक सदेह होता है तो वह साधु हसने लगा । उसने कहा वह तो हमने तभी समझ लिया था जब हम महल मे प्रवेश कर रहे थे । हमने तभी जान लिया था कि तुम्हारी दृष्टि घूम गई है । तो बादशाह ने कहा कि मुझे तो रात भर नीद नही आई कि तुम मे और हम मे क्या फर्क है । तब साधु ने कहा कि मेरे साथ गाव के बाहर चलो, वही उत्तर दिये देते है । वे गाव के बाहर गये, नदी-नाले और गाव समाप्त हो गया, दोपहर हो गई । बादशाह ने कहा क्या मूर्खता है, उत्तर देना है दो । और आगे से क्या मतलब ? साधु बोला—और आगे ही मेरा उत्तर है । अब हम लौटेगे नही । तुम भी मेरे साथ चलते हो ? तो बादशाह ने कहा—मेरे राज्य का, रानी का, प्रजा का, राजकुमार का क्या होगा ? तो साधु ने कहा—फर्क नजर आये तो जान लेना । हम जाते है, हमारा पीछे कुछ नही है । तुम्हारे पीछे सब कुछ है । हम फिर दरख्त के नीचे सो लगे और उससे भी कोई मोह नही होगा । तुम परिग्रह और मोह मे उलझोगे ओर उलझते ही रहोगे । यही है 'अस्पर्श योग' जिसे हम अपरिग्रह वृत्ति कह सकते है ।

क्योकि परिग्रह तो बन्धन है जो आदमी को बेड़ियो मे जकड देता है और तृष्णा के पानी मे, अधेरे रास्ते से धकेल देता है, जहाँ आदमी पाप के सावन मे नहाता रहता है, इसलिये महावीर ने कहा—

"मुच्छा परिग्गहो बुत्तो" (मूर्च्छा ही परिग्रह है) तथा "प्रश्न व्याकरण सूत्र" मे भी कहा गया है—

> "नत्थि एरिसो पासो पडिवधो अत्थि,
> सव्व जीवाण सव्व लोए ।"

परिग्रह के समान दूसरा कोई जाल नही है जिसमे व्यक्ति बंध. है, और मुक्त हो नही पाता । वह लाभ के अन्तहीन रास्ते पर भटक

महावीर कहते है—"जहा लाहो तहा लोहो
अर्थात् ज्यो-ज्यो लाभ होता जाता है, लोभ बढता

अत. हम कह सकते है कि अपरिग्रह को

मानवीय असन्तोष की मुक्तिदाता औषधि है । इसलिये महावीर ने कहा कि यदि जीवन में आनन्द पाना हो तो दूसरों को दु:ख देने में असमर्थ हो जाओ । किन्तु आज तो हम शायद आनन्द पाने को दूसरों को दु.ख देने को भी सीढियां बना लेते है । ऐसा व्यक्ति कभी आनन्द को उपलब्ध नही होगा । क्योंकि वह जितना दु:ख दूसरों मे व्याप्त करता रहेगा, उतना ही गहरा दु:ख उसके भीतर प्रविष्ट हो जायेगा । इसे महावीर कर्मबंध कहते है ।

शायद इसीलिये अपरिग्रह आज के असन्तोष की अमृत धारा है जिसमे समस्त मानवता शीतल स्नान कर आनन्द को उपलब्ध हो सकती है ।

गांधी का ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त हमारी दृष्टि मे 'आर्थिक समता का सूरज है' जिसकी किरणे इस धरती पर न्याय, समता और गरिमा की फसल तैयार कर सकती है । वे सामाजिक विषमता के दावानल को रोक सकती है और अशान्त विश्व को शान्ति का पाठ पढा सकती है ।

गांधी ने जिसके बारे मे विख्यात वैज्ञानिक आइन्सटीन ने कहा था कि "आने वाली पीढियां इस बात पर आश्चर्य करेगी कि कोई गाधी जैसा हाड-मांस का पुतला भी कभी इस धरती पर चला था—जिसने उस साम्राज्य को 'अहिसा' के माध्यम से अपने टापू मे वापिस भेज दिया, जिसके राज्य में कभी सूर्यास्त नही होता था ।" सत्य के अनेक प्रयोग किये है । ट्रस्टीशिप का यह सिद्धान्त भी उनके सत्य के प्रयोग का ही एक परिणाम है जिसके माध्यम से आज की आर्थिक सामाजिक विषमता को जड़ से मिटाने की कोशिश की गई है । क्योंकि गांधी से वडा दूसरा आदमी हिन्दुस्तान की नब्ज को पहचानने का दावा करने वाला कोई नही हुआ ।

ट्रस्टीशिप का यह सिद्धान्त इस अहिसक अवधारणा पर आधारित है कि अनेकानेक कलाओं की तरह धन कमाना भी एक कला है । जो व्यक्ति इसमे अधिक निष्णात होगा, वह अधिक धनपति होगा । तो इसलिए गाधी ने कहा कि अधिक उत्पादन, अधिक उत्पादकता और धन के उपयोग की दृष्टि से यह मानकर कि आप "पैसे के ट्रस्टी" है, न्यासी है—उसे उत्पादक कार्यो मे लगावे, समाज हित मे प्रयुक्त करे । उससे बधे नही क्योंकि इस वात का कोई सामाजिक मूल्य नही है कि आप रोज, शाम और सुबह हलवा पूरी खाते है । यह आपकी निजी पसन्दगी हो सकती है । सामाजिक मूल्य और इयत्ता इस वात मे है कि समाज के हर व्यक्ति को दोनो समय भरपेट रोटी खाने को उपलब्ध हो । और गाधी का यह न्यासवाद इस दिशा मे वढ़ाया गया एक सार्थक कदम है । जो जैन आगमो मे आये उन शानदार कथानको की मूल भावना के अनुकूल है जिनमे जैन व्यापारी और धनपति अपने तिजारती जहाज और वेड़े लेकर जव विदेशो में व्यापार करने जाते थे तो अपने पूरे क्षेत्र मे यह उद्घोपणा करवाते थे कि जो

भी व्यक्ति उनके साथ विदेशो मे व्यापार करने चलना चाहे, वह चल सकता है। उसे पूंजी चाहिये तो वह हम देगे तथा व्यापार मे अगर हानि हुई, तो भी हम उठायेंगे। यदि लाभ हुआ तो मात्र १० प्रतिशत हम लेंगे, शेष ९० प्रतिशत वह स्वय रखेगा। आर्थिक समृद्धि और समता की यह प्रक्रिया उस दौर मे बडी जीवन्त थी। आज उसी प्रक्रिया को परिवर्तित रूप मे अर्थात् गाधी के न्यासवाद के रूप मे हमें अपनाना चाहिए तो आर्थिक समता का नया सूरज इस धरती पर हम ला सकते है और एक अहिसक समाज और मनुष्य का निर्माण कर सकते है।

इसलिये भी कि इस पर हमने वर्षो चर्चा और मंथन मे गुजार दिये है कि यदि उपलब्ध 'धन' को सब लोगो में समान रूप से बाट दिया जाय तो भी उत्पादन, आय, गरीबी और भूख समाप्त नही होगी। इसलिए उपलब्ध अर्थ को ट्रस्टी समझकर समाज-हित मे, उत्पादन-कार्य मे प्रयुक्त किया जाय तो ही एक शान्ति और भूख से मुक्त अहिसक समाज का, एक नये आदमी का निर्माण इस धरती पर हम कर सकते है। सही अर्थो मे 'प्रजातन्त्र' इस धरती पर ला सकते है ताकि उपनिषद के उस ऋषि की भावना को हम साकार कर सकें जिसमे कहा गया है कि—

"असतो मा सद्गमय:
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मामृतम्गमय:"

अर्थात् हम असत्य से सत्य की ओर, अधकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरता की ओर बढे। यही अपरिग्रह का सन्देश है। जहाँ हम मनुष्य से भगवान् बन सकते है। कम से कम 'अहिसक मनुष्य' तो बन ही सकते है जिससे समता की किरणे प्रस्फुटित हों।

□ □ □

मूर्च्छा अन्तर की बेहोशी

मूर्च्छा मूलक सग्रह ही है,
एक मात्र शोषण का मूल।
शोषण से ही पैदा होते,
जनता मे विग्रह के शूल॥
मूर्च्छा अन्तर की बेहोशी,
परम ज्योति पर तम की धूल।
निज-हित, पर-हित दोनो से ही,
करती जन-मन को प्रतिकूल॥

□ उपाध्याय श्री अमर मुनि

५५

परिग्रह की मर्यादा

☐ श्री धन्ना मुनि

संसार का कोई भी प्राणी ऐसा नही जो दु:ख, अशान्ति और अमंगल चाहता हो, प्रत्येक प्राणी सुख, शान्ति और आनन्दमय जीवन जीने की अभिलाषा, आकांक्षा और इच्छा रखता है। परन्तु आज का मानव शान्ति चाहते हुए भी अपने ही हाथों अशान्ति के बीज बो रहा है। हमारी कठिनाई यह है कि हम जैसा चाहते है वैसा करते नही। हम आम का वृक्ष चाहते है, परन्तु बीज आक का बोते है तो भला हमें आम की प्राप्ति कैसे होगी? कोई मनुष्य नवनीत की प्राप्ति के लिए पानी को ही बिलौने लगे तो क्या उससे मक्खन की प्राप्ति हो जाएगी? पानी को बिलौते-बिलौते मनुष्य अपनी जिन्दगी पूर्ण करदे, परन्तु उसे मक्खन तो क्या झाग भी प्राप्त नही होगे। ठीक इसी प्रकार मनुष्य आज अशान्ति के बीज बोकर चाहता है कि मुझे शान्ति मिले, भला यह कैसे सम्भव है?

आज का मानव भौतिकता की चकाचौध में पागल की तरह विना रुके दौड़ते-भागते ही जा रहा है और यह दौड़ कोई आत्म-शान्ति के लिए नही और न ही शाश्वत सुखो की प्राप्ति के लिए वरन् यह दौड़ परिग्रह की वृद्धि के लिए, चन्द चॉदी के कलदारों के लिए, नाशवान सम्पत्ति-जमीन-जायदाद के लिए हो रही है। आज हम निरंजन निराकार सर्वज्ञ सर्वदर्शी परम प्रभु महावीर के अपरिग्रह के महान् सिद्धान्त को छोड़कर परिग्रह की उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए ही अपना अनमोल जीवन लगाने के लिए कटिबद्ध हो गये है।

शास्त्र मे परिग्रह दो प्रकार का वताया गया है: (१) द्रव्य परिग्रह और (२) भाव परिग्रह। परिग्रह का परिमाण करना, सीमा रखना, मर्यादा रखना, अपरिग्रह की श्रेणी में आता है और इसकी सीमा न रखना मर्यादा न करना परिग्रह मे जाता है।

कोई-कोई तो कहते है महाराज साहव, मेरे पास तो आज सुवह खाने को है, शाम को नही, वड़ी मुश्किल से गुजारा चलता है और आप परिग्रह की मर्यादा की वात वता रहे है। मानो आज मेरे पास सौ रुपये भी नही है और मर्यादा करली मैंने लाखों रुपयो की। लाख से ज्यादा नकद नही रखूंगा। भला, ऐसी मर्यादा करने से क्या लाभ? परन्तु वन्धुओ! वात ऐसी नही है। लाभ कैसे

नही ? अरे आप एक सीमा में तो आ गये। रही बात ऐसी मर्यादा से क्या लाभ ? माना कि अभी कुछ नही है और एक साथ उसने लाख तक की मर्यादा करली है, तो जरूरी नही कि उसके सारे दिन एक जैसे ही रहेंगे। कब भाग्य पलटा खावे और वह धनाढ्य बन जावे, कौन जाने ?

हर एक चीज की सीमा होनी चाहिए "अति सर्वत्र वर्जयेत" अरे और तो और समुद्र भी अपनी सीमा में, मर्यादा में रहता है। यदि वह सीमा छोड दे, अपनी मर्यादा तोड़ दे तो क्या होगा ? प्रलय मच जायेगी। अत हमे भी चाहिए कि हम भी अपनी सीमा में रहे ?

प्रश्न उठता है कि आनन्द श्रावक ने जिस समय परिग्रह-परिमाण का व्रत लिया, उस समय उसके पास बारह कोटि मोहरे तथा चालोस हजार गाये थी। इतनी की ही उनको मर्यादा थी, शेष का त्याग था। परन्तु उनके गृहवास काल की समाप्ति तक इन मोहरों से वृद्धिगत होकर जो रकम आई होगी तथा गायो से जो बछडे आदि की वृद्धि हुई होगी, उसका उन्होने क्या किया होगा ? यदि अपने पास रखा होगा तो मर्यादा कायम नही रही और न रखा तो क्या किया ?

इसका समाधान यह है कि आनन्द श्रावक ने वृद्धि की रकम को परोपकार मे, सधर्मियो की सेवा मे लगायी होगी और बढ़ती हुई गौ जाति को दान मे दिया होगा। नही तो उनकी उतनी ही संख्या रहना असंभव है। आनन्द जैसा श्रावक अपनी की हुई प्रतिज्ञा से, मर्यादा से अथवा परिमाण से, फिसल जावे ऐसा नही हो सकता। जिसकी प्रशसा भगवान् महावीर ने अपने मुखारविन्द से की, भला वह व्यक्ति कमजोर चरित्र वाला कैसे हो सकता है ?

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्री-वेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद और मिथ्यात्व, इनको शास्त्रकारो ने भाव परिग्रह कहा है। क्योंकि इन भाव परिग्रह का सीधा हमारे आत्मा के साथ संबध है। जब तक ये हमारे जीवन मे रहेगे, तब तक हमारी आत्मा को संसार-परिभ्रमण करना होगा और इन पर भी हमने परिमाण कर लिया तो क्रमश. आत्मा हल्की होती जावेगी। एक दिन ऐसा भी आयेगा कि हम सकल कर्मो का क्षय करके अव्याबाध सुखो को प्राप्त करेंगे।

परन्तु अफसोस है कि भाव परिग्रह का परिमाण तो दूर रहा, द्रव्य परिग्रह का परिमाण भी आज मुश्किल हो गया है। प्रभु महावीर के सिद्धान्तो को गौरव से चिल्ला-चिल्लाकर गाने वाले अनुयायियो ! आज यह अपरिग्रह सिद्धान्त कहाँ गया ? साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाये अपने-अपने मठ और महलों की संख्या बढाने मे लगे हुए है। उन्हे भगवान् की वाणी को पढने के लिए फुरसत नहीं है। वे आज प्रभु के बताये हुए महामार्ग को छोडकर, समाचारी के नियमों को तोड-

कर, भाई-भाई से मुखडा मोड़कर और न जाने कितने गरीबों का खून निचोड-कर, एकमात्र परिग्रह को जोड़ने के चक्कर मे लगे हुए है।

अरे, मुमुक्षुओ ! कुछ सन्तोष करना सीखो। वरना यह लोभ, लालसा, महत्त्वाकाक्षा, इच्छाएँ तुम्हें ले डूबेगी। अगर लोभ पर हमे सच्ची विजय प्राप्त करनी है तो सन्तोष, जो आत्मा का निजी गुण है, उसे प्रकट करना होगा। बिना सन्तोष के हमारी इच्छाओं का अन्त नही हो सकता। कवि सुन्दरदास ने बडे मार्मिक भाव अपने सवैये मे कहे है :—

जो दस बीस पचास भये, शत होत हजार तो लाख मगेगी।
कोटि अरब असंख्य भये, धरापति होने की चाह जगेगी॥
स्वर्ग-पाताल को राज मिले, तृष्णा तबहु अति आग लगेगी।
'सुन्दर' एक सन्तोष बिना, शठ, तेरी तो भूख कभी न बुझेगी॥

□ □ □

सम्पत्ति बनाम अमरता

महर्षि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थी—मैत्रेयी और कात्यायनी। जब महर्षि वानप्रस्थाश्रम मे थे, उन्होने एक दिन दोनों से कहा—'अब मै सन्यास लेना चाहता हूँ, किन्तु उससे पहले अपनी सचित सम्पत्ति का तुम दोनो मे विभाग कर देता हूँ।'

इस पर मैत्रेयी ने कहा—'स्वामिन् ! विभाग करने पर जो सम्पत्ति मुझे प्राप्त होगी, क्या वह मुझे अमर बना सकेगी ?

महर्षि वोले—'सम्पत्ति विलास की सामग्री दे सकती है, अमरता नही।'

मैत्रेयी ने कहा—'तो मै ऐसी सम्पत्ति लेकर क्या करूँ जो मुझे अमर नही बना सकती ? जिस अमरता को पाने के लिए आप स्वय सम्पत्ति छोड रहे है, उसी अमरता को मै भी पाना चाहती हूँ।'

इस पर महर्षि ने मैत्रेयी को धर्मोपदेश दिया और कात्यायनी को धन।

□ **श्री कल्याण ऋषि**

□ □ □

• मुनिश्री के अजमेर मे दिये गये प्रवचन का श्री लालचन्द जैन द्वारा सम्पादित अश।

५६ अपरिग्रहवाद बनाम संरक्षता का सिद्धान्त

☐ श्री सौभाग्यमल श्रीश्रीमाल

प्रत्येक धर्म मे लोक-कल्याण के उद्देश्य से कुछ न कुछ व्रतो का पालन करने पर विशेष बल दिया गया है। ऐसे पाँच व्रत जैन मान्यता की दृष्टि से बडे महत्त्वपूर्ण है और वे है—१. अहिसा, २. सत्य, ३. अस्तेय ४. ब्रह्मचर्य और ५. अपरिग्रह। इन सबमे अपरिग्रह का विशेष स्थान है।

परिग्रह के निषेध सूचक शब्द को अपरिग्रह कहते है। "परिसमन्तात् मोहबुद्धया गृह्यते य. स परिग्रहः" अर्थात् मोह (ममत्व) बुद्धि के द्वारा जो (पदार्थादि) चारो ओर से ग्रहण किया जाय, वह परिग्रह है। हमारे मन और इन्द्रियो की प्रकृति चचल है, हर क्षण मन में अनन्त संकल्प-विकल्प जन्म लेते रहते है। इनकी दौड असीम होती है और नई-नई इच्छाये मन में आती रहती है। यही इच्छाये परिग्रह का मूल कारण बनती है।

मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार मानव के मन मे सर्व प्रथम अनधिकृत सामग्री प्राप्ति की प्रबल इच्छा जन्म लेती है। तदनन्तर उसके सग्रह करने की दिशा मे प्रवृत्ति होती है। इन सगृहीत वस्तुओ पर ममत्व हो जाता है, वही ममत्व आसक्ति का रूप धारण कर लेता है। जितना घना ममत्व होगा, उतनी ही सग्रह वृत्ति बढती रहेगी। कोई भी व्यक्ति बाह्य रूप से अपरिग्रही दिखाई देता हो पर ममत्व भाव से युक्त होने पर वह अन्दर से उतना ही महापरिग्रही हो सकता है। इसी प्रकार ममत्व भाव से रहित अनासक्त वृत्ति वाला मनुष्य अतुल वैभव के बीच रह कर भी अपरिग्रही हो सकता है। वास्तव मे अपरिग्रह किसी वस्तु के त्याग का नाम नही, अपितु किसी वस्तु में निहित ममत्व के त्याग का नाम है। इसका यह अर्थ हुआ कि यदि वस्तु के अनावश्यक सग्रह को नियन्त्रित करना हो तो उस वस्तु के त्याग से पूर्व उस वस्तु मे निहित ममत्व का त्याग आवश्यक होगा।

हमारी आकाक्षाएँ अनन्त होती है और ज्यो-ज्यो उनकी पूर्ति होने लगती है त्यो-त्यों ही लोभ और मोह बढने लगता है और व्यक्ति अनैतिक ढग से सग्रह मे लग जाता है। उसकी बुद्धि पर मोह का एक ऐसा आवरण आ जाता है कि वह भले-बुरे का अन्तर कर ही नही सकता। ऐसी परिस्थितियो मे एक का सुख दूसरे का दु ख का कारण बन सकता है और उनसे विषमता का जन्म होता है।

आज लोग विभिन्न स्रोतों से असहजभाव से अर्थोपार्जन और संग्रह की दौड में तन्मय हो रहे है। इससे विषमता की खाई गहरी होती जा रही है। दुर्भाग्य से पैसा ही प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु का मानदंड बन गया है। यह सही है कि सामाजिक व्यवस्था एव उदर पूर्ति का साधन धन है, पर तृष्णा के वशीभूत होकर जब साधन ही साध्य बन जाय, तब उसकी प्राप्ति के लिए व्यक्ति विवेक-अविवेक, न्याय-अन्याय, भला-बुरा, उचित-अनुचित आदि का बिलकुल ध्यान नही रखता और सग्रह की वृत्ति घर कर लेती है। यह पूँजी जब कुछ के ही हाथो मे सीमित होकर रह जाती है तब यही से पूँजीवाद का जन्म होता है जिसका दूसरा अर्थ है आर्थिक विषमता। यही आर्थिक विषमता ईर्ष्या, द्वेष और वैमनस्य की जननी है, जो हमारे कष्टो का मूल कारण है।

'दशवैकालिक सूत्र' में भगवान महावीर ने कहा है—'असविभागी न हु तस्स मोक्खो' अर्थात् जो व्यक्ति बाटकर नही खाता, उसको मुक्ति नही मिल सकती। जैन शास्त्रो मे सविभाग शब्द का प्रयोग समविभाजन या समान वितरण का द्योतक है। 'परिग्रह-परिमाण' का अर्थ है परिग्रह की सीमा निर्धारित करना अर्थात् अपनी अनिवार्य आवश्यकता के योग्य वस्तुये रखकर शेष को अभावग्रस्त लोगो में खुले दिल से वितरित करना, इसे परिग्रह का परिमाण कहा जायगा। गृहस्थ मे रहते पूर्ण रूप से परिग्रह से छुटकारा पाना तो कठिन है पर उसकी परिसीमा निर्धारित की जा सकती है। इस प्रकार व्यावहारिक जीवन मे लालसा से मुक्ति एव आत्मशान्ति हम ला सके तो अपने दैनिक जीवन की हमारी अनेक व्याधियाँ सरलता से दूर हो सकती है।

आज गरीब-अमीर की भेद रेखा मिटाने के लिए समाजवाद-साम्यवाद की बात कही जाती है पर इससे तो आतक, प्रतिद्वन्द्विता, प्रतिशोध एव आन्तरिक कलह आदि का जन्म होता है। वस्तुत: साम्यवाद समता मूलक समाज का बाह्य प्रयोग है पर इन बाह्य प्रयोगो की सफलता मानव के आन्तरिक धरातल (अपरिग्रह भावना) पर प्रतिष्ठित समता पर ही निर्भर करती है।

विपुल धन सग्रह से अपव्यय की आदत बनेगी और नैतिक मूल्यो पर आघात पहुँचेगा, जिन्हे खोकर कोई व्यक्ति कितना ही वै[illegible] ले, वह अपनी और समाज की दृष्टि मे गिर जायेगा।

गाधी युग ने मानवता की नव रचना के लिए चा[illegible]
सर्वोदय, सत्याग्रह, समन्वय और साम्ययोग। हमारे [illegible]
जीवन मे परम साम्य की प्रतिष्ठापना है। आर्थिक [illegible]
मानसिक साम्य ये तीनो साम्य सफल जीवनयापन के [illegible]
आर्थिक असमानता को दूर करने का महत्त्वपूर्ण साधन [illegible]
सिद्धान्त है जिसके मूल मे अपरिग्रह की भावना [illegible]

में जो मूलभूत भावना निहित है, वह है धनिक अपने धन का मालिक नहीं, ट्रस्टी है। यह भावना श्रम और पूँजी के बीच का संघर्ष मिटाने, विषमता और गरीबी मिटाने तथा आदर्श एवं अहिंसक समाज की स्थापना करने में बहुत सहायक है। प्रसिद्ध साहित्यकार एवं विचारक जैनेन्द्रजी ने कहा था—'पदार्थ परिग्रह नहीं है, उनमे ममत्व परिग्रह है।'

ट्रस्टीशिप की अवधारणा वर्तमान औद्योगिक युग की दृष्टि से अधिक विचारणीय है। विज्ञान और टैकनोलॉजी ने एक नयी सभ्यता को जन्म दिया है। यह सभ्यता २०० वर्ष से अधिक पुरानी नही है। इससे सारा विश्व प्रभावित हुआ है, अन्तर इतना ही है कि कही इसकी रफ्तार धीमी है और कही काफी तेज।

इस सभ्यता की कतिपय उपलब्धियाँ भी है जैसे उत्पादन की विकसित पद्धतियाँ, रक्षण के अच्छे साधन, निवास के लिए सुन्दर भवन, उन्नत शिक्षण पद्धति, खेल व मनोरंजन के आकर्षक साधन, काम में आने वाले उपयोगी औजार, चिकित्सा के अनूठे साधन व व्यवस्था, संचार, परिवहन और यातायात के तीव्रगामी साधन, टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन, कम्प्यूटर एवं सम्प्रेषण के अन्य अनोखे साधन आदि।

इसी प्रकार इस सभ्यता ने कुछ समस्याएँ भी उत्पन्न की है—जैसे जनसंख्या, गरीबी, विषमता, राज्यवाद, सैन्यवाद, प्रदूषण, समाज विघटन, मालिक-मजदूर सघर्ष आदि।

आज के व्यक्ति का जीवन के प्रति दृष्टिकोण सर्वथा बदला हुआ है। वह अपनी आवश्यकताओं को बेरोकटोक बढ़ाता जाता है और कम से कम शरीर श्रम कर उनकी पूर्ति करने की आकांक्षा रखता है। उसके लिए 'सादा जीवन, उच्च विचार' कोई अर्थ नही रखता। जो है उसी मे सन्तोष रखना उसको रुचिकर नही। उसकी लालसा बढ़ती ही रहती है और उनका कभी अन्त नही आता। अतः इन सबके निराकरण के लिए ही गांधीजी ने ट्रस्टीशिप को एक उपाय के रूप मे प्रस्तुत किया था जिसका उद्देश्य श्रम और पूँजी के बीच का संघर्ष मिटाने, विषमता और गरीबी हटाने, आदर्श अहिसक समाज एवं ग्रही समाज की स्थापना था।

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मागृधः कस्य विद्धनम्।'

सर्वशक्तिमान के नाम पर त्यागकर, केवल उसी का उ' तुझे प्राप्त है। तू किसी के धन की वासना न रख। ईसाई धर्म मे सबको छोडकर मेरे साथ आओ, स्वेच्छा से गरीबी का वरण

कुरान में कहा गया है—सग्रह करने वाले (जमाखोर) स्वर्ग मे प्रवेश नही पायेंगे ।

एक महान् विचारक का विचार था कि सम्पत्ति और आमदनी का एक हिस्सा समाज को देना चाहिए क्योकि समाज से ही हम सम्पत्ति या आमदनी प्राप्त करते है । इन सभी के पीछे दिशा एक ही है ।

अपरिग्रह की भावना के उदाहरण हमको सभी युगो मे देखने को मिलते है । राजा जनक और भरत राज्य के उत्कृष्ट ट्रस्टी के नमूने रहे है । अनेक राजे-महाराजे अपना सामन्ती शासन भी किसी देवता के प्रतिनिधि के रूप मे ही करते रहे है ।

हर्षवर्द्धन का प्रति वष के अन्त मे जमाकोष को जनता मे बॉटना, भामाशाह का राष्ट्र हित मे सर्वस्व निछावर कर देना, नासिरउद्दीन और औरगजेव का कोई धन्धा करके जीवनयापन करना, सम्पत्ति व राज्य के समस्त साधन होते हुए भी ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के अच्छे उदाहरण है । साहित्य मे भी ट्रस्टीशिप की भावना की एक झलक देखने को मिलती है । कबीर कहते है—

पानी बाढै नाव मे, घर में बाढै दाम ।
दोनो हाथ उलीचिये, यही सयानो काम ।।

धन के सदुपयोग का कितना मार्मिक सकेत किया है उन्होने । और भी—

साई इत्ता दीजिये, जामे कुटुम समाय ।
मै भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय ।।

गाधीजी की परिकल्पना के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त मे निम्न तत्त्वो पर वल दिया गया है :—

१. मानव का उद्देश्य धन, सम्पत्ति या सामाजिक कर्तव्यो की पूर्तिमात्र नही है वरन् आध्यात्मिक विकास है ।

२. सम्पत्ति का अपना स्थान है पर उसका मालिक वनना या मन चाहे ढंग से उपयोग करना उसके अधिकार-क्षेत्र मे नही है ।

३. सम्पत्ति रखने का उद्देश्य सग्रह वृत्ति के सन्तोष के लिए न होकर मानवीय सुख और व्यक्ति का विकास होना चाहिये ।

४. धन सम्पत्ति की तरह ही मनुष्य में कोई बौद्धिक या शारीरिक गुण हो सकता है, इसे भी समाज की धरोहर मानकर समाज के

कल्याण के लिए ट्रस्टी की तरह उस गुण अथवा शक्ति का दूसरो के लिए उपयोग करें ।

इस प्रकार ट्रस्टीशिप व्यवस्था में अपरिग्रह भावना मूल आधार है। उसमे सम्पत्ति के अपहरण को कोई स्थान नही । इसमे मालिकी को समाप्त करना अभिप्रेत है, मालिकों को नही । इसमे वर्तमान पूंजीपति वर्ग को अपना सुधार करने का अवसर प्राप्त होता है । ट्रस्टीशिप अर्थात् सरक्षता सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व का कोई अधिकार स्वीकार नही करती ।

गाधीजी कहते थे "फर्ज कीजिये कि विरासत या उद्योग-व्यवस्था के द्वारा मुझे प्रचुर सम्पत्ति मिल गयी । तब मुझे यह जानना चाहिये कि वह सब सम्पत्ति मेरी नही है, मेरा तो उस पर उतना ही अधिकार है कि जिस तरह दूसरे लाखों आदमी अपना गुजर करते है उसी तरह मै भी इज्जत के साथ गुजर भर करूँ। मेरी शेष सम्पत्ति पर राष्ट्र का अधिकार है और उसके हितार्थ उसका उपयोग होना आवश्यक है । वास्तव मे यह अहिसा का सिद्धान्त भी है ।"

सग्रह की मनोवृत्ति के कारण शोषण, अप्रामाणिकता, निरपेक्ष व्यवहार, क्रूर-व्यवहार, विश्वासघात आदि विकसित होते है । ये सब विषमता को जन्म देते और उसको प्रज्वलित करते है अत. हमे सग्रह वृत्ति से दूर रहना होगा, यदि सामान्य जीवन को सुख शान्ति से व्यतीत करना अभिप्रेत हो । सामाजिक एव आध्यात्मिक दोनो ही दृष्टियो से ऐसा करना उपादेय है । □ □ □

आय बनाम खर्च

एक सेठ ने किसी विवेकी पुरुष को अपना रत्न-भंडार दिखाया । उसने सेठ के वैभव की प्रशसा न कर उससे पूछा—सेठजी ! आपको इन हीरे-पन्ने, माणक-मोती से कितनी आय हो जाती है ? सेठ ने कहा—इनकी सुरक्षा के लिए पहरेदार रखे जाते है । अत: खर्च ही खर्च है ।

इस पर विवेकी पुरुष ने कहा—मेरे पड़ौस मे एक बुढिया रहती है । उसने दो पत्थर खरीद कर घट्टी (चक्की) बनाई है । उसकी आमदनी से वह अपना पेट भरती है और बाल-बच्चो का पेट पालन करती है, परन्तु करोड़ों रुपयों से आपने जो पत्थर खरीदे है, उनसे आपको कोई आमदनी नही, तो आप ही बताइये कि किसकी समझ ज्यादा है ?

सेठ को बात लग गई और तब उसने रत्न बेचकर उससे प्राप्त धन जन-हितकारी कार्यो में लगा दिया ।

□ रेखा नलवाया

५७

अपरिग्रह के सन्दर्भ में मार्क्स और महावीर

□ मुनि श्री रूपचन्द्र

मार्क्स का जीवन परम कारुणिक है। मानव मात्र के पीड़ित जीवन को देख कर उसके अन्त.करण मे जो करुणा का विस्फोट हुआ वह एक सीमा तक बुद्ध की विश्व-करुणा की ही प्रतिकृति है। उसके कारण, निवारण और साधनों की खोज भी बुद्ध के चार आर्य सत्यो की तरह सीधी और सपाट है। बुद्ध ने जैसे आत्मा, ईश्वर आदि से सम्बद्ध प्रश्नो को अव्याकृत कह कर हटा दिया था, कुछ वैसे ही मार्क्स भी धर्म को अफीम कहकर हटा देता है, क्योकि जो धर्म का ज्ञात रूप है, वह अन्धविश्वास, भाग्यवाद एव निष्क्रियता का समर्थक है, तथा जो मूल धर्म है, वह जन सामान्य तक पहुँच ही नही पाया है। वैसी ही स्थिति बुद्ध की रही होगी जब उन्होने इन प्रश्नो को ही हटाया क्योकि वे जानते थे कि उसकी भूमिका तक लोक-दृष्टि पहुँच ही नही पायेगी और लोक-दृष्टि तक उतर कर उनके शब्द अपनी अर्थवत्ता खोकर नये अन्ध-विश्वासो, मन की वासनाओ के स्रोत बनेगे। इसी कारण जो बुद्ध इन प्रश्नो को ही नकारते है, उनका जीवन प्रतिबिम्बित करता है इन्ही के उत्तर को, और जो मार्क्स धर्म को अफीम कहता है उसका जीवन साकार करता है, प्रेम और करुणा, विश्व मैत्री एव बलिदान की भावसत्ता और तदनुकूल आचार को। उसने शोषण, उसके कारण, कारणो को निवारित करने का लक्ष्य तथा उसके उपलब्धि के साधन निरूपित किये। लेकिन लोक-जीवन मे उनसे शोषण-मुक्त समाज की अवतारणा न हो सकी।

मार्क्स-दर्शन की बुनियादी भूल

मार्क्स के दर्शन मे एक बुनियादी भूल रही है और वह है—मानव के संस्थागत रूप पर ऐकान्तिक बल तथा उसके मानवीय रूप का सम्पूर्णत: विस्मरण। उसने अपने विचार का आधार यह सूत्र बनाया कि समाज मे शोषण का कारण वर्ग-भेद मय सामाजिक ढाँचा है, जिसे बदल डालने पर उसका अन्त हो जावेगा। उसका द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसी प्रतिपत्ति पर आधारित है कि मन जैसी कोई सत्ता नही है, बाहरी परिस्थितियो के मानव पर जैव-रासायनिक प्रभावो को ही मन की अभिधा दी जाती रही है। अत. जैसा बाहरी वातावरण होगा, मन वैसा ही बन जायेगा। मानवीय मन की सारी प्रवृत्तियाँ बाहरी वातावरण को ही प्रतिबिम्बित करती है।

एमिल बर्न्स के शब्दो मे—पदार्थ प्राथमिक सत्ता है, मन उसके आधार पर विकसित। अतः आदमी का शारीरिक अस्तित्व उसके अपने जीवन और जीवन के तरीकों के पहले आता है। दूसरे शब्दों मे सिद्धान्त से पहले व्यवहार आता है। सस्थाएँ और विचार हर युग के वातावरण की उपज है। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व और इतिहास नही है, उनके मूल मे कोई विचार या मनोभाव नही, वल्कि उत्पादन के भौतिक प्रयास के समानान्तर उनका विकास होता रहता है।

इस अवधारणा ने मानवीय मन और उसके वातावरण को बदलने की स्वतन्त्र क्षमता को एकदम अमान्य कर दिया। मानव और उसका मन वातावरण की, सस्थाओ की उपज है, उनको प्रतिबिम्बित मात्र करता है, अतः उन्हे वदलते ही समस्याओ का समाधान निकल जायेगा। मार्क्स भूल गया कि शोषण का जन्म पहले मन के धरातल पर अहंकार और स्वार्थ के रूप में होता है, तदनन्तर वह आचरण मे उतरता है और सामूहिक आचरण सस्थाओ के रूप में प्रतिविम्बित होता है। बाहरी ढाँचो को बदलते रहने पर भी मन का धरातल अगर वही है तो हर ढाँचा खोखला होगा जिसके छिद्रो से मन अपनी वासनाओं और कामनाओ की आपूर्ति करता रहेगा, शोषण और उत्पीड़न द्वारा। इसका सवसे बडा उदाहरण है स्टालिन या व्यक्तिवादी एकाधिपत्यवाद, जिसने सामाजिक सत्ता को अपनी पूजा का उपकरण बना डाला और मार्क्स के सामाजिक आदर्शो को अपने जीवन एव शासन काल मे एकदम उलट दिया। इसी की निष्पत्ति था वह नौकरशाही वर्ग जो आर्थिक-राजनीतिक सत्ता पाकर उनका स्वय स्वामी वन गया और शेष जनता का उत्पीडक तथा शोषक भी, जवकि उसे यह सव सौपा गया था एक लोकसेवा के उपकरण-रूप मे, एक न्यास या ट्रस्ट रूप मे।

दूसरी भूल

दूसरी भूल मार्क्स ने, विशेषतः उसके उत्तराधिकारियो ने, जो की वह साध्य-साधनविवेक की विस्मृति थी। हिसा नगी सत्ता है और सत्ता ही वैपम्य की जनक है। मार्क्स ने रक्तपात एव सहार की वात अपने पूरे वाङ्मय मे नही कही यद्यपि 'सग्राम' की चेतावनी पूंजीवादी व्यवस्था को सर्वत्र दी है। लेकिन उसके उत्तराधिकारियो ने रक्त-क्रान्तियो को साम्यमूलक समाजक्रान्ति का आधार बनाया। पाशविक शक्ति से जो व्यवस्था प्रतिष्ठित होती है, वह अपने आपमे शोषणमयी होती है चाहे उसका रूप कुछ भी हो। जव आचारीय प्रतिमानो का समापन हो जाता है तव स्थिति और भी विषम हो जाती है। लेनिन ने कहा—"राजनीति मे कोई नैतिकता नही होती, अनिवार्य आवश्यकता ही एकमात्र प्रयोजनीय वस्तु होती है। एक वदमाश मात्र वदमाश होने के कारण भी प्रयोज-

नीय हो सकता है। हमें धोखाधड़ी, विश्वासघात, कानून-भंग और झूठ बोलने आदि के लिए तत्पर रहना चाहिये। जिनसे हमारा मतैक्य नही है उनके प्रति हमारी शब्दावली ऐसी ही होनी चाहिए जिससे जन-साधारण के मन मे उनके प्रति घृणा, विरक्ति और अरुचि पैदा हो।.. " अत· साम्यवादी चिन्तन में ही आत्मघाती तत्त्वों का प्रवेश हो गया। साम्य एक नैतिक अपेक्षा है, नैतिकता का नकार साम्य का भी मूलतः नकार है। पूँजीपति मजदूरो का शोषण करे या मजदूर सत्ता ग्रहण कर पूँजीपतियो का, वैषम्य और शोषण दोनो स्थितियो मे रहता है। पूँजीवाद व्यक्तिसत्ता पर टिका हो अथवा राजसत्ता पर, वह पूँजीवाद ही रहता है। इसी कारण साम्यवादी क्रान्तियो की निष्पत्ति राज्य पूँजीवाद- स्टेट कैपिटलिज्म में हुई। राज्य के मूल में भी व्यक्ति है, अत. वह मूलतः उसी प्रकार की पूँजीवादी व्यवस्था रह गयी जैसी कि पहले थी। उसके साथ एकदलीय तानाशाही जुड़ने से मानवीय बुनियादी स्वतन्त्रताओं का अपहरण भी हो गया। व्यक्ति की दासता और अधिक भयावह तथा असहनीय हो गयी। साम्यवाद की विकृतियो के बीज उसकी मूल वैचारिक आधार-भूमि में ही छिपे थे, जिनका प्रकट होना अपरिहार्य था।

महावीर की करुणा

महावीर की करुणा भी मानवमात्र की नही अपितु जीवमात्र की पीडा का सतत बोध कर उसके निवारणार्थ मार्ग खोज रही थी और वर्षो की तप-साधना के बाद उसने कुछ मूलभूत सत्य निकालकर प्रस्तुत किये। महावीर का अपरिग्रह, उनकी अहिसा समग्र जीवन-सत्ता के परम सत्य को साकार करते है। परिग्रह को उन्होंने हिसा माना है और अपरिग्रह को अहिसा की एकमात्र शर्त। परिग्रह को उन्होने मूर्च्छा माना है और अपरिग्रह को जागरण का प्रतीक। परिग्रह को उन्होने शोषण, उत्पीड़न, अत्याचार एव वैषम्य के अलावा प्रमाद, लापरवाही, अज्ञान एवं आत्मविस्मृति का स्रोत भी अनुभव किया है। महावीर और मार्क्स की मूल दृष्टि मे अन्तर यही है कि जहाँ मार्क्स को पूँजीवादी व्यक्ति घृणास्पद प्रतीत होता है, महावीर उसे करुणा का पात्र अनुभव करते है। क्योंकि वह वस्तु-केन्द्रित होकर अपनी आत्म-सज्ञा खो चुका है, जीवित शव की तरह आत्म चेतना-शून्य काल-यापन कर रहा है। चिन्ता, क्रोध, तनाव, वेदना के असंख्य शल्यों से अपने को निपीड़ित कर रहा है। किसी उन्मत्त कापालिक की तरह सर्वत्र घृणा तथा वैर का बन्ध कर रहा है। वह मूर्च्छित है, एक प्रकार का मानस-रोगी है जिसका सहानुभूतिपूर्वक उपचार अपेक्षित है और उसका एक मात्र मार्ग है उसकी चेतना का जागरण। परिग्रह का जन्म मन के धरातल पर जिस मूर्च्छा मे होता है, वस्तु-जगत् के साथ चैतन्य का जो छलनामय तादात्म्य है उसी को तोड़ना आवश्यक है। भौतिक जगत् का घटनाचक्र तो मानव-चेतना के अतल गह्वर में घूमने वाले भाव-चक्र की प्रतिच्छाया मात्र है। अत· महावीर

का मार्ग है मन की चिकित्सा, अन्त. रूपान्तरण, चेतना का जागरण। वहीं से वह मानसिक अणु-विस्फोट हो सकता है जो व्यक्ति को भीतर-बाहर से बदल दे, उसके पारिवारिक-सामाजिक व जीवन-व्यवहार को परिवर्तित कर दे, शोषण एव वैषम्य का उन्मूलन कर शोषण विहीन साम्य-मूलक समाज की रचना मे जो निष्पन्न हो सके।

इस दृष्टि से महावीर और मार्क्स की भूमिकाओं में एक बुनियादी अन्तर है। मार्क्स जहाँ ऊपरी अभिव्यक्तियों को बदलने का निष्फल प्रयास करता रहा है वहाँ महावीर उसे ही बदलने की प्रेरणा देते है जिसके वे सब प्रतिबिम्ब मात्र हैं। महावीर हिसा का ही प्रतिकार करते है और शोषण हिसा का एक प्रकार है। वे लोभ को निवारित करने की प्रेरणा नही देते अपितु उसके कारण और निवारण के स्रोत भी निरूपित करते है। प्रमाद हिसा का मूल है, लोभ या अहं या वासना तीनो इसके प्रतिबिम्ब मात्र है मन के धरातल पर तथा शोषण और विषमता परिणतियाँ है उसकी। प्रमाद समाज का जितना शत्रु है उतना व्यक्ति का भी। अपितु व्यक्ति की सारी सत्ता को ही खा जाता है वह। अत महावीर प्रमाद को ही हिसा कहते है, कर्म बन्धन कहते है, मरण और नरक कहते है और उनका सारा विचार अप्रमाद पर केन्द्रित है। सम्पूर्ण व्यक्ति का रूपान्तरण उनका लक्ष्य है क्योंकि व्यक्ति ही बुनियादी इकाई है सारे सामाजिक राष्ट्रीय सगठनो की। महावीर मार्क्स से अधिक मूलग्राही है। उनका मार्ग लम्बा हो सकता है लेकिन एकमात्र सही मार्ग वही है। छोटे मार्ग की खोज में बहुत प्रयास हो चुके-फ्रास की राज्य क्रान्ति से लेकर संसार के आधे देशो मे साम्यवादी क्रान्ति तक और उनकी निष्पत्तियाँ मानवता के लिये कल्याणकारी नही रही हैं। मार्क्स ने हिसा का जो मार्ग बताया उसमें भी सामान्य आचारीय प्रतिमानों का नकार नही था। छल, फरेब, कृतघ्नता और विश्वासघात के लिये उसमे स्थान नहीं था। वह हिसा मात्र प्रतिक्रिया थी, मात्र विद्रोह थी। लेकिन उसके उत्तराधिकारियों ने सारे प्रतिमानो को ही नकार दिया। महावीर शोपण को हिसा मानते हैं, हिसा को एक प्रकार का शोषण ही मानते हैं। अत शोपण से शोपण का विनाश सम्भव नही है, यह उनकी स्पष्ट मान्यता है। महावीर शोपण को अनाचार मानते है, तथा अनाचार मूलतः शोपण ही है, यह भी जानते हैं, अतः उनका मन्तव्य है कि अनाचार के एक प्रकार से उसके दूसरे उन्मूलन संभव ही नही है।

शोषण का अस्वीकार

महावीर ने वैषम्य और शोषण के प्रतिकार का अहिंसक है। उसमे मानवीय चेतना की तेजस्विता समवेत शक्ति है, संगठन का वल है। असहकार अ... शस्त्रों का गाँधीजी ने भारत के स्वातन्त्र्य संग्राम में

द्वारा सर्वप्रथम तीन करण और तीन योग के रूप मे निरूपित किये जा चुके है। महावीर के मार्ग का अनुसरण करने वाला व्यक्ति अपने मे एक विस्फोटित परमाणु की तरह अपार शक्ति का साकार पुंज है जो सारे समाज में क्रान्तियो की एक शृंखला प्रसारित करने में समर्थ है, जैसे एक टूटा परमाणु शेप सारे परमाणुओ मे शृंखलाबद्ध प्रतिक्रिया (चेन रीएक्शन) पैदा कर अपार शक्ति का विस्फोट कर देता है। असहकार एवं अवज्ञा की शक्ति का जागरण अगर देश के सारे श्रमिकों में हो तो पूँजीपति उनका शोषण एक क्षण भी नही कर सकते। शोषण इसलिये होता है कि हम उसके प्रति भीतर से असहमत नही है। इसका कारण यह है कि इसमे से प्रत्येक शोषित दूसरों के लिये स्वय शोषक बन जाता है, इस कारण शोषक की सत्ता का समापन नही कर पाता। अगर शोषण का भीतर से उन्मूलन हो तो एक छोटा सा समुदाय भी समाज को बदल सकता है। मूल समस्या सख्या की नही, शुद्धि की है। जिस देश का हर व्यक्ति दूसरे से पहले अपना काम अन्यायपूर्वक भी करवा लेना चाहता है, उससे भ्रष्टाचार कैसे विदा होगा ? जिस समाज का हर व्यक्ति अपने से कमजोर को दबाकर आगे बढ जाना चाहता है, उस समाज मे शोषणविहीन समत्व की प्रतिष्ठा कैसे हो सकती है ? मूल समस्या यह नही है कि शोषण है बल्कि यह है कि हमने उसे स्वीकार कर रखा है, प्रतिष्ठा दे रखी है। हर व्यक्ति अपने लिये शोषण का नकार करता है, दूसरों के लिए स्वीकार करता है। इस स्थिति मे कितनी ही रक्त क्रान्तियाँ क्यों न हो, शोषण विहीन समाज सरचना एक असम्भव प्रकल्पना मात्र रहेगी।

जन-जन की चेतना का रूपान्तरण हो, शोषण के प्रति सब व्यापक सन्दर्भो मे नकार का स्वर उठाये तो असहकार एव अवज्ञा की शक्ति द्वारा समाज के सामने एक ऐसी क्रान्तिकारी स्थिति प्रस्तुत की जा सकती है जिसमें बदलने या मिटने के अलावा उसके सामने कोई विकल्प नही रहे। जो सगठित लोक-शक्ति, अवज्ञा और असहकार से एक विराट् साम्राज्य को स्वस्थ कर सकती है वह सारी मानवता के पुनर्नवीकरण में भी सक्षम है, लेकिन अहिसा का अधिष्ठान समत्व है, अपने और दूसरों के मध्य मन के धरातल पर। अगर हमारे भीतर दूसरो से स्वय को विशिष्ट समझने तथा उनके अहित की कीमत पर अपना हित-साधन करने की मूल प्रवृत्ति कायम है तो हम किसी भी क्राति द्वारा, चाहे वह हिसक हो या अहिसक, समाज से शोषण का अन्त नही कर सकते। महावीर का मार्ग शुद्धि का है—धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।

अगर महावीर के जीवन्त सत्यों का लोक-जीवन के धरातल पर सम्यक् अवतरण होता तो लोकतन्त्र का रूप ही बदल जाता, समाज की आर्थिक-सामाजिक व्यवस्थाएँ ही बदल जाती, परिवार और व्यक्ति के अन्त.सम्बन्ध ही बदल जाते तथा समग्र मानवता का अन्तःरूपान्तरण हो जाता।☐ • ☐

५८ अपरिग्रह के अनन्य उपासक और साधक गांधीजी

□ श्री काशिनाथ त्रिवेदी

जिसने जीवन के शाश्वत सत्य को उसकी गहराई में जाकर भलीभाँति देख, समझ और परख लिया, उसके लिए अपने नित्य के जीवन मे परिग्रह का कोई अर्थ और आकर्षण रह ही नही गया। उसने अनुभव से जान लिया कि परिग्रह तो मिट्टी के बने मानव की ही अपनी एक बहुत पुरानी कमजोरी है। सिरजनहार की सृष्टि में परिग्रह के दोष से लिप्त दूसरे कोई भू-चर, जल-चर और खे-चर प्राणी है ही नही। पशुओं और पक्षियों का, साँपो और अजगरों का, मगरो और मछलियो का अपना कोई परिग्रह अथवा सग्रह होता नही। उनके लिए वही सहज है और उसी में उनकी सारी शोभा और शक्ति समाई हुई है। पाँच तत्त्वो से बनी इस दुनिया मे किसी भी तत्त्व का अपना कोई परिग्रह कही होता नही। किन्तु मनुष्य ही एक ऐसा अपवाद-रूप प्राणी है, जिसने परिग्रह की माया मे अपने आपको बुरी तरह उलझा और फँसा लिया है। जिस हद तक वह इस माया मे डूबा है, उस हद तक उसकी मनुष्यता का पोत-पानी गिरा है, उसका पुण्य और पुरुषार्थ क्षीण हुआ है और उसकी मानवता कुण्ठित होकर रह गई है।

अपने आरम्भिक जीवन मे मनुष्य भी परिग्रही नही था। वह आज का अपना जीवन आज की स्थिति में जी लेता था, और कल का जीवन कल की स्थिति में जी लेने की उसकी तैयारी रहती थी। इसलिए उन दिनो, उस समय की स्थिति और परिस्थिति में उसके मन मे सग्रह की कोई इच्छा जागी नहीं। उसकी आवश्यकता भी रही नहीं।

अपने विकास के क्रम में मनुष्य जैसे-जैसे आगे बढता गया, एकाकी जीवन मे हटकर सामूहिक जीवन की दिशा मे उसने बढना शुरू किया, अपने रहने के लिए घर बनाए, घरों के समूह के रूप मे गाँवो की दुनिया खड़ी की, खेती की, गो-पालन की और घरेलू उद्योग-धन्धो की दिशा पकड़ी, तो उसके साथ सग्रह के रूप मे वह परिग्रह की वृत्ति वाला बना। परिग्रह मे उसने अपने लिए सुख, सुविधा और सुरक्षा के दर्शन किए। आगे चलकर जब व्यक्तिगत या समूहगत परिग्रह की, संग्रह की भूख प्रबल बनी तो उसके कारण [illegible] ग्रिग्रह की दिशा मे मुड़ा [illegible] ा, उसी मे [illegible] मुड़ा। ईर्ष्या-द्वेष के चक्र में फँसा।

संतुष्ट रहने की वृत्ति मे परिवर्तन आया और घर से लेकर समूची दुनिया तक परिग्रह की प्रचण्ड भूख ने मनुष्य को हिसक, क्रूर, अत्याचारी और अनाचारी बनने की दिशा मे मोड दिया। सदियों तक मनुष्यो की दुनिया मे यही क्रम चला। कमोवेश यही आज भी सारी दुनिया मे चलता दीख रहा है। परिग्रह के पाश से बँधा औसत मनुष्य आज इतना लोभी, लालची, स्वार्थी, कृपण और कठोर बन गया है कि अगर वह आज के अपने चेहरे को आईने मे देखे तो देखकर भौचक ही रह जाए !

सदियो तक चली परिग्रह की इस पाशवी उपासना ने जब लोक-जीवन को पैशाचिकता की ओर मोड़ा, तो उससे चौक कर अन्तर्मुख जीवन जीने की रुचि-वृत्ति वाले कुछ लोकोत्तर पुरुषो ने फिर समाज का ध्यान परिग्रह से हटाकर अपरिग्रह की ओर खीचा। अपरिग्रह की महिमा बढाने के लिए और परिवार मे, समाज में तथा देश मे अपरिग्रह के मूल्य और महत्त्व को पुष्ट करने के लिए उन्होने स्वय अपने जीवन और व्यवहार को अपरिग्रह के साथ जोडा। देश मे अपरिग्रहियो की एक लम्बी परम्परा चली। उसी परम्परा मे बुद्ध, महावीर से लेकर गाधी-विनोबा तक के अपरिग्रही महापुरुष हमारे बीच आए। वे बार-बार दिशा दिखाते रहे, रास्ते खोलते रहे, चेतावनियाँ देते रहे, पर इस सारी अवधि मे देश के ही नहीं, सारी दुनिया के आम आदमी का पिण्ड कुछ ऐसा बन गया कि परिग्रह के दोषो और दुष्परिणामो को जानते-समझते हुए भी वह परिग्रह के पाश से आज तक अपने को छुडा नही पाया है। परिग्रह की लालसा ने उसको बुरी तरह जकड़ लिया है। अपरिग्रह की बात सोचने और उसकी दिशा मे अपने कदम बढाने की कोई शक्ति उसमे शेष रही लगती नही है। आम आदमी की आज की मन:स्थिति और परिस्थिति ने उसको अपनी मनुष्यता और सामाजिकता से कोसों दूर हटा दिया है। मननशीलता अब उसके जीवन का जीता-जागता अग रह नही गई है। आज वह मननशील कम, अनुकरणशील अधिक बन गया है। औसत आदमी अब आदमी न रहकर बन्दरो की बिरादरी मे शरीक होता जा रहा है, और तारीफ यह है कि अपनी इस गिरावट का उसको न तो कोई रज और गम है और न उसके मन मे इसके लिए कोई लाज-शरम ही रह गई है।

मानव जाति के इतिहास की इस लम्बी परम्परा को भेदता हुआ ईसा की उन्नीसवी सदी के उत्तरार्ध मे हमारे बीच एक ऐसा महाप्राण पुरुष फिर आया, जिसने अपने समय की दुनिया को फिर अपरिग्रह की दिशा मे मोडने का अपने बस-भर भगीरथ प्रयत्न किया। देश ने और दुनिया ने उसको **'महात्मा गांधी'** के नाम से जाना और पहचाना। अपने निज के जीते-जागते उदाहरण से अपने देशवासियों को और अपने समय की दुनिया के लोगो को व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन मे अपरिग्रह की महिमा समझाते रहने का काम वे अपनी

अन्तिम साँस तक करते ही रहे। बीसवी सदी मे सार्थक और समर्थ अपरिग्रही जीवन जी लेने का जो एक अनोखा उदाहरण वे अपने समय की दुनिया के सामने छोड गए, उसकी वैसी दूसरी मिसाल मिलनी मुश्किल ही है।

गाधीजी अपने जमाने के उन बिरले लोगो मे थे, जिन्होने ईश्वर को सत्य मानने के साथ ही सत्य को ही ईश्वर मानने की बात भी पूरे जोर के साथ कही। वे अपने समय के सबसे बडे सत्याग्रही माने गए। सत्य की अपनी उत्कट उपासना के कारण ही वे अपने समूचे जीवन को व्रत-निष्ठ बना सके। उनकी यह व्रत-निष्ठा ही उनको उन ग्यारह व्रतो की दिशा मे ले गई, जिनको उन्होने अपने व्यक्तिगत जीवन में और अपने आश्रमो के सामूहिक जीवन मे प्रतिष्ठित करने का सजग प्रयत्न अविरत भाव से किया। सत्य की अपनी अखण्ड उपासना के कारण ही उन्होने अहिसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असग्रह, शरीर-श्रम, अस्वाद, अभय, सर्व धर्म-समानता, स्वदेशी और अस्पृश्यता को अपने जीवन-व्रतो के रूप मे अगीकार किया था। सन् १९१५ से लेकर १९४८ तक का उनका जीवन इन ग्यारह व्रतो की अनन्य उपासना मे बीता। व्रत-पालन मे उनके समान जागरूकता, तत्परता और चौकसाई के उदाहरण हमारे लोक-जीवन में कही देखने को मिलते नही है। सत्य की परिपूर्ण उपासना और आराधना के लिए गाधीजी ने अपरिग्रह को अनिवार्य माना था। लोक-सेवा और समाज-जीवन के अपने लम्बे और विविध अनुभवो के फलस्वरूप वे इस परिणाम पर पहुँचे थे कि सत्य-निष्ठ जीवन जीने के लिए अपरिग्रह अनिवार्य है। परिग्रह मे उनको कही सत्य के दर्शन नही हुए। इसलिए वे अपने जीवन-काल मे उत्तरोत्तर अपरिग्रही बनते चले गए। लोक-सेवा की उत्कट लगन ने उनको अपरिग्रह की दिशा मे मोडा। यही लगन उनको ब्रह्मचर्य दिशा मे ले गई। २७-२८ से ३०-३२ बरस की उमर तक पहुँचते-पहुँचते द्रव्य के प्रति और वस्त्राभूषण के प्रति उनकी आसक्ति विचारपूर्वक क्षीण होती चली गई और अपनी लोक-सेवा के बदले मे मिले कीमती उपहारो को अपनी नही, जनता की सम्पत्ति मानने का शुभ निश्चय वे कर पाए। इसके लिए उनको अपने मन के साथ और अपनी पत्नी और पुत्रो के साथ काफी जूझना पड़ा। इसकी चर्चा करते हुए '**सत्य के प्रयोग**' नामक अपनी आत्मकथा मे उन्होने लिखा था : '*मेरा यह मत बना है* कि सार्वजनिक सेवक के लिए निजी भेटे नही हो सकती।' अपने इस दर्शन पर वे अन्त तक चट्टान की तरह दृढ बने रहे। इसके साथ किसी कोई समझौता उन्होने कभी किया ही नही।

दक्षिण अफ्रीका से लेकर भारत तक का उनका ...
अपरिग्रह की उनकी उपासना और साधना का एक ...
अपनी सारी बुद्धि, सारी शक्ति, सारा समय, सारा

देने का निर्णय कर लेने के बाद गांधीजी की अपनी न तो कोई गृहस्थी रही, न कोई स्थावर-जंगम सम्पत्ति रही और न अपने कोई स्वजन-परिजन ही रह गए। जो छोटा था, जो अल्पजीवी था, उसको छोडकर, उससे कही ऊपर उठकर, वे विशाल और विराट् की दिशा मे बढते चले गए, जिसकी उत्तम परिणति उनके विश्व-कुटुम्ब मे हुई ! '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' का एक अनोखा उदाहरण वे अपने जीवन और अपने कार्य के द्वारा दुनिया के सामने सदा के लिए छोड गए। आत्म-दर्शन ने उनको विश्व-दर्शन के साथ जोड दिया। वे चराचर सृष्टि को अपने मे और अपने को चराचर सृष्टि मे देखने की रुचि, वृत्ति, दृष्टि और शक्ति वाले बन गए ! अपरिग्रह-सम्बन्धी उनका चिन्तन और आचरण उनको इतनी दूर तक ले गया। सब मेरे है, मै सबका हूँ और सबसे परे भी हूँ, ऐसी एक उदात्त भूमिका उनके जीवन और कार्य की बनती चली गई, अपने इसी चिन्तन के परिणामस्वरूप सन् १९३४-३५ के दिनो मे देश के ग़रीब-से-गरीब आदमी के साथ जुड़कर जीने और काम करने के विचार से गांधीजी ने मगन-वाड़ी, वर्धा का अपना निवास छोडने और सेवा गाँव—जैसे हरिजनों की बस्ती वाले एक छोटे-से गाँव मे, उनकी झोंपडी के ढग की ही अपनी एक झोपडी बनवाकर उसमें रहना शुरू किया, और वही से सारे भारत की स्वतत्रता के अपने आन्दोलनो को चलाया। अपरिग्रह की दिशा मे उनका यह एक और मजबूत कदम रहा। अपनी इस कुटिया के कमरों मे गाधीजी खजूर के पत्तो से बनी चटाइयाँ बिछवाते थे। उनसे मिलने के लिए आने वाले देश-विदेश के बडे-छोटे सब लोग इन्ही चटाइयो पर बैठ कर गाधीजी के साथ बातचीत करते थे। जो मेरे देश के गरीब-से-गरीब आदमी को नही मिलता, उसका उपयोग मै कैसे करूँ ? यह सवाल उनके मन में बराबर बना रहता था। उसको अपनी बराबरी पर लाने के लिए उनका चिन्तन और उनके काम लगातार चलते रहते थे। अपरिग्रह ही उनकी उपासना की यह एक बड़ी मंजिल थी। इस मज़िल की तरफ वे तेज गति से बढ़ रहे थे। जब तक बढ सके, बढते ही रहे। रुकने, थकने, हारने की कोई बात कभी उनके सामने रही नही। सेवा ग्राम—आश्रम का उनका जीवन, सुबह से रात तक की उनकी दिन चर्या, सर्वोदयी परिवार के जीवन के एक नमूने-सी बन गई थी। इसमे ग़रीब-से-गरीब आदमी के लिए भी गहरा आश्वासन भरा था।

अपरिग्रह के विषय मे गांधीजी किस गहराई तक पहुँचे थे, इसकी जान-कारी देने वाले उनके कुछ जीवन-प्रसंगो पर यहाँ हम थोडी निगाह डाले—

१. वस्त्र-त्याग

अपने जीवन-काल में सारे देश मे घूमकर गाधीजी ने बहुत नजदीक से उस समय के अपने लोगो की भीषण ग़रीबी के जो दर्शन किए, उनके फलस्वरूप

की जरूरत थी तुम इतनी पत्तियों वाली यह टहनी ले आई हो। क्या इससे अपरिग्रह का हमारा व्रत नही टूटा ? अस्तेय के हमारे व्रत को धक्का नही पहुँचा ? जब हम अपनी जरूरत से ज्यादा किसी चीज़ को अपने पास रखते हैं, तो हम अपने अपरिग्रह और अस्तेय के व्रत को तोडते है।' गांधीजी काफी देर तक मीरा बहन को अपनी यह बात समझाते रहे। मीरा बहन की स्थिति तो ऐसी बनी कि काटो तो खून नही !

३. 'बापू ! आप तो बहुत कंजूस लगते है।'

गाधीजी के एक बहुत जाने-माने साथी श्री मोहनलाल पण्ड्या एक दिन गाधीजी से मिलने और उनसे जरूरी बातचीत करने के लिए साबरमती के सत्याग्रह-आश्रम मे पहुँचे। खेडा जिले मे हुए किसानो के सत्याग्रह के दिनों मे पण्ड्याजी ने बड़ी बहादुरी दिखाई थी। गांधीजी से बातचीत करने के बाद उस रात वे आश्रम मे ही रहे। हृदयकुंज के सामने वाले खुले मैदान मे जहाँ रात को गाधीजी की खटिया लगती थी, वही मोहनलाल पण्ड्या की भी खटिया लगी और उस रात वे वही सोए। दूसरे दिन बड़े सबेरे जब जागने की घण्टी बजी, तो गांधीजी सहित सब जागे। तभी मोहनलाल पण्ड्या का ध्यान गांधीजी की तरफ गया। वे उस समय दातौन करके हाथ-मुँह धो रहे थे। पण्ड्याजी को अचानक एक मजाक सूझा और वे बोले : 'बापूजी ! आप तो बहुत ही कजूस लगते है।' गांधीजी ने हँसते-हँसते पूछा ! 'क्यों भाई, मै तुमको कजूस क्यो लग रहा हूँ ?' पण्ड्याजी ने कहा : 'मुश्किल से आधा सेर पानी जिसमे रह पाए, ऐसी इस छोटी-सी लुटिया के पानी से आप दातौन भी कर लेते है, और मुँह-हाथ भी धो लेते है। यह देखकर मुझको तो बडा अचरज होता है। आप पानी की इतनी कजूसी क्यो करते है। यहाँ से १०० क़दम यह साबरमती नदी बह रही है। इसमे पानी की कोई कमी नही है। ऐसी हालत में आप इतने कम पानी से अपना काम क्यो चलाते है ?' गाधीजी बोले : 'मोहनलाल भाई, यह साबरमती नदी मेरे बाप ने नही बनाई है। इस पर तो सारी चराचर सृष्टि का हक है। मै इससे अपनी जरूरत के लायक पानी ही ले सकता हूँ। जरूरत से ज्यादा लेता हूँ तो चोरी का गुनाह करता हूँ। देखिए, इस लुटिया भर पानी से मैने अपने दाँत भी माँज लिए, मुँह भी धो लिया, और हाथ भी धो लिए। मे कोई कसर रही हो तो मुझसे कहिए !' बेचारे मोहनलाल भाई क्या कह वे तो खिसिया कर रह गए।

४ स्नान-घर के बरतनो की चोरी

उन दिनों साबरमती के सत्याग्रह-आश्रम की प्रार्थना-भूमि से कुछ गाधीजी का अपना एक स्नान-घर बना था। इस स्नान-घर मे ताँबे- ा मे गांधीजी के लिए नहाने का पानी भरा जाता था। स्नान

स्नान-घर पर ताला लगाने की जिम्मेदारी एक आश्रमवासी भाई को सौपी गई थी । वह समय ऐसा था कि जब रात मे अहमदाबाद के आसपास की बस्तियो से कुछ आवारा लोग आश्रम की हद मे घुसकर छोटी-बडी चीजे चुरा लिया करते थे । एक रात गाधीजी के स्नान-घर का ताला खुला रह गया । संयोग से उसी रात आश्रम मे कुछ चोर आए और गाधीजी के स्नान-घर को खुला पाकर वे स्नान-घर मे रखे हुए तॉबे-पीतल के सब बरतन चुराकर ले गए । दूसरे दिन सुबह गाधीजी को इसकी जानकारी दी गई, तो इसमे उन्होने अपना ही दोष देखा, और कहा कि नहाने का पानी भरने के लिए हमको इतने कीमती बरतन रखने की जरूरत ही क्या थी ? हम अपने पास ऐसी कोई चीज रखे ही क्यों जिसको चुरा लेने के लिए किसी का मन ललचा जाए और वह चोर बन जाए ? इसके लिए दोषी तो हम ही है । ऐसे अवसरो पर गॉधीजी का मन बहुत ही सजग और सक्रिय हो उठता था । उन्होने तुरन्त ही निश्चय किया कि अब उनके स्नान-घर मे पानी भरने के लिए तॉबे-पीतल के कीमती बरतनो की जगह केरोसिन के खाली कनस्तरो का ही उपयोग किया जाए । उन दिनो ये कनस्तर काफी सस्ते बिकते थे । उस दिन से गाधीजी के स्नान-घर मे पानी के संग्रह के लिए खाली कनस्तरो का ही उपयोग होने लगा ।

५. मिट्टी का ढेला

एक शाम खेडा जिले के श्री मोहनलाल पण्ड्या फिर गाधीजी से मिलने और उनके साथ चर्चा करने के लिए साबरमती पहुँचे । उस रात उनको वही रुकना पडा । दूसरे दिन सुबह वे अपने हाथ मे पानी-भरा लोटा लेकर दिशा-जगल के लिए निकले । लौटते समय आश्रम के हाल ही जोते गए खेत मे से उन्होने मिट्टी का एक बडा-सा ढेला उठा लिया । वे नल के पास पहुँचे । पहले ढेले की थोडी मिट्टी लेकर उन्होने उससे अपने हाथ धो लिए । फिर थोडी और मिट्टी लेकर वे अपना लोटा मांजने लगे । तभी गाधीजी उधर से निकले । उनकी चकोर आख मिट्टी के उस बडे-से ढेले पर टिकी । उन्होने तुरन्त पूछा : 'मोहनलाल भाई, मिट्टी का यह इतना बडा ढेला यहां किसने रखा है ?' मोहनलाल भाई ने कहा—'बापू ! यह तो मैने रखा है । दिशा-जगल से लौटते समय मै खेत मे से इसको उठा लाया हूँ ।' गाधीजी बोले : 'क्यो उठा लाए हो ?' जवाब मे पण्ड्याजी ने कहा : 'बापू ! मिट्टी से हाथ धोने और लोटा माजने के लिए मै इसको ले आया हूँ ।' गाधीजी बोले : 'पण्ड्याजी, हाथ धोने और लोटा माजने के लिए तो चुटकी-भर मिट्टी काफी होती है । यह ढेला तो ढाई-तीन सेर वजन का लगता है । नल के पास इतने बडे ढेले की क्या जरूरत है ? यह यही पडा रह गया, तो नल के पानी से भीगकर यहा कीचड कर देगा । कीचड पर पैर फिसलने से [illegible] चोट भी लग सकती है । इस ढेले की जगह नल के पास नही है । [illegible]

की जरूरत थी तुम इतनी पत्तियो वाली यह टहनी ले आई हो। क्या इससे अपरिग्रह का हमारा व्रत नही टूटा ? अस्तेय के हमारे व्रत को धक्का नही पहुँचा ? जब हम अपनी जरूरत से ज्यादा किसी चीज को अपने पास रखते है, तो हम अपने अपरिग्रह और अस्तेय के व्रत को तोडते है।' गाधीजी काफी देर तक मीरा बहन को अपनी यह बात समझाते रहे। मीरा बहन की स्थिति तो ऐसी बनी कि काटो तो खून नही !

३. 'बापू ! आप तो बहुत कंजूस लगते है।'

गाधीजी के एक बहुत जाने-माने साथी श्री मोहनलाल पण्ड्या एक दिन गाधीजी से मिलने और उनसे जरूरी बातचीत करने के लिए साबरमती के सत्याग्रह-आश्रम मे पहुँचे। खेडा जिले मे हुए किसानो के सत्याग्रह के दिनो मे पण्ड्याजी ने बडी बहादुरी दिखाई थी। गाधीजी से बातचीत करने के बाद उस रात वे आश्रम मे ही रहे। हृदयकुंज के सामने वाले खुले मैदान मे जहाँ रात को गांधीजी की खटिया लगती थी, वही मोहनलाल पण्ड्या की भी खटिया लगी और उस रात वे वही सोए। दूसरे दिन बडे सबेरे जब जागने की घण्टी बजी, तो गाधीजी सहित सब जागे। तभी मोहनलाल पण्ड्या का ध्यान गांधीजी की तरफ गया। वे उस समय दातौन करके हाथ-मुँह धो रहे थे। पण्ड्याजी को अचानक एक मजाक सूझा और वे बोले : 'बापूजी ! आप तो बहुत ही कजूस लगते है।' गांधीजी ने हँसते-हँसते पूछा ! 'क्यो भाई, मैं तुमको कजूस क्यो लग रहा हूँ ?' पण्ड्याजी ने कहा : 'मुश्किल से आधा सेर पानी जिसमे रह पाए, ऐसी इस छोटी-सी लुटिया के पानी से आप दातौन भी कर लेते है, और मुँह-हाथ भी धो लेते है। यह देखकर मुझको तो बडा अचरज होता है। आप पानी की इतनी कजूसी क्यो करते है। यहाँ से १०० कदम यह साबरमती नदी बह रही है। इसमे पानी की कोई कमी नही है। ऐसी हालत में आप इतने कम पानी से अपना काम क्यो चलाते है ?' गाधीजी बोले : 'मोहनलाल भाई, यह साबरमती नदी मेरे बाप ने नही बनाई है। इस पर तो सारी चराचर सृष्टि का हक है। मै इससे अपनी जरूरत के लायक पानी ही ले सकता हूँ। जरूरत से ज्यादा लेता हूँ तो चोरी का गुनाह करता हूँ। देखिए, इस लुटिया भर पानी से मैने अपने दाँत भी माँज लिए, मुँह भी धो लिया, और हाथ भी धो लिए। धोने मे कोई कसर रही हो तो मुझसे कहिए !' बेचारे मोहनलाल भाई क्या कहते ? वे तो खिसिया कर रह गए।

४ स्नान-घर के बरतनो की चोरी

उन दिनो साबरमती के सत्याग्रह-आश्रम की प्रार्थना-भूमि से कुछ ही दूर गाधीजी का अपना एक स्नान-घर बना था। इस स्नान-घर मे ताँबे-पीतल के बरतनो मे गांधीजी के लिए नहाने का पानी भरा जाता था। स्नान के बाद

स्नान-घर पर ताला लगाने की जिम्मेदारी एक आश्रमवासी भाई को सौंपी गई थी। वह समय ऐसा था कि जब रात मे अहमदाबाद के आसपास की वस्तियो से कुछ आवारा लोग आश्रम की हद मे घुसकर छोटी-वडी चीजे चुरा लिया करते थे। एक रात गाधीजी के स्नान-घर का ताला खुला रह गया। सयोग से उसी रात आश्रम मे कुछ चोर आए और गाधीजी के स्नान-घर को खुला पाकर वे स्नान-घर मे रखे हुए ताँबे-पीतल के सब वरतन चुराकर ले गए। दूसरे दिन सुबह गाधीजी को इसकी जानकारी दी गई, तो इसमे उन्होने अपना ही दोप देखा, और कहा कि नहाने का पानी भरने के लिए हमको इतने कीमती वरतन रखने की जरूरत ही क्या थी ? हम अपने पास ऐसी कोई चीज रखे ही क्यो जिसको चुरा लेने के लिए किसी का मन ललचा जाए और वह चोर वन जाए ? इसके लिए दोषी तो हम ही है। ऐसे अवसरो पर गाँधीजी का मन वहुत ही सजग और सक्रिय हो उठता था। उन्होने तुरन्त ही निश्चय किया कि अव उनके स्नान-घर मे पानी भरने के लिए ताँबे-पीतल के कीमती वरतनो की जगह केरोसिन के खाली कनस्तरो का ही उपयोग किया जाए। उन दिनो ये कनस्तर काफी सस्ते विकते थे। उस दिन से गाधीजी के स्नान-घर मे पानी के सग्रह के लिए खाली कनस्तरो का ही उपयोग होने लगा।

५. मिट्टी का ढेला

एक शाम खेडा जिले के श्री मोहनलाल पण्ड्या फिर गाधीजी से मिलने और उनके साथ चर्चा करने के लिए सावरमती पहुँचे। उस रात उनको वही रुकना पडा। दूसरे दिन सुवह वे अपने हाथ मे पानी-भरा लोटा लेकर दिशा-जगल के लिए निकले। लौटते समय आश्रम के हाल ही जोते गए खेत मे से उन्होने मिट्टी का एक वडा-सा ढेला उठा लिया। वे नल के पास पहुँचे। पहले ढेले की थोडी मिट्टी लेकर उन्होने उससे अपने हाथ धो लिए। फिर थोडी और मिट्टी लेकर वे अपना लोटा माँजने लगे। तभी गाधीजी उधर से निकले। उनकी चकोर आँखे मिट्टी के उस वडे-से ढेले पर टिकी। उन्होने तुरन्त पूछा : 'मोहनलाल भाई, मिट्टी का यह इतना वडा ढेला यहा किसने रखा है ?' मोहनलाल भाई ने कहा—'वापू ! यह तो मैने रखा है। दिशा-जगल से लौटते समय मै खेत मे से इसको उठा लाया हूँ।' गाधीजी बोले : 'क्यो उठा लाए हो ?' जवाव मे पण्ड्याजी ने कहा : 'वापू ! मिट्टी से हाथ धोने और लोटा माजने के लिए मै इसको ले आया हूँ।' गाधीजी बोले : 'पण्ड्याजी, हाथ धोने और लोटा माजने के लिए तो चुटकी-भर मिट्टी काफी होती है। यह ढेला तो ढाई-तीन सेर वजन का लगता है। नल के पास इतने वडे ढेले की क्या जरूरत है ? यह यहा पडा रह गया, तो नल के पानी से भीगकर यहा कीचड कर देगा। कीचड पर पैर फिसलने से उतावली मे आने वालो को चोट भी लग सकती है। इस ढेले की जगह नल के पास नही है। इसको आप तुरन्त ही खेत

मे डाल आइए। यह वहाँ रहेगा तो चार दाने ज्यादा पैदा करके देगा। यहाँ नल के पास बना रहा तो यह कीचड बनकर किसी के हाथ-पैर तोड सकता है। इसकी जगह यहाँ नही, खेत में है।' पण्ड्याजी बोले : 'बापू, मै इसको फिर खेत मे डाल आऊँगा।' बापू ने कहा : 'आप पहले उठिए, ढेला अपने हाथ मे लीजिए, और मेरे सामने ही इसको वापस खेत मे डाल आइए। जब तक आप यह काम नही करेगे, मै यही रुका रहूँगा।' पण्ड्याजी ने ढेला उठाया और वे खेत की तरफ बढे। जब ढेला वापस खेत मे पहुँच गया, तो गाधीजी को तसल्ली हुई, और वे अपने मुकाम की तरफ बढ गए। चुटकी-भर मिट्टी की जगह बडे-से ढेले का सग्रह गाधीजी को इतना चुभा कि जब तक ढेला अपनी असल जगह पर नही पहुँचा, वे उसकी चिन्ता करते रहे। अपरिग्रह के व्रतधारी की आँखे कितनी चकोर और मन कितना चौकस होना चाहिए, इसका एक अच्छा-सा उदाहरण हमको इस प्रसग से मिलता है।

अपरिग्रही गांधीजी के रोज-रोज के जीवन-प्रसगो मे से ऐसे तो अनगिनत प्रसंग दिए जा सकते है, जिनसे अपरिग्रह मे उनकी गहरी निष्ठा व्यक्त होती रही है। अपरिग्रह की अपनी इस अखण्ड उपासना और साधना के फलस्वरूप ही गाधीजी ने अपने समकालीनो के सामने ट्रस्टीशिप की अपनी अनोखी योजना रखी थी। उन्होने अपने देश के उद्योगपतियो और धन कुबेरो को सलाह दी थी कि उनके पास उनकी अपनी आवश्यकता से अधिक जितनी चल-अचल सम्पत्ति है, उसके वे स्वय स्वेच्छा से ट्रस्टी बन जाएँ और उसका उपयोग लोकोपयोगी कामो मे करते रहने का व्रत ले ले। अपने पास धन-सम्पत्ति के रूप मे जो भी कुछ इकट्ठा हुआ है, वह अपना नही है, उनका है जिन्होने इसके इकट्ठा होने मे अपना योगदान किया है। जनता से मिली चीज, जनता की मानकर जनता को ही वापस दे देने की, उसी के उत्थान और कल्याण मे उसको लगाते रहने की रुचि और वृत्ति को गाधीजी ने विश्वस्त-वृत्ति माना था। परिवार, समाज और देश के स्वस्थ और सन्तुलित धारण-पोषण और सवर्धन-सगोपन के लिए लोक-जीवन में विश्वस्त-वृत्ति को परिपुष्ट करने के विचार से गांधीजी अपने जीवन के अन्तिम चरण मे ट्रस्टीशिप पर बहुत जोर देने लगे थे। वे चाहते और मानते थे कि जो लोग शुद्ध रीति-नीति के साथ धन-सम्पत्ति के विपुल अर्जन की क्षमता रखते है, वे उसका अर्जन अपनी पूरी योग्यता और कुशलता के साथ करते रहे। ऐसे धनी-मानी लोगो के सामने उन्होने एक ही मर्यादा रखी थी कि जो धन-सम्पत्ति उनके पास सचित हुई है, उसको वे अपनी न माने, उस पर अपना कोई स्वामित्व न जताएँ। उसको समाज की माने और समाज को ही निरन्तर समर्पित करते रहे। इसके मूल मे **'त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पयो'** की भावना काम करती रहे। जो चीज भगवान् से मिली है, उसको वापस भगवान् के ही हाथो मे सौंप देने की उदात्त वृत्ति का

ही एक प्रकट रूप ट्रस्टीशिप है। स्वामित्व हमारा नही। स्वामित्व पूरे समाज का है। हम तो उसके रक्षक-भर है।

धन-सम्पत्ति से भी आगे बढकर गांधीजी ने तो ट्रस्टीशिप के विचार को इस हद तक आगे बढ़ाया कि मनुष्य अपने को अपने शरीर का, अपने मन का, अपनी बुद्धि का और अपनी वाणी आदि का भी स्वामी न माने। वह इन सबका उपयोग और विनियोग भी चराचर सृष्टि के हित मे करता रहे। इन सबको प्रभु द्वारा सौंपी गई धरोहर माने।

गांधीजी ने **'ईशावास्य-उपनिषद्'** के पहले मन्त्र को अपनी सुबह-शाम की सामूहिक प्रार्थना मे पहला स्थान इसी विचार से दिया था कि उसमे विश्वस्त-वृत्ति का सारा विचार बहुत परिणत रूप मे प्रकट हुआ है।

अपरिग्रह की अपनी उत्कट उपासना और साधना के फलस्वरूप गांधीजी ने अपने समय की दुनिया के सामने सत्याचरण के और सत्य की उपासना के जो ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किए है, वे चिरकाल तक लोकात्मा को उज्ज्वल और निर्मल बनाए रखने की दिशा दिखाते रहेगे।

बीसवी सदी को लाँघकर इक्कीसवी सदी मे प्रवेश के लिए उतावली बनी हमारे समय की मानवता ने गांधी-जीवन-दर्शन को पीने-पचाने की दिशा पकड़ने मे थोडी भी कमजोरी, शिथिलता या असावधानी दिखाई, तो आने वाला जमाना उसके लिए बहुत ही भयावना और सर्वनाशकारी बन सकता है।

आइए, परम मगलमय प्रभु से हम सब नम्रतापूर्वक विनती करें कि वे हममे से हरएक के घट मे जाग उठे और हमको असत्य से सत्य की दिशा मे, अँधेरे से उजेले की दिशा मे और मृत्यु से अमरता की दिशा मे बढते रहने की भरपूर शक्ति, भक्ति और दृष्टि दे।

□ □ □

□ इच्छा का समुद्र सदा अतृप्त रहता है, उसकी मांगे ज्यो-ज्यो पूरी की जाती है, त्यो-त्यो और गर्जन करता है।
—विवेकानन्द

□ जो तमाम इच्छाओ से ऊपर उठ गया है उसके द्वारा भलाई सदा इस तरह अनजाने, सहज और स्वाभाविक तौर से होती रहती है, जैसे फूल से खुशबू और सितारो से रोशनी निकलती रहती है।
—स्वामी रामतीर्थ

मे डाल आइए । यह वहाँ रहेगा तो चार दाने ज्यादा पैदा करके देगा । यहाँ नल के पास बना रहा तो यह कीचड बनकर किसी के हाथ-पैर तोड सकता है । इसकी जगह यहाँ नही, खेत मे है ।' पण्ड्याजी बोले : 'बापू, मै इसको फिर खेत मे डाल आऊँगा ।' बापू ने कहा : 'आप पहले उठिए, ढेला अपने हाथ मे लीजिए, और मेरे सामने ही इसको वापस खेत मे डाल आइए । जब तक आप यह काम नही करेगे, मै यही रुका रहूँगा ।' पण्ड्याजी ने ढेला उठाया और वे खेत की तरफ बढे । जब ढेला वापस खेत मे पहुँच गया, तो गाधीजी को तसल्ली हुई, और वे अपने मुकाम की तरफ बढ गए । चुटकी-भर मिट्टी की जगह बडे-से ढेले का सग्रह गाधीजी को इतना चुभा कि जब तक ढेला अपनी असल जगह पर नही पहुँचा, वे उसकी चिन्ता करते रहे ! अपरिग्रह के व्रतधारी की आँखे कितनी चकोर और मन कितना चौकस होना चाहिए, इसका एक अच्छा-सा उदाहरण हमको इस प्रसग से मिलता है ।

अपरिग्रही गांधीजी के रोज-रोज के जीवन-प्रसगों मे से ऐसे तो अनगिनत प्रसग दिए जा सकते है, जिनसे अपरिग्रह मे उनकी गहरी निष्ठा व्यक्त होती रही है । अपरिग्रह की अपनी इस अखण्ड उपासना और साधना के फलस्वरूप ही गाधीजी ने अपने समकालीनों के सामने ट्रस्टीशिप की अपनी अनोखी योजना रखी थी । उन्होने अपने देश के उद्योगपतियो और धन कुबेरो को सलाह दी थी कि उनके पास उनकी अपनी आवश्यकता से अधिक जितनी चल-अचल सम्पत्ति है, उसके वे स्वय स्वेच्छा से ट्रस्टी बन जाएँ और उसका उपयोग लोकोपयोगी कामो मे करते रहने का व्रत ले ले । अपने पास धन-सम्पत्ति के रूप मे जो भी कुछ इकट्ठा हुआ है, वह अपना नही है, उनका है जिन्होंने इसके इकट्ठा होने में अपना योगदान किया है । जनता से मिली चीज, जनता की मानकर जनता को ही वापस दे देने की, उसी के उत्थान और कल्याण मे उसको लगाते रहने की रुचि और वृत्ति को गाधीजी ने विश्वस्त-वृत्ति माना था । परिवार, समाज और देश के स्वस्थ और सन्तुलित धारण-पोषण और सवर्धन-सगोपन के लिए लोक-जीवन मे विश्वस्त-वृत्ति को परिपुष्ट करने के विचार से गांधीजी अपने जीवन के अन्तिम चरण मे ट्रस्टीशिप पर बहुत जोर देने लगे थे । वे चाहते और मानते थे कि जो लोग शुद्ध रीति-नीति के साथ धन-सम्पत्ति के विपुल अर्जन की क्षमता रखते है, वे उसका अर्जन अपनी पूरी योग्यता और कुशलता के साथ करते रहे । ऐसे धनी-मानी लोगों के सामने उन्होने एक ही मर्यादा रखी थी कि जो धन-सम्पत्ति उनके पास सचित हुई है, उसको वे अपनी न माने, उस पर अपना कोई स्वामित्व न जताएँ । उसको समाज की माने और समाज को ही निरन्तर समर्पित करते रहे । इसके मूल में **'त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये'** की भावना काम करती रहे । जो चीज भगवान् से मिली है, उसको वापस भगवान् के ही हाथो मे सौंप देने की उदात्त वृत्ति का

ही एक प्रकट रूप ट्रस्टीशिप है। स्वामित्व हमारा नही। स्वामित्व पूरे समाज का है। हम तो उसके रक्षक-भर है।

धन-सम्पत्ति से भी आगे बढकर गाधीजी ने तो ट्रस्टीशिप के विचार को इस हद तक आगे बढाया कि मनुष्य अपने को अपने शरीर का, अपने मन का, अपनी बुद्धि का और अपनी वाणी आदि का भी स्वामी न माने। वह इन सबका उपयोग और विनियोग भी चराचर सृष्टि के हित मे करता रहे। इन सबको प्रभु द्वारा सौंपी गई धरोहर माने।

गांधीजी ने **'ईशावास्य-उपनिषद्'** के पहले मत्र को अपनी सुबह-शाम की सामूहिक प्रार्थना मे पहला स्थान इसी विचार से दिया था कि उसमे विश्वस्त-वृत्ति का सारा विचार बहुत परिणत रूप मे प्रकट हुआ है।

अपरिग्रह की अपनी उत्कट उपासना और साधना के फलस्वरूप गाधीजी ने अपने समय की दुनिया के सामने सत्याचरण के और सत्य की उपासना के जो ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किए है, वे चिरकाल तक लोकात्मा को उज्ज्वल और निर्मल बनाए रखने की दिशा दिखाते रहेगे।

बीसवी सदी को लाँघकर इक्कीसवी सदी मे प्रवेश के लिए उतावली बनी हमारे समय की मानवता ने गाधी-जीवन-दर्शन को पीने-पचाने की दिशा पकडने मे थोडी भी कमजोरी, शिथिलता या असावधानी दिखाई, तो आने वाला जमाना उसके लिए बहुत ही भयावना और सर्वनाशकारी बन सकता है।

आइए, परम मंगलमय प्रभु से हम सब नम्रतापूर्वक बिनती करे कि वे हममे से हरएक के घट मे जाग उठे और हमको असत्य से सत्य की दिशा मे, अँधेरे से उजेले की दिशा मे और मृत्यु से अमरता की दिशा मे बढ़ते रहने की भरपूर शक्ति, भक्ति और दृष्टि दें।

□ □ □

□ इच्छा का समुद्र सदा अतृप्त रहता है, उसकी मागे ज्यो-ज्यो पूरी की जाती है, त्यो-त्यो और गर्जन करता है। **—विवेकानन्द**

□ जो तमाम इच्छाओ से ऊपर उठ गया है उसके द्वारा भलाई सदा इस तरह अनजाने, सहज और स्वाभाविक तौर से होती रहती है, जैसे फूल से खुशबू और सितारों से रोशनी निकलती रहती है।

—स्वामी रामतीर्थ

५६

परिग्रह—क्यों ? क्यों नहीं ?

□ डॉ० राजेन्द्रस्वरूप भटनागर

हम मनुष्यो के विषय में एक विचित्र विरोधाभासी तथ्य यह है कि जो व्यवहार मूलत. बुद्धिसंगत लगता है, वही एक सीमा से परे जाने पर, अथवा एक सन्दर्भ के स्थान पर दूसरा सन्दर्भ ग्रहण करने पर अबौद्धिक एव विवेकशून्य सिद्ध होता है ।

परिग्रह अथवा संग्रह इस वैचित्र्य का दृष्टान्त प्रस्तुत करता है । 'आडे वक्त के लिये कुछ बचाकर रखना चाहिए ।' यह निर्देश दूरदर्शितापूर्ण एव विवेकपूर्ण ही लगता है । 'जितना अर्जित करो वह सबका सब व्यय मत करो', 'वर्तमान की बचत भविष्य के सकट में अथवा सामान्य आवश्यकता मे काम देती है, सुरक्षा की भावना उत्पन्न करती है, दूरदर्शिता की निशानी है ।' इन बातो को मूर्खता अथवा विवेकहीनता की सज्ञा नही दी जा सकती । यहाँ यह आपत्ति की जा सकती है कि 'मितव्ययता' अथवा 'भविष्य के लिये बचत' परिग्रह अथवा सग्रह से भिन्न है । यह सही है । परन्तु बिना परिग्रह अथवा सग्रह के बचत का प्रश्न ही कहाँ उठता है । दूसरी ओर सग्रह का यह साधन पक्ष विस्मृत हो जाता है, सग्रह केवल सग्रह के लिये होने लगता है, अन्य आवश्यकता गौण एव उपेक्षित होने लगती है, और सग्रह का व्यवहार सग्रह की वृत्ति मे बदल जाता है तब दोष उत्पन्न होने की सभावना बनने लगती है । जो आपतत: विवेकपूर्ण था वह अमर्यादित रूप मे विवेकशून्य व्यवहार का रूप ले लेता है ।

इतनी बात तो सहज और स्पष्ट जान पडती है और लगता है कि इस बात को लेकर बहस की आवश्यकता नही । परन्तु विचार करने पर अनेक ऐसे पक्ष सामने आते है, जो इस सरल बात की सरलता को हर लेते है । कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि भविष्य के सम्बन्ध में चिन्ता क्यो ? शुद्ध भौतिकवादी दृष्टि से कुछ लोग कहेगे कि भविष्य की चिन्ता करना, भविष्य तथा वर्तमान दोनों को ही बिगाडना है । वर्तमान तो चिन्ता मे बीत जायगा और भविष्य की कौन जानता है । दूसरी ओर यदि आस्तिकों की दृष्टि को ले तो शायद यह कहा जायगा कि भविष्य को लेकर चिन्तित होना, विश्व की अतर्यामी व्यवस्था मे विश्वास का अभाव होना है । यदि हम ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास करते है, उसकी वैश्वक नैतिक व्यवस्था में श्रद्धा रखते है, और अपनी रक्षा का भार अपने

ऊपर न डालकर स्वय ईश्वर पर रखते है, तो हमे भविष्य की चिन्ता नही सता-येगी फलत भविष्य के लिये सग्रह और बचत की आवश्यकता भी नही होगी।

एक दूसरे स्तर से कुछ भिन्न प्रकार का सन्दर्भ प्रस्तुत किया जा सकता है। सग्रह की वृत्ति इस बात पर आधारित नही है कि व्यक्ति क्या विश्वास करता है। उसकी पुष्टि और दृढ़ीकरण वैयक्तिक विश्वासो पर आधारित न होकर उस सामाजिक सरचना से सम्बन्धित है, जिसका व्यक्ति घटक है। यदि समाज की सरचना जीवन की सुरक्षा और उन्नयन के लिये उपयुक्त अवस्थाएँ उत्पन्न करने मे अक्षम है, दूसरे शब्दो मे, यदि सामाजिक अवस्थाएँ ऐसी है जिनमे स्पर्धा प्रतियोगिता, सघर्ष और लूट-खसोट जीवन की प्रणाली का अग है, तो निश्चय ही व्यक्ति अपने को असुरक्षित महसूस करेगा तथा उसकी प्रवृत्ति अधि-काधिक सग्रह की होगी। इस प्रकार की स्पर्धा एव पारस्परिक सघर्ष मे मर्यादा का प्रश्न नही उठता। दूसरे के हित, कल्याण का कोई प्रसग नही होता। परि-णाम के रूप मे सारे समाज पर एक अमानवीय तन्त्र आ जाता है। इस तन्त्र मे प्रत्येक प्रत्येक दूसरे पर सन्देह करता है, उसे हराने, नीचा दिखाने का प्रयास करता है और षडयन्त्र की रचना करता है। कहना न होगा कि इस तन्त्र मे एक दुष्चक्र बन जाता है—सरचना—व्यवहार--सरचना। सरचना जिस व्यवहार को जन्म देती है, वह उसी सरचना को पुष्ट करता है। ऐसा लगता है कि मेरे पास जितना अधिक होगा, उतना ही अधिक मै सुरक्षित हूँ, उतनी ही शक्ति मेरे पास होगी तथा उसी मात्रा मे मेरा प्रभुत्व और वर्चस्व होगा। और यही वह स्थिति है जिसमे मेरा सुख और समृद्धि सभव है।

मेरा क्षेत्र मेरेपन से सीमित है। उसमे मेरे निकट परिवार के सदस्य हो सकते है. घने मित्र हो सकते है—यद्यपि यह विवाद की बात हो सकती है कि इस प्रकार के परिप्रेक्ष्य मे मेरा कोई हो भी सकता है? और फिर यह बात कोई महत्त्व नही रखती कि मेरे कर्म अथवा व्यवहार से किसी को हानि पहुँचती है अथवा किसका नाश होता है।

मर्यादाहीन धन-सग्रह की नीति मे मै किस उद्योग को चुनता हूँ तथा उसकी क्या व्यवस्था करता हूँ, यह तब तक महत्त्वहीन है जब तक वह मेरे मूल उद्देश्य-धन सग्रह मे सहायक है। यदि नशीली वस्तुओ के व्यापार से इष्ट धन की प्राप्ति होती है तो वही ठीक, मिलावट से लाभ होता है तो वह करना ही चतु-राई है, आतककारी को प्रशिक्षित करने से धनवान बनने की सभावना है तो वही कर्तव्य। यदि धूर्तता, मिथ्याचार, विलासिता, लोभ आदि से काम बनता है तो इनका उपयोग व्यवहार-कुशलता और होशियारी का परिचायक है। इस दुष्चक्र से कौन परिचित नही है, इसका अधिक वर्णन अपेक्षित नही है।

इसके विपरीत एक अन्य सामाजिक संकल्प को लें जिससे ऐसी अवस्थाओ का पता चलता हो जिनमें इस बात का प्रावधान हो कि व्यक्ति की जीवनोपयोगी तथा जीवन के उत्कर्ष की आवश्यकताओ की उपयुक्त मात्रा मे यथासमय पूर्ति होती रहती हो, तो सभवत व्यक्ति की प्रेरणाये एव वृत्तियाँ भिन्न रूप ग्रहण करेगी। ऐसी सामाजिक सरचना मे संग्रह की वृत्ति के उभरने और दृढ होने की सभावना नही के बराबर होगी। यदि मुझे मेरी योग्यता और क्षमता के अनुरूप काम मिलता है, बदले मे रहने, खाने की सुविधा मिलती है, बीमार होने पर उपचार हो जाता है बच्चो की शिक्षा-दीक्षा नि शुल्क होती है, अवकाश के अवसरो पर यात्रा तथा मनोरजन के साधन उपलब्ध करा दिये जाते है, और व्यक्ति मे यह विश्वास बैठ जाता है कि सामाजिक सरचना वस्तुत. ऐसी व्यवस्था को पुष्ट करती है, तो सग्रह एक अनावश्यक एव बुद्धिहीन कृत्य प्रतीत होगा।

सामाजिक संरचनाएँ अनेक रूप मे प्रकल्पित की गई है। यहाँ उल्लिखित सकल्पनाएँ वस्तुत: ठीक इसी रूप मे कही विद्यमान हो, यह तो नही है। वस्तुत: ये वर्णन एक प्रकार से आदर्श रूपी है, विचार की सुविधा के रूप मे उन्हे एक अतिरञ्जक अभिव्यक्ति दी गई है। अपने समाज मे तथा अपने चारो ओर, जो समाज हम देखते है, वे न्यूनाधिक इन सकल्पनाओ के मिश्र रूप है। फलत. विद्यमान सरचनाओ को ध्यान मे रखते हुए न तो यह कहना ही पूरी तरह ठीक होगा कि सग्रह आवश्यक है और न ही यह कहना कि वह अनावश्यक है। इस स्थिति मे यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि फिर इस प्रकार के उल्लेख का प्रयोजन ही क्या है ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि इस उल्लेख से यह पता चलता है कि सामाजिक सरचना तथा सग्रह के औचित्य मे परस्पर कोई सम्बन्ध है। विज्ञ पाठकों के लिये यह मत साधारण जानकारी का विषय होगा कि वहुत सी अवधारणाएँ किसी सामाजिक सरचना की पृष्ठभूमि मे ही सार्थक होती है।

किन्तु एक अन्य प्रश्न उपस्थित होता है। क्या यह आवश्यक है कि अर्थ-प्रधान अथवा स्पर्धा प्रधान समाज मे सग्रह की वृत्ति प्रत्येक व्यक्ति मे जन्म लेगी तथा पनपेगी, और इसी प्रकार क्या यह आवश्यक है कि कल्याण प्रधान समाज मे किसी भी व्यक्ति मे सग्रह की वृत्ति नही होगी या होती ? क्या यह सभव नही है कि अर्थ प्रधान समाज मे अनेक तथाकथित दवावो के रहते हुए भी कुछ ऐसे व्यक्ति हो जो सग्रह न करते हो तथा सग्रह करना ठीक नही मानते हो जवकि कल्याण प्रधान समाज में तथाकथित दवावो के नही रहने पर भी कुछ ऐसे व्यक्ति हो जो संग्रहशील हो तथा सग्रह को ठीक मानते हो ? मानवीय स्वभाव की विलक्षणता को देखते हुए इन प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' मे देने मे कोई वाधा नही दीखती। और यदि यह ठीक है तो सामाजिक सरचना मात्र से सग्रह की वृत्ति

को पूर्णतया समझना सभव नही होगा । सरचना तथा सग्रह में कोई अनिवार्य सम्बन्ध नही है । परन्तु ऐसा भी नही कि वे नितान्त असम्बद्ध है ।

यदि सग्रह के प्रश्न को सरचना के स्थान पर मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि मे देखा जाय तो कुछ और प्रकाश पडे । परन्तु इस परिप्रेक्ष्य को रखकर विचार करने के पूर्व सामाजिक सरचना के बिन्दु से कुछ और पक्ष विचारणीय है । ये पक्ष पुरुषार्थ, चार आश्रम तथा चार वर्णो को कल्पनाओ से उभरकर आते है । पुरुषार्थ तथा चार आश्रमो की सकल्पना सग्रह को नकारती नही अपितु उसका स्थान निश्चित करती है । अर्थ और काम का स्वीकार तथा गृहस्थ का केन्द्रीय स्थान—इनके सन्दर्भ मे सग्रह के औचित्य को निश्चित किया जा सकता है । परन्तु मूल्यो की निम्नोच्च शृङ्खला मे धर्म का स्थान मर्यादा और अकुश का काम करता है । सग्रह हो परन्तु मर्यादा के साथ, ऐसे कि दूसरी आवश्यकताओ तथा मूल्यो का हनन नही हो, और साथ ही यह स्मरण रहे कि सगृहीत धन सार्वजनिक हित का साधन बनना चाहिए—शायद ट्रस्टीशिप की गाँधीवादी अवधारणा यहाँ कही जुड़ती है ।

दान की दृष्टि से चार वर्ण दो वर्गो मे विभक्त किये जा सकते है । क्षत्रियो तथा वैश्यो के अनेक धर्मो मे एक महत्त्वपूर्ण धर्म दान है । स्पष्ट है जब अपने पास कुछ होगा ही नही तो दान किसका होगा । तो सग्रह तो किया जाना चाहिए परन्तु दान हेतु । ब्राह्मण वर्ग एव शूद्र वर्ग को दान का पात्र माना जा सकता है । ब्राह्मणो को तो बहुधा ये निर्देश दिये जाते रहे है कि उन्हे अपने पास धन जोड-कर नही रखना चाहिए तथा उसका दान और त्याग करना चाहिए क्योकि उनका प्रमुख धर्म मूल्यो का बोध कराना तथा उनका सवर्धन है, और उद्योग उनका धर्म नही है, तो दूसरे वर्गो का यह कर्त्तव्य है कि वे उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति करे । परन्तु इस अवस्था मे अधिक प्राप्त कर लेने पर उनके पास अति-रिक्त सम्पत्ति बच रह सकती है, तो निर्देश यह है कि उसका दान कर देना चाहिए । सक्षेप मे हिन्दू सामाजिक सरचना मे सग्रह की अस्वीकृति नही है, अपितु उसके नियमन का विधान है । यह बात लगभग कुछ परिवर्तित रूप मे अन्य दृष्टियो से निर्धारित सामाजिक सकल्पनाओ के विषय मे भी की जा सकती है । श्रमण परम्पराओ मे गृहस्थ तथा मुनि का भेद ध्यान मे रखना होगा, इसके पूर्व कि परिग्रह के विषय मे कुछ कहा जा सके । पूर्ण अपरिग्रह केवल मुनियो के लिये ही निर्दिष्ट है ।

सामाजिक सकल्पना से स्वतन्त्र मानवीय स्वभाव को ध्यान मे रखते हुए सग्रह को लेकर और पक्ष उभरते है । इस सन्दर्भ मे यह प्रश्न उठाया जा सकता है सग्रहशील प्राणी है ? पशु जगत मे कुछ पशुओ मे ी है तथा कही-कही उसका उपयोगिता से कोई

इसके विपरीत एक अन्य सामाजिक संकल्प को ले जिससे ऐसी अवस्थाओ का पता चलता हो जिनमे इस बात का प्रावधान हो कि व्यक्ति की जीवनोपयोगी तथा जीवन के उत्कर्ष की आवश्यकताओ की उपयुक्त मात्रा मे यथासमय पूर्ति होती रहती हो, तो सभवत व्यक्ति की प्रेरणाये एव वृत्तियाँ भिन्न रूप ग्रहण करेगी। ऐसी सामाजिक सरचना मे सग्रह की वृत्ति के उभरने और दृढ होने की सभावना नही के बराबर होगी। यदि मुझे मेरी योग्यता और क्षमता के अनुरूप काम मिलता है, बदले मे रहने, खाने की सुविधा मिलती है, बीमार होने पर उपचार हो जाता है बच्चों की शिक्षा-दीक्षा नि शुल्क होती है, अवकाश के अवसरो पर यात्रा तथा मनोरजन के साधन उपलब्ध करा दिये जाते है, और व्यक्ति मे यह विश्वास बैठ जाता है कि सामाजिक सरचना वस्तुत· ऐसी व्यवस्था को पुष्ट करती है, तो सग्रह एक अनावश्यक एव बुद्धिहीन कृत्य प्रतीत होगा।

सामाजिक सरचनाएँ अनेक रूप मे प्रकल्पित की गई है। यहाँ उल्लिखित सकल्पनाएँ वस्तुत· ठीक इसी रूप मे कही विद्यमान हो, यह तो नही है। वस्तुतः ये वर्णन एक प्रकार से आदर्श रूपी है, विचार की सुविधा के रूप में उन्हे एक अतिरञ्जक अभिव्यक्ति दी गई है। अपने समाज मे तथा अपने चारो ओर, जो समाज हम देखते है, वे न्यूनाधिक इन सकल्पनाओ के मिश्र रूप है। फलतः विद्यमान सरचनाओ को ध्यान मे रखते हुए न तो यह कहना ही पूरी तरह ठीक होगा कि सग्रह आवश्यक है और न ही यह कहना कि वह अनावश्यक है। इस स्थिति में यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि फिर इस प्रकार के उल्लेख का प्रयोजन ही क्या है ? इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि इस उल्लेख से यह पता चलता है कि सामाजिक सरचना तथा सग्रह के औचित्य मे परस्पर कोई सम्बन्ध है। विज्ञ पाठको के लिये यह मत साधारण जानकारी का विषय होगा कि बहुत सी अवधारणाएँ किसी सामाजिक सरचना की पृष्ठभूमि मे ही सार्थक होती है।

किन्तु एक अन्य प्रश्न उपस्थित होता है। क्या यह आवश्यक है कि अर्थ-प्रधान अथवा स्पर्धा प्रधान समाज मे सग्रह की वृत्ति प्रत्येक व्यक्ति मे जन्म लेगी तथा पनपेगी, और इसी प्रकार क्या यह आवश्यक है कि कल्याण प्रधान समाज मे किसी भी व्यक्ति मे सग्रह की वृत्ति नही होगी या होती ? क्या यह सभव नही है कि अर्थ प्रधान समाज मे अनेक तथाकथित दबावो के रहते हुए भी कुछ ऐसे व्यक्ति हो जो सग्रह न करते हो तथा सग्रह करना ठीक नही मानते हो जबकि कल्याण प्रधान समाज मे तथाकथित दबावो के नही रहने पर भी कुछ ऐसे व्यक्ति हो जो सग्रहशील हो तथा सग्रह को ठीक मानते हों ? मानवीय स्वभाव की विलक्षणता को देखते हुए इन प्रश्नो का उत्तर 'हाँ' मे देने मे कोई बाधा नही दीखती। और यदि यह ठीक है तो सामाजिक सरचना मात्र से सग्रह की वृत्ति

को पूर्णतया समझना सभव नही होगा। सरचना तथा सग्रह मे कोई अनिवार्य सम्बन्ध नही है। परन्तु ऐसा भी नही कि वे नितान्त असम्बद्ध है।

यदि सग्रह के प्रश्न को सरचना के स्थान पर मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि मे देखा जाय तो कुछ और प्रकाश पडे। परन्तु इस परिप्रेक्ष्य को रखकर विचार करने के पूर्व सामाजिक सरचना के बिन्दु से कुछ और पक्ष विचारणीय है। ये पक्ष पुरुषार्थ, चार आश्रम तथा चार वर्णो की कल्पनाओ से उभरकर आते है। पुरुषार्थ तथा चार आश्रमो की सकल्पना सग्रह को नकारती नही अपितु उसका स्थान निश्चित करती है। अर्थ और काम का स्वीकार तथा गृहस्थ का केन्द्रीय स्थान—इनके सन्दर्भ मे सग्रह के औचित्य को निश्चित किया जा सकता है। परन्तु मूल्यो की निम्नोच्च शृङ्खला मे धर्म का स्थान मर्यादा और अकुश का काम करता है। सग्रह हो परन्तु मर्यादा के साथ, ऐसे कि दूसरी आवश्यकताओ तथा मूल्यो का हनन नही हो, और साथ ही यह स्मरण रहे कि सगृहीत धन सार्वजनिक हित का साधन बनना चाहिए—शायद ट्रस्टीशिप की गाँधीवादी अवधारणा यहाँ कही जुड़ती है।

दान की दृष्टि से चार वर्ण दो वर्गो मे विभक्त किये जा सकते है। क्षत्रियो तथा वैश्यो के अनेक धर्मो मे एक महत्त्वपूर्ण धर्म दान है। स्पष्ट है जब अपने पास कुछ होगा ही नही तो दान किसका होगा। तो सग्रह तो किया जाना चाहिए परन्तु दान हेतु। ब्राह्मण वर्ग एव शूद्र वर्ग को दान का पात्र माना जा सकता है। ब्राह्मणो को तो बहुधा ये निर्देश दिये जाते रहे है कि उन्हे अपने पास धन जोड-कर नही रखना चाहिए तथा उसका दान और त्याग करना चाहिए क्योकि उनका प्रमुख धर्म मूल्यो का बोध कराना तथा उनका सवर्धन है, और उद्योग उनका धर्म नही है, तो दूसरे वर्गो का यह कर्त्तव्य है कि वे उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति करे। परन्तु इस अवस्था मे अधिक प्राप्त कर लेने पर उनके पास अति-रिक्त सम्पत्ति वच रह सकती है, तो निर्देश यह है कि उसका दान कर देना चाहिए। सक्षेप मे हिन्दू सामाजिक सरचना मे सग्रह की अस्वीकृति नही है, अपितु उसके नियमन का विधान है। यह बात लगभग कुछ परिवर्तित रूप मे अन्य दृष्टियो से निर्धारित सामाजिक सकल्पनाओ के विषय मे भी की जा सकती है। श्रमण परम्पराओ मे गृहस्थ तथा मुनि का भेद ध्यान मे रखना होगा, इसके पूर्व कि परिग्रह के विषय मे कुछ कहा जा सके। पूर्ण अपरिग्रह केवल मुनियो के लिये ही निर्दिष्ट है।

सामाजिक सकल्पना से स्वतन्त्र मानवीय स्वभाव को ध्यान मे रखते हुए सग्रह को लेकर कुछ और पक्ष उभरते है। इस सन्दर्भ मे यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या मनुष्य सग्रहशील प्राणी है? पशु जगत मे कुछ पशुओ मे सग्रह की वृत्ति देखने मे आती है तथा कही-कही उसका उपयोगिता से कोई

सम्बन्ध नही होता । चूहो मे कागज, कपड़े की कतरने एकत्रित करने की प्रवृत्ति पाई जाती है, उनके लिए इनका कोई उपयोग होगा, ऐसा प्रतीत नही होता । चीटियो के विषय मे प्रसिद्ध है कि उनका सामूहिक जीवन होता है, और वे भविष्य मे उपयोग की दृष्टि से सग्रह करती है । और दृष्टान्त भी लिये जा सकते है । मानवो मे, बालको मे तरह-तरह की नितान्त अनुपयोगी परन्तु देखने मे चमकीली वस्तुओ को एकत्रित करने की वृत्ति देखी जाती है । इन उदाहरणो से यह पता चलता है कि सग्रह धन के अतिरिक्त अनेक दूसरी चीजो का भी हो सकता है । कुछ सग्रह तो इस प्रकार से है जिन्हे अपनाने के लिये युवको और बालको को विशेष रूप मे प्रोत्साहित किया जाता है, यथा डाक टिकटो का सग्रह, पुरातन वस्तुओ का सग्रह, पेड-पौधो का सग्रह, विशिष्ट अवसरो पर यादगारो का सग्रह आदि । मानवीय स्वभाव तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कह सकते है कि मानव मे सग्रह की वृत्ति तो होती है परन्तु वह किस रूप मे अभिव्यक्त होगी, यह पहले से कहना सभव नही । महत्त्वपूर्ण बात यह देखना है कि यह वृत्ति व्यक्तित्व के अन्य पक्षो से कैसे जुड जाती है । अह-पोषण और इसके निमित्त विलक्षणता की प्राप्ति बहुधा किसी वस्तु के एकाधिकार के लिये प्रेरित करते है और वस्तु विशेष के सग्रह के लिये व्यक्ति को बाध्य करते है । बहुधा यह स्थिति अपने नकारात्मक रूप से जुड जाती है—जब किसी अन्य के पास वस्तु विशेष हो और मेरे पास न हो तो, अथवा एकाधिकार के कारण किसी और के पास वस्तु विशेष का होना, असहनीय हो जाता हो । ईर्ष्या, लोभ, मात्सर्य आदि स्वतः उभरने लगते है और व्यक्ति अपने चारो ओर अशान्ति का घेरा बना लेता है ।

सामान्यतया संग्रह की बात अनेक वस्तुओ के लिये होती है, उसके साथ मात्रा-अतिक्रमण की बात भी आती है । इस दृष्टि से किसी वस्तु विशेष के आधिपत्य को सग्रह की सकल्पना मे लाना उचित नही कहा जायगा । परन्तु, यदि प्राप्ति की इच्छा, उसके लिये सतत प्रयास, वस्तु का अपने पास न होने का कष्ट, वस्तु का दूसरे के पास होने का कष्ट आदि-आदि स्थितियो को ले तो ये दोनो अवस्थाओ मे समान होती है । और फिर सग्रह या परिग्रह मे मात्रा की बात वस्तुत. प्रमुख नही है, अपितु मात्रा उसके स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करती है ।

विलक्षणता, प्रतिभा सम्पन्नता से भी सम्बन्धित है । व्यक्ति की पहचान और विलक्षणता बहुधा उसकी प्रतिभा के उन्मेष और उत्कर्ष पर आश्रित होती है । वर्तमान प्रसग मे, किसी वस्तु के गुण की पहचान तथा उसकी प्राप्ति के उपाय विशिष्ट प्रतिभा की अपेक्षा रखते है । इस ओर पहले सकेत हुआ है कि सुरक्षा तथा स्वातन्त्र्य की अनुभूति कभी-कभी इस बात पर निर्भर करती है कि व्यक्ति के पास कुछ है । ये कुछ बाते व्यक्ति के सन्दर्भ मे सग्रह के कुछ एक ऐसे

पक्षों की ओर सकेत करती है जिनमे से कुछ तो निर्दोष, कुछ आवश्यक तथा कुछ अवाछनीय प्रतीत होते है । किसी भी समाज मे व्यावहारिक स्तर पर व्यक्ति की श्रेष्ठता एव उत्कर्ष के लिये किसी प्रकार के तथा किसी मात्रा मे सग्रह अथवा परिग्रह को आवश्यक मानना होगा । इस सम्बन्ध मे जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष सामने आता है वह यह है कि नितान्त अपरिग्रह सम्पन्न मुनियो, सन्यासियो आदि के लिए समाज के कुछ लोगो अथवा वर्गो पर यह दायित्व आता है कि वे उद्यमशील हो तथा एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था को बनाये रखने मे समर्थ हो जो वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रम के लिये नैमित्तिक हो । यद्यपि सन्यासी समाज के सदस्य नही होते है, और न ही वे किसी से कोई अपेक्षा रखते है, आदर्श की दृष्टि से, समाज के लिये वे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते है । उनके चारो ओर चाहे-अनचाहे अनेक समस्याये खडी हो जाती है । उनसे अनेक कर्मकाण्ड जुड़ जाते है । और फिर समाज के शेष सदस्यो के दायित्वो मे एक दायित्व उनकी सेवा-सुश्रुषा को भी गिना जाता है । इन परिस्थितियो मे एक नैमित्तिक आर्थिक ढाँचा और तदरूप उद्योग उपस्थित हो ही जाते है और इस अवस्था मे किसी न किसी रूप मे सग्रह के औचित्य को स्वीकार करना ही पड जाता है । यहाँ स्मरण हो आता है कि दान तथा त्याग के निर्देश अप्रासगिक हो जायेगे, यदि सग्रह के औचित्य को स्वीकार न किया जाय । व्यापक दृष्टि से, अर्थात् हिन्दू-अहिन्दू दृष्टियो से (अहिन्दू दृष्टि से न केवल धर्मानुयायियो का सन्दर्भ ग्रहण करे अपितु सामाजिक व्यवस्था प्रधान दृष्टियाँ भी ले) यह कहा जायगा कि वर्तमान स्थिति मे न तो सग्रह उचित है और न दान । अपने ही देश को ले तो यह सन्दर्भ हमारा बयान तुरन्त भिखारियो की समस्या की ओर ले जाता है । भीख देना उतना ही दोषपूर्ण है जितना वस्तुओं अथवा धन का सचय । कदाचित् कुछ लोग भीख देने तथा दान करने मे भेद करना चाहे । इस सन्दर्भ मे अधिक चर्चा अभिप्रेत नही है । इतना कहना पर्याप्त होगा कि भीख देना दोषपूर्ण मानते हुए भी त्याग की वृत्ति का स्वतन्त्र महत्त्व है । निपट व्यावहारिक स्तर पर भी त्याग की भावना न होने से परस्पर सहयोग, आवश्यकता पड़ने पर किसी की सहायता जैसे साधारण कर्म भी सभव नही होगे ।

यह एक विचित्र विरोधाभास है कि सग्रह एक ओर सुरक्षा, शक्ति और स्वतन्त्रता की भावनाओ को पुष्ट करने मे सहायक होता है, तो दूसरी ओर असुरक्षा और बन्धन की वृद्धि करने वाला भी होता है । यदि मेरे पास कुछ है ही नही अथवा कुछ भी ऐसा नही जिसमे अन्य का आकर्षण न हो, तो मुझे क्या खोने, किस हानि अथवा किस चोरी का भय हो सकता है । फिर कैसी असुरक्षा और कैसा वन्धन ? अनेक दार्शनिको का मानना है कि 'रखने' से अधिक 'होना' अधिक महत्त्वपूर्ण है । परिग्रह के विपय मे प्रो दयाकृष्ण से चर्चा होते समय उन्होने एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु की ओर ध्यान आकर्पित किया । उनका कहना था कि परिग्रह को लेकर व्यक्ति की दृष्टि से जीवन मे क्रमश. अनेक

परिवर्तन आते है। जो पहले आकर्षक अथवा उपयोगी लगता था वह बाद मे अनुपयोगी तथा अनाकर्षक लगने लगता है। सग्रह के लिये भी तो कुछ सुविधाओ की अपेक्षा होती है, यदि वे सुविधाएँ उपलब्ध न हो तो विवशता की अवस्था मे अपरिग्रह अपनाना पड सकता है—जैसा बहुधा पुस्तक प्रेमी अध्यापक के साथ होता है। किसी सीमा मे यह अवस्था परिग्रह तथा अपरिग्रह की उन दशाओं को उजागर करती है जो सुविधा-असुविधा अथवा व्यावहारिक जरूरतो से सम्बन्धित होती है। दूसरे शब्दो मे जिनका किसी आदर्श अथवा मूल्यो से कोई सम्बन्ध नही होता।

परिग्रह का प्रश्न भौतिक वस्तुओं को लेकर तो उत्पन्न होता ही है, वह विचारो तथा अन्य व्यक्तियो के सन्दर्भ में भी उपस्थित होता है। कदाचित् विचारो पर स्वामित्व की भावना अधिक सूक्ष्म परन्तु अधिक आग्रही होती है। हठ अर्थात् अपने विचारो पर उस समय भी अड़े रहना जब उनकी आधारहीनता अथवा औचित्य असिद्ध हो गया हो, दूसरे के विचारो को अपने पूर्वाग्रहो के कारण न समझ पाना, और फिर सत्य एव वस्तुनिष्ठता का दावा करते हुए भी विचारो को पेटेन्ट या कॉपीराइट कराने का प्रयास कुछ एक ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करते है जो विचार-परिग्रह के सन्दर्भ पर प्रकाश डालते है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि विचार वृत्तियो से कैसे जुड जाते है, अथवा उनमे परस्पर किस प्रकार का सम्बन्ध होता है। यदि इस पक्ष को गहराई से देखे तो विचार-परिग्रह व्यक्तित्व के स्वरूप से जुड जाता है। फिर व्यक्तित्व का परिष्कार अथवा उत्कर्ष विचार-परिग्रह अथवा अपरिग्रह से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हो जाता है।

व्यक्ति-परिग्रह के दृष्टान्त तो इतिहास में भरे पडे है। न केवल किसी व्यक्ति को अपने प्रभाव मे रखना, अपितु उस पर लगभग उसी प्रकार का स्वामित्व दर्शाना जैसा वस्तुओ पर सभव है, दास प्रथा, बन्धुआ मजदूर प्रथा आदि के मूल माने जा सकते है। यह नितान्त भ्रान्ति है कि मेरा अपना मान उतना ही अधिक होगा जितने मेरे अनुयायी होगे, जितने लोग मेरे प्रभाव मे होगे अथवा जितनो को मै अपने वश मे रख सकूंगा। यह भ्रान्ति तथा तद्जनित व्यवहार मानवीय गरिमा को सही रूप मे ग्रहण न कर पाने का फल है। यदि एक व्यक्ति की गरिमा किसी अन्य व्यक्ति की गरिमा की न्यूनता या अभाव की अपेक्षा रखती है तो वह गरिमा नही, और चाहे जो भी हो।

उपसहार रूप मे, परिग्रह का प्रश्न, वह चाहे किसी भी विषय से जुडा हो—वस्तु, धन, विचार अथवा व्यक्ति, अनेक स्तरो का उद्घाटन करता है तथा अनेक सन्दर्भो से युक्त है। इनको सुनिश्चित किये बिना परिग्रह 'क्यो' अथवा 'क्यो नही' का उत्तर देना भी विशेष काम का नही हो सकता। दूसरे शब्दो मे केवल 'अपरिग्रह व्रत' साधक के सामने कोई सुनिश्चित दिशा का निर्देश नही करता। फलस्वरूप आगमो का अनुशीलन आवश्यक हो जाता है क्योकि वहाँ यह व्रत निरपेक्ष रूप मे निर्दिष्ट नही हुआ है। □ □ □

६०

जड़ पदार्थ : संस्कारतः अपरिग्रही

□ डॉ० धनराज चौधरी

भौतिकी आकलन से यह ससार पदार्थ और ऊर्जा का वैविध्यपूर्ण रचाव है। यहाँ बलो के कारण स्थिरता है और बिखराव बलों के क्षीण होने की दशा की अभिव्यक्ति है। सभी भौतिकी घटनाएँ जिनसे समझी जाती है, वे कार्यकारी बल तीन प्रकार के है। वृहदाकार वस्तुओ पर कार्यरत खिचाव प्रेम की ही भाषा है। यहाँ पूर्णता लिये आकर्षण है। इन आकर्षितो मे अपना प्रकार नही, उनकी कोई भिन्न जाति नही। अन्तर केवल मात्रात्मक है। वृहद् परिसर मे फैले गुरुत्वीय आकर्षण के धागे, जिनसे बधे आकाशीय पिण्ड निर्धारित राह पर चिरकाल से गतिमान है, दिखते नही। प्राकृतिक ताण मे सूत की जरूरत अक्सर नही रहती। वस्तु स्वय से उद्भूत बल क्षेत्र वाछित खिचाव पैदा करता है। दूसरी प्रकार, अल्प परिसर मे सक्रिय बल—कुछ बलिष्ट का कारक ध्रुवणता है। ये वैद्युत्—चुम्बकीय है। समानधर्मा प्रतिकर्पित है जबकि विपरीत आकृष्ट। समान और विपरीत प्रकृति के खिलवाड हेतु प्रकृति ने अल्प परिसर ही निर्धारित किया है। ये परमाण्वीय बल, नाभिक-क्षेत्र मे महत्त्वहीन हो जाते है। परमाणु के क्रोड-नाभिक मे चिर आकर्षण विद्यमान है। धन एव उदासीन दो भाँति के मूलकण है वहाँ मगर उनमे कोई स्थायी भेद नही। ये तीन बल पदार्थ का अस्तित्व बनाये है। समूह बना पदार्थ स्थैत नजर आता है मगर इसके रचयिता मूल तो अपने आकाश मे सतत नृत्यरत है। जड पदार्थ की मस्ती का आधारभूत कारण ही यह है कि उनकी इकाई का अपना पृथकतया सचित कुछ भी नही। पृथको की उपस्थिति से उत्पन्न सामुदायिक प्रभाव वह योग पैदा करता है कि उनका अस्तित्व स्थायी हो चलता है।

पदार्थ मे न तो निज उत्तेजना है, न खिन्नता, न ही है वहाँ उद्वेग। चचलता उसका नैसर्गिक सस्कार नही। कृत्रिमतया प्रदत्त चापल्य वह अधिक कालाश तक सजोकर रखना पसद नही करता। वह अपने को अपनो मे भिन्न तो कभी दिखाना पसद ही नही करता। पदार्थ के मूल अवयव परमाणु पर विचार करे तो इसका खुलासा होता है। ट्यूब लाइट की दमक, अणु के पुन अपने असचयी स्वभाव मे लौट आने की कविता है। किसी परमाणु की सरचना के मूल घटक ऋणावेशित इलेक्ट्रॉन, धनावेशित प्रोटॉन और निराविष्ट न्यूट्रॉन है। धनात्मक और उदासीन घटक परमाणु के नाभिक, जिसे हम ऊपर क्रोड नाम मे जान चुके

है, की रचना करते है। इस क्रोड से निश्चित दूरी रखते हुए ऋणावेशित इलेक्ट्रॉन लास्य निमग्न रहते है। इनके नृत्य की निर्धारित परिधियां है। नैसर्गिक रूप मे ये न तो अतिक्रमण और न ही कोई टकराव पसद करते है। परमाणु की इस भाँति की स्वाभाविक व्यवस्था उसकी ऊर्जा की निम्नतम अवस्था से जानी जाती है। निम्नतम ऊर्जा अवस्थिति मे, निर्दिष्ट क्षेत्र मे, परिभ्रमण करते रहना पदार्थ (या परमाणु) के मूल घटको का प्राकृतिक स्वभाव है। जब कभी परमाणु को बाहर से अतिरिक्त ऊर्जा दी जाती है, जैसे कि ट्यूब लाइट मे उपस्थित अणुओ को विद्युत् शक्ति, तब वह अतिरिक्त ऊर्जा सोख ली जाती है। शक्ति के इस अधिग्रहण पर अप्राकृत हुआ परमाणु उच्च धरातल पर पहुँच जाता है। वैज्ञानिक शब्दावली प्रयुक्त करे तो कह ले कि इलेक्ट्रॉन उच्च ऊर्जा कक्षको मे परिभ्रमण के लिए बाध्य किया गया है। बाध्य हुआ परमाणु इस अतिरिक्त ऊर्जा राशि को भविष्य के लिए सगृहीत कर स्वय के पास नही रखना चाहता। कदाच्, पराई इस ऊर्जा से वह बौखलाहट ही महसूस करता है। एक सैकण्ड के करोडवे हिस्से मे ही त्याग द्वारा छुटकारा पा अपनी पूर्वावस्था मे लौट आना ही उसे श्रेयस्कर जान पडता है। एक क्षण मे, पराई सम्पत्ति का यह विसर्जन एक नें नही बल्कि अनेको परमाणुओ ने किया, जिस कारण पीला प्रकाश दे रहे सोडियम लेम्पो से चौराहे का प्रत्येक मोड़ जगमगा उठा।

अद्भुत है जड पदार्थ जो अपना सार्वजनिक कोष (कॉमन फण्ड) रखते है। एक समुदाय मे कुछ सदस्य उभय होते है जो किसी पितृ से ममत्व नही रखते। वे 'अ' के जितने अपने है, उतने ही 'ब' के। पूरे समुदाय के एकसे है इसीलिए तो वे 'मुक्त' विशेषण लिये है। किसी विद्युत् चालक पदार्थ (जैसे तांबा) मे अधिसख्य मात्रा मे मुक्त इलेक्ट्रॉन होते है—मोटे तौर पर एक मुक्त इलेक्ट्रॉन प्रति परमाणु। इसके विपरीत कुचालक भोडल मे इनकी मात्रा न सी ही है। इन 'मुक्तो' की पदार्थ मे गति याहच्छिक है, इनकी दिशा नियमित नही अतएव वे पदार्थ से सामान्यतया निकल नही पाते। ये अप्रतिबद्ध घटक-मुक्त इलेक्ट्रॉन ही समुचित परिस्थिति मे विद्युत् धारा का निर्माण करते है। यदि ये अपने पितृ से सबद्ध रहते तो बल्व हमे रोशनी नही देता। प्रकृति प्राय धक् सा रख देती है, क्योकि जैसे ही हम प्रतिपक्षी बयान देना चाहते है वही हमे मुँह की खाना होता है। जड मे भी दान ग्रहणशीलता है, मगर अत्यल्प मात्रा मे। अस्तेयव्रती पदार्थ कुछ भिक्षा ग्रहण कर औघडदानी मे रूपातरित हो जाते है। ये पदार्थ न तो चालक कोटि के है न ही कुचालक। ये मध्यम श्रेणी के है जिन्हे अर्द्ध-चालक नाम से जाना जाता है। ट्राजिस्टर और बहुतसी इलेक्ट्रानिकी सुविधाएँ है ही इस कारण कि मध्यमवर्गी पदार्थो को जरा प्रलोभन दे उनमे अभूतपूर्व गुण-सत्ता पैदा की गई। यह, जरा-सा प्रलोभन वैज्ञानिक भाषा मे 'अशुद्धि की मिलावट' कहा जाता है। अशुद्धि—आटा मे नमक जितनी। चुटकी भर से

अधिक उपयोगी नही । इतनी सी बाह्य सम्पत्ति ग्रहण कर अर्द्धचालक प्रेरित हो जाता है कि वह अपने निजी विद्युत् वाहक लुटाये ।

अनावश्यक, अतिरिक्त भार से लदे रहना, जड पदार्थ का अपना धर्म नही है । भारित तत्त्व आरम्भ में तो इस जल्दी मे उलीचता है कि मानो हलका-फुलका होकर ही दम लेगा । वस्तुत. दम तो वह हलका होने पर ही लेता है मगर अनैच्छित को त्यागने की गति शनै शनैः क्षीण होती जाती है । अवाछित की मात्रा कम होती चली गई । 'छोड़ने को चाल' मद हो चलती है, यद्यपि जारी रहती है । इस त्याग पर, निश्चय ही लुभावना वर्ण लिया वह तत्त्व काला पड जाता है । मगर पागलपन प्राकृत है । रेडियम चढा घड़ी का कांटा रात्रि के अधकार मे समय इसी कारण बता रहा है कि प्रतिपल अतिरिक्त उलीचने को सकल्पित है भारित तत्त्व रेडियम । यूरेनियम को चैन तभी है जब कि वह सीसा हो जाय । नाभिक क्रोड़ हलका होकर ही स्थायित्व पाता है । भारी—रेडियोधर्मी तत्त्वो की इस त्याग प्रकृति से ही वैज्ञानिक पुरातात्विक वस्तुओ की आयु का आकलन करते है । रेडियोधर्मी विखण्डन दर पर आधारित पृथ्वी की आयु का अनुमान सर्वमान्य है । दूसरी ओर, कृत्रिम रूप से भारित किये गये पदार्थ, प्रयोगशाला से इस तरह प्राप्त अतिरिक्त सम्पत्ति को सचित कर नही रखते । कृत्रिमतया रेडियोधर्मी बनाये पदार्थो की स्वत. त्याग प्रवृत्ति के फलस्वरूप ही कैंसर जैसे जटिल रोगों का उपचार सभव हुआ ।

आश्चर्य है, भौतिक पदार्थो का व्यवहार भौतिक सपन्नतायुक्त व्यक्तियों से बिल्कुल उलटा है । भौतिक तत्त्व जो हल्के है जैसे—कार्बन, नेत्रजन, ओषजन आदि वे ही जीवनदायी है । तत्त्व जिस मात्रा में हलका है उसी मात्रा में स्वतंत्र । पृथ्वी अपने इतने भार के दबदबे पर भी हाइड्रोजन को (जो सबसे हलका तत्त्व है) अपने वायुमण्डल मे थामे नही रख पाती । अति भारी की तो प्रकृति ही विखण्डन है । अतिभारित यूरेनियम, फ्लूटोनियम का विखण्डन ही परमाणु बम की शक्ति है । विपरीत्य, बिल्कुल हलके सलयित होते है । मामूली का मिलन ही सूर्य द्वारा उत्सर्जित प्राणदायक रश्मियो का स्रोत है । हलके तत्त्वो का यह निरन्तर मिलन है भी चक्रीय रूप मे । परहिताय एक हुए, वाछित भूमिका निभा पुन विलग हो गये फिर से मिलने को ।

जड़ की अपरिग्रहिता पर लिख वैज्ञानिक चेतना से परिचित घर से बाहर आया । पास के बालुई टीले पर बनती-बिगडती लहरियो की समझ की वह टोह ले पाये कि उसने ऊपर देखा : खारा था पानी । सूर्य का ताप ग्रहण कर शुद्धिकरण की प्रक्रिया मे वह वाष्पित हो उठा । तप से प्राप्त शक्ति लिया वह अपनी रौ मे मैदान की ओर बढ चला । त्यागो, इस ऊष्मा को—वाष्प ने सोचा,

उपलब्धि अन्य के लिए वरदायक हो तब कही तपस्या धन्य होगी ! तड़पडा रही, व्यथा मे आलोडित बालू पर झुकी निगाह ठहरी । सुपात्र को जोह वाष्प पसीज गई । विनम्र हो पानी बोला, मै तो स्वाभाविक आकृति मे लौट रहा हूँ जबकि सवेग रहित होती बालू का बयान—रेगिस्तान भला बोला ही कब । पोर पोर में थाती को स्थान दिया उसने । जब तक चैतन्य कुछ समझे, जाने, तृप्त करती पराई धरोहर अपने उद्गम की ओर बढ चली होगी ।

□ □ □

वैभव बनाम कचरा

पूज्य श्री श्रीलालजी म. सा. के समय का किस्सा है । बीकानेर मे धर्म-निष्ठ श्रावक सेठ श्री गणेशमलजी मालू रहते थे । उनके यहाँ पशुधन बहुत था । प्रतिदिन छाछ बनती थी और सभी घरो मे बांटी जाती थी । आज तो छाछ का पानी भी दाम देने पर प्राप्त नही होता । मालूजी स्वयं छाछ बाटते थे ।

दीन-दु.खी, वेसहारा लोगो के बर्तनो में छाछ डालते वक्त उनमें चाँदी के सिक्के चुपचाप डाल देते थे । घर जाकर लोगो को पता चलता । कोई लौटाने आता तो बोल देते थे ये सिक्के मेरे नही, तुम्हारे ही होगे । लेने वाले की प्रतिष्ठा मे आच न आये, उसे शर्मिन्दा न होना पडे, तीसरे कान पर खबर न पड़े, इसका पूरा ख्याल मालूजी रखते थे ।

किसी तरह यह बात पूज्य श्रीलालजी म. सा. के कानो तक पहुँची । उन्होने मालूजी से पूछा—आप तो बहुत लाभ कमा रहे है ? मालूजी ने बताया—गुरुदेव ! यह कचरा बढता ही बहुत है । मैं जितना बाहर फैंकने की कोशिश करता हूँ, उतना ही यह बढता जा रहा है । आप ही तो फरमाते है कि—

पानी बाढे नाव मे, घर मे बाढे दाम ।
दोनो हाथ उलीचिये, यही सयानो काम ।।

□ श्री शान्ति मुनि

६१

सदाचार और एषणा : सामाजिक सन्दर्भ में

☐ डॉ० वीरेन्द्र शेखावत

सदाचार या सम्यक् आचार का प्रश्न जैन, बौद्ध, औपनिषदिक व शैव दृष्टियो मे सदैव महत्त्वपूर्ण रहा है। यद्यपि अनेक मौलिक मुद्दों पर ये सभी एकमत है लेकिन इनके बीच गहरे मतभेद है। उदाहरण के लिए सभी दृष्टियो मे अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह को सदाचार का मूल आधार माना है, इन्हे धर्म का भी मूल कहा गया है। लेकिन एक ओर तो इनकी व्याख्या के बारे मे मतभेद है, जैसे शैव आचार मे ब्रह्मचर्य पालन का वह अर्थ नही है जो जैन आचार मे है। दूसरी ओर विशेष परिस्थितियो मे इनके त्याग का विधान भी है, जैसे औपनिषदिक आचार मे किसी का जीवन बचाने हेतु साक्षी असत्य भाषण कर सकता है। लेकिन इन मूल आचारो के बारे मे समस्या यह उत्पन्न होती है कि ये नितान्त वैयक्तिक है या सामाजिक है ? यदि ये वैयक्तिक है तो कोई भी इनके अनुसार आचरण करने को बाध्य नही हो सकता, उस अवस्था में इनका क्या महत्त्व रह जाएगा। पुन. यदि ये सामाजिक है तो इनके त्यागने पर दण्ड की या प्रायश्चित की व्यस्वथा होनी चाहिए जो धर्मशास्त्रो मे देखने मे नही आती। इस सन्दर्भ में एषणाओ का विचार, जो चरक सहिता[1] मे उपलब्ध है, बहुत महत्त्वपूर्ण है। वहाँ प्राणैषणा, धनैषणा और परलोकैषणा इन तीन एषणाओ की प्राप्ति हेतु मानव को प्रयत्नशील रहने की सलाह दी गई है। सबसे पहले प्राणैषणा करनी चाहिए क्योकि यदि प्राण नही है तो कुछ भी नही है। अतः स्वस्थवृत्त के द्वारा तथा शीघ्रतापूर्वक विकार शमन के द्वारा प्राणों की सुरक्षा और स्वास्थ्य का प्रयत्न करना चाहिए। इसके बाद धनैषणा करनी चाहिए क्योकि प्राणो के रहते हुए धन का अभाव मृत्यु के समान है। अत. सुवृत्तिपूर्वक धनार्जन करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके बाद परलोकैषणा करनी चाहिए क्योकि वर्तमान जीवन बाद में आने वाले जीवन का हेतु है और वह जीवन श्रेष्ठ हो इसके लिए सदवृत्त, ज्ञान, तप आदि का प्रयत्न करना चाहिए। सामान्य जीवन मे एषणाओ के महत्त्व को हम नकार नही सकते क्योकि हम सभी इन्हे करते है। अब प्रश्न यह है कि इन एषणाओ का मूल आचारो से क्या सम्बन्ध है ? सरसरी तौर पर विचार करे तो ये एषणाएँ मूल आचारो की विरोधी

१—चरक सहिता, सूत्र स्थान, अध्याय ११, गुलाब कुवरबा आयुर्वेदिक सस्था, जामनगर, १९४९।

लगती है। फिर क्या एषणाओ का विचार भ्रामक है ? या कि मूल आचारों का विचार ही त्रुटिपूर्ण है ?

देह का महत्त्व सभी दृष्टियो मे स्वीकारा गया है क्योकि देह के माध्यम से ही आत्मा ससार-अनुभव या भोग प्राप्त करता है और उसी के माध्यम से कैवल्य या निब्बाण या मुक्ति या सदाशिवता को प्राप्त करता है। अत: देह को स्वस्थ रखना और उसका उचित पोषण सभी को स्वीकार्य होगा। अत: प्राणैषणा का औचित्य है। इसी प्रकार धन के बिना भोग नही हो सकता अत: धनैषणा का भी औचित्य है। क्योंकि आत्मा की ससारगति का प्रयोजन ही भोग और तत्पश्चात् कैवल्य है, इनके अभाव मे वह प्रयोजन पूरा नही हो सकता। यह असम्भव है कि आत्मा भोग के बिना ही मुक्त हो जाये। अत भविष्यगति को श्रेयस्कर बनाने के लिए प्राणैषणा और धनैषणा को प्राथमिकता देने का भी औचित्य है। वस्तुत:, मूल आचारो को ध्यान में रखते हुए हम इन तीन एषणाओ में दो और जोड सकते है जिन्हे कामैषणा और भोगैषणा कहा जा सकता है। इनका महत्त्व भी लोकयात्रा मे सभी को स्वीकार्य होगा। इन एषणाओं को हम जन्मसिद्ध कह सकते है क्योंकि ये सृष्टि के मूल प्रयोजन और प्राणिमात्र के जीवन के अर्थ के अनुकूल है। मानवमात्र स्वभावत:, प्रकृतित इन एषणाओ के लिए प्रयत्नरत है यद्यपि सभी उन्हे नीतिपूर्वक उपलब्ध नही करते। हर समाज और राज्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने सदस्यो व नागरिकों को इन एषणाओ की पूर्ति हेतु उचित परिस्थिति उपलब्ध कराए। यह कहा जा सकता है कि राज्य व्यवस्था का औचित्य इसी मे होता है कि सभी को पाँच एषणाओ की उपलब्धि के उचित अवसर मिले अन्यथा मानव जीवन का वह अर्थ नही रह जायेगा जो सृष्टि की उत्पत्ति और प्रयोजन के विश्लेषण मे हमने दिया है।

ऐसी परिस्थिति की कल्पना कीजिए जहाँ किसी व्यक्ति के मे है। ऐसी स्थिति मे अपने प्राणो की रक्षा के लिए क्या उसे अहिंसा त्याग देना चाहिए ? इसका उत्तर लगभग स्पष्ट है। यदि प्रा[illegible] औचित्य है तो अवश्य उसे अहिसा को त्याग देना चाहिए। तब मूल आचार का महत्त्व अत्यन्त सीमित हो जाएगा क्योकि उसका स्थाओ व सर्वकालो में पालन किया जाना चाहिए। इसी प्रकार भोगैपणा पर आघात होता है तो उसे अपरिग्रह के मूल आचार चाहिए क्योकि जिस समाज मे उपभोग की वस्तुओ को गोदामो छिपा दिया जाता है वहाँ भोगैपणा पर आघात होता है अ[illegible] पालन यदि असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। तब अपरि[illegible] [illegible]ण हो जाएगा। इसी प्रकार धनैपणा पर आघात होने प[illegible] [illegible]न पडेगा। तब इन मूल आचारो का क्या औचित्य

जहाँ एषणाएँ जन्मसिद्ध हैं वहाँ मूल आचार धर्मसिद्ध है। अर्थात् ये वे आदर्श है जिन्हें प्राप्त करने में प्रयत्नशील मानव मानवता के उस चरम शिखर पर पहुँचता है जहाँ कि समाज व सस्कृति एक पूर्णता को प्राप्त करती है। इन मूल्य व आदर्शो का औचित्य उस जगद्दृष्टि या दर्शन या सृष्टि सिद्धान्त मे है जिसमें मानव जीवन का अर्थ व प्रयोजन परिभाषित है। वस्तुतः थोडी परीक्षा करने पर हम पाते है कि ये आदर्श एषणाओ के विरोधी नही है। उदाहरण के लिए यदि सभी मानव अहिसा के आदर्श पर चलते है तो प्राणैषणा की विवृद्धि होती है, प्राण अधिक सुरक्षित होते है, या सभी के अपरिग्रह का पालन करने से भोगैषणा भी मजबूत होती है। अहिसा के आदर्श की कठोरतम परिभाषा यह है कि व्यक्ति मन, वचन व कर्म से किसी को पीडित न करे। इसी तरह अपरिग्रह का आदर्श अपने कठोरतम रूप मे एक दिन के अनिवार्य उपभोग से अधिक सग्रह न करने का सुझाव देता है और मात्र सन्तानोत्पत्ति हेतु सम्भोग ब्रह्मचर्य का आदर्श है, आदि। यद्यपि ये आदर्श पूर्णतः वैयक्तिक है और कोई भी इन्हे अपनाने के लिए व्यवहारतः या कानूनी तौर पर बाध्य नही है लेकिन यदि अधिकतर लोग इन्हे मान ले तो सामाजिक दबाव के कारण अन्य भी इनका पालन करेगे। इस प्रकार सम्पूर्ण समाज इनका पालन करने लगेगा। लेकिन समाज एक सीमित इकाई होता है और मानव इतिहास मे यह सदैव होता है कि यद्यपि कोई समाज-विशेष आदर्शो की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है लेकिन अन्य समाज जो उन आदर्शो के महत्त्व को नही समझते, जो अपेक्षाकृत अर्धवर्बर है उन पर आघात करते है। ऐसी परिस्थिति मे किसी समाज विशेष को उन आदर्शो की रक्षा के लिए ही उन आदर्शो की अवहेलना करनी पडती है। यही बात व्यक्ति के लिए भी सत्य है। व्यक्ति को बहुधा अपने आदर्शो की रक्षा हेतु ही उन आदर्शो को त्यागना पड़ता है क्योंकि कुछ व्यक्ति या प्राणी स्वभावतः हिसक या परिग्रही आदि होते है।

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल मूल आचारों पर बल देना या केवल एषणाओं के महत्त्व को स्वीकारना मानव स्वभाव के सही स्वरूप को अनदेखा करना है। वह एक साथ भोगोन्मुख और अपवर्गोन्मुख है। वह एक साथ ही प्राणैषणा करता व अहिसा के आदर्श को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, वह एक साथ भोगैषणा और अपरिग्रह को प्राप्त करने को उत्सुक रहता है। जब तक हम मानव स्वभाव के इस यथार्थ को भलीभांति नही समझ लेते, जीवन के प्रयोजन को प्राप्त करने व लोकयात्रा को सफलतापूर्वक पूरा करने की हमारी नीति त्रुटिपूर्ण रहेगी। अतः एषणाएँ ही वो सीढी है जिसके द्वारा, जिसके सहारे, जिसको लाघते हुए हम आदर्शो के शिखर पर पहुँचते है, उन्हे नकार कर या उनके बिना हम उस शिखर पर पहुँच नही सकते। इस सन्दर्भ मे, मै समझता हूँ कि शैव आचार अन्य सभी भारतीय आचारो की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है।

लगती है। फिर क्या एषणाओं का विचार भ्रामक है ? या कि मूल आचारो का विचार ही त्रुटिपूर्ण है ?

देह का महत्त्व सभी दृष्टियों में स्वीकारा गया है क्योंकि देह के माध्यम से ही आत्मा ससार-अनुभव या भोग प्राप्त करता है और उसी के माध्यम से कैवल्य या निब्बाण या मुक्ति या सदाशिवता को प्राप्त करता है। अतः देह को स्वस्थ रखना और उसका उचित पोषण सभी को स्वीकार्य होगा। अत प्राणैषणा का औचित्य है। इसी प्रकार धन के बिना भोग नही हो सकता अतः धनैषणा का भी औचित्य है। क्योकि आत्मा की ससारगति का प्रयोजन ही भोग और तत्पश्चात् कैवल्य है, इनके अभाव मे वह प्रयोजन पूरा नही हो सकता। यह असम्भव है कि आत्मा भोग के बिना ही मुक्त हो जाये। अतः भविष्यगति को श्रेयस्कर बनाने के लिए प्राणैषणा और धनैषणा को प्राथमिकता देने का भी औचित्य है। वस्तुत., मूल आचारो को ध्यान मे रखते हुए हम इन तीन एषणाओ मे दो और जोड सकते है जिन्हे कामैषणा और भोगैषणा कहा जा सकता है। इनका महत्त्व भी लोकयात्रा मे सभी को स्वीकार्य होगा। इन एषणाओ को हम जन्मसिद्ध कह सकते है क्योंकि ये सृष्टि के मूल प्रयोजन और प्राणिमात्र के जीवन के अर्थ के अनुकूल है। मानवमात्र स्वभावतः, प्रकृतितः इन एषणाओ के लिए प्रयत्नरत है यद्यपि सभी उन्हे नीतिपूर्वक उपलब्ध नही करते। हर समाज और राज्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने सदस्यों व नागरिको को इन एषणाओ की पूर्ति हेतु उचित परिस्थिति उपलब्ध कराए। यह कहा जा सकता है कि राज्य व्यवस्था का औचित्य इसी मे होता है कि सभी को पाँच एषणाओ की उपलब्धि के उचित अवसर मिले अन्यथा मानव जीवन का वह अर्थ नही रह जायेगा जो सृष्टि की उत्पत्ति और प्रयोजन के विश्लेषण मे हमने इसे दिया है।

ऐसी परिस्थिति की कल्पना कीजिए जहाँ किसी व्यक्ति के प्राण सकट मे है। ऐसी स्थिति मे अपने प्राणो की रक्षा के लिए क्या उसे अहिसा का आचार त्याग देना चाहिए ? इसका उत्तर लगभग स्पष्ट है। यदि प्राणैषणा का कोई औचित्य है तो अवश्य उसे अहिसा को त्याग देना चाहिए। तब अहिसा रूपी मूल आचार का महत्त्व अत्यन्त सीमित हो जाएगा क्योकि उसका तो सर्व अवस्थाओ व सर्वकालो में पालन किया जाना चाहिए। इसी प्रकार यदि किसी की भोगैषणा पर आधात होता है तो उसे अपरिग्रह के मूल आचार को त्याग देना चाहिए क्योकि जिस समाज मे उपभोग की वस्तुओ को गोदामो मे इकट्ठा करके छिपा दिया जाता है वहाँ भोगैषणा पर आघात होता है और अपरिग्रह का पालन यदि असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। तब अपरिग्रह का महत्त्व भी क्षीण हो जाएगा। इसी प्रकार धनैपणा पर आघात होने पर अस्तेय आदि को त्यागना पड़ेगा। तब इन मूल आचारो का क्या औचित्य और महत्त्व है ?

जहाँ एषणाएँ जन्मसिद्ध है वहाँ मूल आचार धर्मसिद्ध है। अर्थात् ये वे आदर्श है जिन्हें प्राप्त करने में प्रयत्नशील मानव मानवता के उस चरम शिखर पर पहुँचता है जहाँ कि समाज व संस्कृति एक पूर्णता को प्राप्त करती है। इन मूल्य व आदर्शो का औचित्य उस जगद्दृष्टि या दर्शन या सृष्टि सिद्धान्त मे है जिसमें मानव जीवन का अर्थ व प्रयोजन परिभाषित है। वस्तुतः थोड़ी परीक्षा करने पर हम पाते है कि ये आदर्श एषणाओं के विरोधी नही है। उदाहरण के लिए यदि सभी मानव अहिसा के आदर्श पर चलते है तो प्राणैषणा की विवृद्धि होती है, प्राण अधिक सुरक्षित होते है, या सभी के अपरिग्रह का पालन करने से भोगैषणा भी मजबूत होती है। अहिसा के आदर्श की कठोरतम परिभाषा यह है कि व्यक्ति मन, वचन व कर्म से किसी को पीडित न करे। इसी तरह अपरिग्रह का आदर्श अपने कठोरतम रूप मे एक दिन के अनिवार्य उपभोग से अधिक संग्रह न करने का सुझाव देता है और मात्र सन्तानोत्पत्ति हेतु सम्भोग ब्रह्मचर्य का आदर्श है, आदि। यद्यपि ये आदर्श पूर्णत· वैयक्तिक है और कोई भी इन्हे अपनाने के लिए व्यवहारतः या कानूनी तौर पर बाध्य नही है लेकिन यदि अधिकतर लोग इन्हें मान ले तो सामाजिक दबाव के कारण अन्य भी इनका पालन करेगे। इस प्रकार सम्पूर्ण समाज इनका पालन करने लगेगा। लेकिन समाज एक सीमित इकाई होता है और मानव इतिहास मे यह सदैव होता है कि यद्यपि कोई समाज-विशेष आदर्शो की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है लेकिन अन्य समाज जो उन आदर्शो के महत्त्व को नही समझते, जो अपेक्षाकृत अर्धबर्बर है उन पर आघात करते है। ऐसी परिस्थिति मे किसी समाज विशेष को उन आदर्शो की रक्षा के लिए ही उन आदर्शो की अवहेलना करनी पड़ती है। यही बात व्यक्ति के लिए भी सत्य है। व्यक्ति को बहुधा अपने आदर्शो की रक्षा हेतु ही उन आदर्शो को त्यागना पडता है क्योकि कुछ व्यक्ति या प्राणी स्वभावतः हिसक या परिग्रही आदि होते है।

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल मूल आचारो पर बल देना या केवल एषणाओ के महत्त्व को स्वीकारना मानव स्वभाव के सही स्वरूप को अनदेखा करना है। वह एक साथ भोगोन्मुख और अपवर्गोन्मुख है। वह एक साथ ही प्राणैषणा करता व अहिसा के आदर्श को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, वह एक साथ भोगैषणा और अपरिग्रह को प्राप्त करने को उत्सुक रहता है। जब तक हम मानव स्वभाव के इस यथार्थ को भलीभांति नही समझ लेते, जीवन के प्रयोजन को प्राप्त करने व लोकयात्रा को सफलतापूर्वक पूरा करने की हमारी नीति त्रुटिपूर्ण रहेगी। अत· एषणाएँ ही वो सीढी है जिसके द्वारा, जिसके सहारे, जिसको लाघते हुए हम आदर्शो के शिखर पर पहुँचते है, उन्हे नकार कर या उनके बिना हम उस शिखर पर पहुँच नही सकते। इस सन्दर्भ मे, मै समझता हूँ कि शैव आचार अन्य सभी भारतीय आचारों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है।

वहाँ इन मूल आचारो का महत्ता को स्वीकारा गया है लेकिन एपरगाओ को अनदेखा नही किया गया । उस क्षेत्र मे अधिक शोध की आवश्यकता है ।

आचार पालन मे भी एक आचार दूसरे आचार में रुकावट उत्पन्न करता है । उदाहरण के लिए एक व्यक्ति अपरिग्रह का पालन करता है, उसका बच्चा दुर्घटनाग्रस्त हो जाता है और धनाभाव मे उसका यथासमय उपचार न हो पाने से मर जाता है । ऐसी अवस्था मे अपने आश्रित की प्राणरक्षा करने मे असमर्थ वह व्यक्ति उसकी मत्यु के लिए उत्तरदायी है । इसी प्रकार एक आचार की पालन प्रक्रिया उसी आचार की अन्य पालन प्रक्रिया मे बाधा बन सकती है, जैसे मै ध्यान व ज्ञान द्वारा सत्य का अनुसधान करना चाहता हूँ लेकिन दूसरा भजन-कीर्तन द्वारा और वह सारे मौहल्ले को सिर पर उठा लेता है । इसी मे मुल्ला की बांग, पुजारी की शखध्वनि और वे लाउडस्पीकर शामिल है जिनसे नित्य व्यवधान होता है । स्पष्ट है कि आचारो के आधुनिक सन्दर्भ और उनकी पालनविधि पर नए सिरे से सोचने की जरूरत है और यह जिम्मेवारी उन लोगो की है जो इस क्षेत्र मे सर्वाधिक सक्रिय है ।

आधुनिक काल में गाधीजी का प्रयास इन आचारो के पालन हेतु किया गया और वह सर्वविदित है । वस्तु. उनके जीवन का इतिहास प्रमुखतया इन आचारो की अनुपालना के प्रयास का इतिहास कहा जा सकता है । वे दूध इसलिए नही पीते थे कि इसमे बछडे के दूध की चोरी होती है लेकिन डाक्टर की सलाह पर उन्होने बकरी का दूध स्वीकार किया । अपरिग्रह के पालन मे भी गाधीजी वहुत जागरूक थे । उन्हे इनके पालन में कहाँ तक सफलता मिली और उनके अनुभव क्या थे, ये विचारणीय विषय है । लेकिन आधुनिक परिस्थितियो मे इनका अनुपालन कितना कठिन है, यह तो उनके जीवन से स्पष्ट ही है ।

व्यवहारशास्त्र या कानून के क्षेत्र मे कुछ आधुनिक समस्याएँ है जिन पर मूल आचारो और एषणाओ के प्रत्यय कुछ प्रकाश डाल सकते है । जैसे अधिकारों और कर्तव्यो का द्वय । एषणाओ को हम अधिकारो के रूप मे देख सकते है । अत. अपने प्राणो की रक्षा और स्वास्थ्य मानवमात्र का (प्राणिमात्र का भी) अधिकार है । इसी प्रकार धनैषणा, भागैषणा आदि । अत: अधिकार वे है जो जन्मसिद्ध या स्वत सिद्ध है और उनका हनन मानव के अस्तित्व को नकारने के समान ही है । एपणाओ की प्राप्ति मे अव्यवधान या वाधारहितता ही मानव की स्वतन्त्रता है—कुछ परिस्थितियो मे वे आचार विरोधी हो तव भी । जव एपणाओ को गौण समझकर मूल आचारो को ही सर्वोपरि माना जाता है तो मानव स्वतन्त्रता का हनन होता है चाहे ऐसा धर्म सस्था करे या राज्य ? इसी

तरह मूल आचारो को कर्तव्यो के रूप मे देखा जा सकता है जो जगद्दृष्टि या धर्म द्वारा निर्धारित है। यदि इन कर्तव्यो का पालन न किया जाए तो मानव इन आदर्शो और मूल्यो को प्राप्त नही करता जो मानवता को परिभाषित करते है, जिनसे मानव जीवन का अर्थ व प्रयोजन निर्धारित होता है। क्योकि मूल आचार जगद्दृष्टि सापेक्ष है अत भिन्न जगद्दृष्टियो मे भिन्न आचार या मूल आचारो की भिन्न व्याख्या सम्भव है। जो भी मानव किसी जगद्दृष्टि को धारण करता है उसके लिए उन आचारो का पालन स्वत: ही कर्त्तव्य बन जाता है क्योकि किसी जगद्दृष्टि को धारण करने का मतलब ही यह है कि उसके अनुसार जगत को देखना और उन आदर्शो के अनुसार जीवन को जीना। अधिकार और कर्तव्य केवल व्यक्ति के ही नही, समाज और राज्य के भी होते है। किसी भी समाज को यह अधिकार है कि वह किसी जगद्दृष्टि के अनुसार जीवन को जिए और उसे निरन्तर विकसित करे तथा उसके अनुसार विज्ञान एव कला मे उपलब्धियाँ करे। इसी प्रकार सार्वभौमिकता या स्वायत्तता हर राज्य का स्वत: सिद्ध अधिकार है। इसी प्रकार समाजो और राज्यो के अन्य समाजो व राज्यो के प्रति तथा अपने सदस्यो और नागरिको के प्रति कर्तव्य होते है, जो उस जगद्-दृष्टि द्वारा परिभाषित होते है जिसको वे समाज और राज्य धारण करते है। इनमे सास्कृतिक आदान-प्रदान, आर्थिक सहयोग व बर्बर शक्तियो से रक्षा मे सहयोग, आदि तथा सदस्यो की एषणाओ की व्यवहारत सुरक्षा और कर्त्तव्य पालन के लिए दण्ड व प्रेरणा व्यवस्था आदि है। यदि समाज और राज्य ही अपने कर्तव्यो से विमुख होते है तो यह निश्चित संकेत होता है कि जगद्दृष्टि में मौलिक परिवर्तन अपरिहार्य है।

मानव इतिहास में यह अक्सर होता है कि आचार की अति के कारण एषणा-हानि और एषणा की अति के कारण आचार-भ्रष्टता होती है और समाज पुन:-पुन ह्रासोन्मुख होते है। यह इसलिए होता है कि आचार और एषणाओं का सम्बन्ध अत्यन्त सूक्ष्म है और उनका तालमेल तथा साम्य बनाए रखना अपेक्षाकृत असरल है। जो समाज इस तालमेल के महत्त्व को समझ लेते है, वे सास्कृतिक चिरस्थायित्व को प्राप्त होते है और ऐसे उदाहरण विरल होते है।

यद्यपि व्यक्ति का महत्त्व राज्य से अधिक हो सकता है लेकिन व्यक्ति और राज्य का महत्त्व समाज से अधिक नही। समाज का प्रतिनिधित्व वे व्यक्ति करते है जो उसकी जगद्दृष्टि का सर्जन करते है और तर्क बौद्धिकवाद प्रक्रिया द्वारा उसका निरन्तर विकास करते है, अर्थात् समाज के धर्म की विवृद्धि करते है। अपरिग्रह जैसे उच्च आदर्शो को त्याग देने से ही समाजो में आर्थिक शोषण सम्भव होता है जिसके फलस्वरूप समाजो और राज्यो का ह्रास होता है।

समाजों में साम्यभाव तभी बना रह सकता है जब एषणाओं और मूल आचारों रूपी उच्च आदर्शों का साम्य व सन्तुलन बना रहे ।•

• इस निबन्ध मे लेखक ने सामान्य जन-जीवन मे सदाचार और एषणा के सम्वन्ध पर विविध दृष्टियो से विचार करते हुए उनमे सामजस्य वैठाने का प्रयत्न किया है । यह आवश्यक नही है कि साधना के उच्च स्तर पर यह चरितार्थ होता हो ।—सम्पादक

□ □ □

आधी रोटी पर हक

एक महात्मा प्रवचन दे रहे थे—'सबको अपने-अपने हक की रोटी खानी चाहिए ।' प्रवचन-सभा मे उस देश का राजा भी उपस्थित था । उसने खड़े होकर पूछा—'महात्मन् ! हक की रोटी कैसी होती है ?'

महात्मा ने कहा—'किसी दृष्टान्त से यह बात पूरी समझ मे नही आयेगी । साक्षात् देखना हो तो मेरे साथ चलो ।'

महात्मा और राजा दोनो उस नगर के एक मुहल्ले में पहुँचे जहाँ एक बुढिया रहती थी । महात्मा के सकेत पर राजा ने बुढिया के घर जाकर कहा—'माई, मुझे हक की एक रोटी चाहिए ।'

बुढिया बोली—'राजन् ! मेरे पास एक ही रोटी है, किन्तु उसमे से आधी हक की है और आधी बिना हक की ।'

राजा के बात समझ मे नही आई । उसने प्रश्न किया—'एक ही रोटी में से आधी हक की और आधी बिना हक की कैसे ?'

उत्तर मे बुढिया ने कहा—'मै एक दिन चरखा कात रही थी । सायकाल का समय था । अन्धकार धीरे-धीरे वढता जा रहा था । इतने मे एक मशाल-जुलूस आता हुआ दिखाई दिया । मै मशालो के प्रकाश मे सूत कातती रही । उस समय मुझे अपना दीपक नही जलाना पडा । जुलूस जव तक रुका रहा, तव तक मैने जो सूत काता, उसे वेचकर आटा लाई और यह रोटी वनाई । श्रम मेरा था और प्रकाश मशाल-जुलूस का, इसलिए इस एक रोटी मे आधी पर मेरा हक है और आधी पर मशाल-जुलूस का ।'

राजा ने यह सुनकर बुढिया को प्रणाम किया और राजमहल जाकर प्रजा के लिए अपना भडार खोल दिया ।

□ राजीव भानावत

६२

आधुनिक युग में अपरिग्रह का मापदण्ड : एक चिन्तन

☐ श्री मानमल कुदाल

आधुनिक युग मे अपरिग्रह का मापदण्ड काफी चर्चा का विषय बना हुआ है। भगवान् महावीर के समय मे कर्मकाण्ड तथा हिसा चरम सीमा पर बढी हुई थी, परन्तु आधुनिक युग मे परिग्रह अपनी सीमा लाघ चुका है। आगम ग्रन्थो मे भी परिग्रह की सीमा के बारे मे स्पष्ट उल्लेख मिलते है। इनमे कहा गया है कि गृहस्थ को धन-धान्य आदि वस्तुओ की सीमा निश्चित करनी चाहिए। और इसी से प्रेरित होकर कई गृहस्थ परिग्रह की सीमा को बाधकर अपरिग्रह की ओर आगे बढ़े है। उन्होने १०० गायो के बजाय ५० गाये, दस हाथी के बजाय ५ हाथी, लाखो स्वर्ण मुद्राओ के बजाय हजारो स्वर्ण मुद्राएँ तथा कई मकानो के बजाय कुछ मकान रखे होगे। इस तरह परिग्रह के त्याग का उदाहरण प्रस्तुत किया होगा और तत्कालीन समाज ने ऐसे लोगो को त्यागी कहकर सम्मानित भी अवश्य किया होगा, क्योकि वे तो आगमो की सीधी-सादी भाषा के अनुसार ही अपने जीवन को ढाल रहे थे। परन्तु यहा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या इस प्रकार के त्याग को अपरिग्रह की सज्ञा दी जाय ? यहाँ हमे यह समझना भी आवश्यक है कि परिग्रह का लक्षण क्या है ? क्योकि इसके लक्षण को जानकर ही हम परिग्रह-अपरिग्रह का निर्णय कर सकते है।

अपरिग्रहवादियो के सामने जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ तो उन्होने अपरिग्रह को समझाने के लिये परिग्रह का लक्षण समझाया। अपरिग्रहवादी समझते थे कि जब परिग्रह का लक्षण समझा देगे तो इससे बचकर मनुष्य अपरिग्रही बन जायगा। अत. उन्होने कहा जहाँ मूर्च्छा है, वहाँ परिग्रह है। इसका तात्पर्य यह है कि चाहे व्यक्ति के पास मकान, जमीन, जायदाद, धन-धान्य आदि कुछ भी न हो, फिर भी इनके प्रति आकर्षण, ममत्व, राग आदि हो तो वह निश्चित रूप से परिग्रही ही है। इसके विपरीत जिस व्यक्ति के पास सब कुछ उपर्युक्त साधन होते हुए भी यदि उन वस्तुओ के प्रति उनका आकर्षण, राग, ममत्व नही है, तो वह अपरिग्रही है।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या परिग्रह का मूर्च्छा लक्षण कोरा व्यक्तिगत नही है ? क्या मूर्च्छा होने या न होने का ज्ञान हमें हो सकता है ? मूर्च्छा एक ऐसी मानसिक स्थिति है जिसको दूसरे व्यक्तियो मे जान पाना तो कठिन है ही, अपने आप में जान पाना भी अत्यन्त कठिन है। अत यह परिग्रह

बलात्कार जैसी निकृष्ट घृणित घटनाएँ भी भोग-उपभोग की इच्छा का असयमित होना ही है और तो और इसी भोग-उपभोग की इच्छा ने निरीह पशुओ को मौत के घाट उतारने पर मजबूर कर दिया है। लिपिस्टिक, शेम्पो, चमड़े व फर की बनी हुई वस्तुओ के कारण हजारो जानवरों की बलि रोज चढाई जाती है, हजारों मासूम गायें मरे आम कट रही हैं। इस तरह सामाजिक अपराध व हिंसा का बहुत बड़ा कारण हमारी भोग-उपभोग की इच्छा का विस्तार है।

भोग-उपभोग की इच्छा व्यक्ति व समाज के लिए ही नही राष्ट्र के लिए भी अहितकर है। भोग-उपभोग की वस्तुओ का सग्रह करने के लिये पैसों की आवश्यकता है। इसे एकत्रित करने के लिये राष्ट्र तक की बलि चढा दी जाती है। पजाब मे आज जो कुछ हो रहा है, उसके मूल में भी यही प्रवृत्ति है जिसका फायदा उठाकर समृद्ध राष्ट्र पैसे के बल पर कुछ लोगो को खरीदकर राष्ट्र विरोधी कार्य करवाते है। सरकारी कार्यालयो से फाइले गायब होना, झूठे अभियोग लगाकर गरीबो को फँसाना व अभियुक्त की रक्षा करना, वस्तु मे मेल-समेल करना, देश के गुप्त रहस्यों को प्रकट करना, योग्य, ईमानदार व्यक्तियो की हत्या करवा देना जैसे अनैतिक कार्य इसी के आधार पर होते है। पैसे से किसी भी व्यक्ति को कभी भी खरीदा जा सकता है।

हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गाधीजी ने इन सारे रोगों की दवा ट्रस्टीशिप बताई। वे सच्चे अर्थो मे जैनी थे। उन्होंने भोग-उपभोग की वस्तुओ को व्यक्ति, समाज व राष्ट्र के लिए बीमारी माना और उसका इलाज सम्पत्ति पर स्वामित्व की भावना को समाप्त करना बताया। हम सम्पत्ति के मालिक बनकर नहीं, उसके ट्रस्टी बनकर रहे। यही उनकी भावना थी।

• □ •

□ सब शुद्धियो मे धन की पवित्रता ही श्रेष्ठ कही गयी है, क्योंकि जो धन में शुद्ध है वही शुद्ध है।
—मनु

□ धन जमा करने ... । धन ठीकरी है और उम्र मोती।
—सादी

□ जो जल्द

□ सबसे व
फकीर

खर्च बोझ बनता जा रहा है, प्रेम की गगा सूख रही है, कोई किसी की सहायता करने को तैयार नही है । कचन व कामिनी के चक्कर मे वह भूल गया है कि पैसा पलग व मखमली गद्दे दे सकता है, पर नीद नही, वह दवाइयाँ दे सकता है पर स्वास्थ्य नही, भोजन सामग्री दे सकता है पर भूख नही, लेकिन इसकी चकाचौध इतनी गजब की है कि हमारी सोचने-विचारने की शक्तियाँ कु ठित हो रही है । आज पश्चिम के लोगो के उदाहरण हमारे सामने है । उनके पास सब कुछ है लेकिन चैन नही । वहाँ पति को पत्नी पर विश्वास नही और पत्नी को पति पर विश्वास नही, बच्चो को माता-पिता पर विश्वास नही और माता-पिता को बच्चो पर विश्वास नही । वे अब उस द्वन्द्व मे से निकलकर, फकीर की तरह बनकर 'हरे कृष्ण हरे राम' मे लगे है और हम 'हरे कृष्ण हरे राम' के स्थान पर 'हाय पैसा' की ओर लगे है ।

हमारे आचार्य भगवन्तो ने छद्मस्थो की इसी कमजोरी को देखते हुए उस परिग्रह रूपी अजगर की पूँछ छोटी करने के लिये उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत का निरूपण किया । परिग्रह का या तो भोग किया जा सकता है या उपभोग । भोग का अर्थ है उसे एक बार उपयोग करना तथा उपभोग का अर्थ है बार-बार उपयोग कर सकना जैसे मकान, वस्त्र आदि ।

भोग-उपभोग की वस्तुएँ २६ प्रकार की है—उल्लणविहि, दतणविहि, सचित्तविहि, द्रव्यविहि आदि । इन वस्तुओ की मर्यादा करने से हमारी आकाश के समान फैली इच्छाएँ थाली मे चन्द्रमा के समान हो जायेगी । हम निश्चित सुखी जीवन का सूत्रपात कर सकेंगे । हमारा श्रम व शक्ति का ह्रास नही होगा, स्वास्थ्य की रक्षा कर पायेगे, चैन की नीद सो पायेगे । सामाजिक दृष्टि से भी परिग्रह परिमाण व्रत व उपयोग परिभोग-परिमाण व्रत बहुत लाभकारी है । व्यक्तियो से ही समाज बनता है । स्वार्थी व्यक्तियो से समाज ऐसे कगार पर आ जायेगा जहाँ दूसरे के दु.ख-दर्द की किसी को परवाह भी नही होगी । सामाजिक हित गोल हो जायेगा । इसी परिग्रह की वृत्ति से समाज मे आज दहेज आदि प्रवृत्तियो को बढावा मिला है । जिसके परिणामस्वरूप आज कई लडकियो को जीवन भर कुआरी रहने को मजबूर होना पड रहा है तथा दूसरी ओर पैसे के बल से हजारो लडकियो का कौमार्य नष्ट किया जा रहा है । यदि भोग-उपभोग की वस्तुओ को सयमित कर लिया जाय तो यह अनाचार, अत्याचार व सामाजिक जीवन को तहस-नहस करने वाली कुप्रथाएँ अपने आप नष्ट हो जायेगी ।

विज्ञान के विकास के साथ भोग-उपभोग की वस्तुओ मे दिनोदिन बढोतरी हो गई है अतएव दहेज जैसी सात्विक सास्कृतिक परम्परा विषम बन गई है । अखबारो मे रोज दहेज के कारण मरने-मारने की घटनाये पढने को मिलती है ।

६३

बढ़ते हुए परिग्रह का दुष्परिणाम

□ श्रीमती सुशीला बोहरा

गृहस्थो की आजीविका के लिये नीतिशास्त्र व समाजशास्त्र ने ६ कर्म बताये है यथा शिल्प, सेवा, असि, मसि, कृषि और वाणिज्य। इन ६ कर्मो के द्वारा गृहस्थ अपने परिवार का भरण पोषण करता था, समाज व राष्ट्र की भी सेवा करता था। जिस देश मे शिल्प, विद्याएँ और कला-कौशल बढे चढे होते है, वह देश भौतिक दृष्टि से उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है। वहाँ की जनता सुखपूर्वक अपनी जिन्दगी बिताती है, दुष्काल के थपेड़ो और प्राकृतिक प्रकोपो का वह डट कर सामना कर सकती है। परन्तु जो लोग केवल धनोपार्जन को ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य बनाकर परकर्मो को सीखते है, उनके सामने समाज या राष्ट्र की सेवा करने या अपने परिवार का पोषण करने का कोई लक्ष्य नही होता, उनका लक्ष्य खूब पैसा कमाकर मौज शौक करना होता है। दुनिया मरे या जिए, समाज चाहे रसातल मे जाय, चाहे राष्ट्र का नैतिक जीवन खतरे मे पड जाय उनकी बला से। उन्हे तो पैसा चाहिये, फैशन और भोगविलास के साधन चाहिये। आज मनुष्यो की वृत्ति इसी होडा-होड मे लगी हुई है। पैसे के लिए निकृष्ट से निकृष्ट कार्य करने को उतारू हो सकता है। वस्तु मे मेलसमेल की जा सकती है, चोरी आदि की जा सकती है, स्त्रियो व बच्चो को मौत के घाट उतारा जा सकता है, गौमाता को कसाई के हाथ बेचा जा सकता है। जैन कहलाने वाले लोग घी मे सूअर व गाय का मास मिला सकते है, भाई को कोर्ट कचहरी चढाया जा सकता है, पत्नी से दुराचार करवाया जा सकता है। सक्षेप मे दुनिया का कोई ऐसा निकृष्ट कार्य ऐसा नही है जो इसके लिये नही किया जाता हो। लेकिन अफसोस यह है कि यह सब करने के बाद भी न दिन मे चैन है न रात्रि को विश्राम।

अतएव परिग्रह के प्रति ममत्व भाव किसी भी दृष्टि मे सुखकर व हितकर नही। व्यक्तिगत दृष्टि से इसी की मूर्च्छा ने उसे बेभान बना दिया है। उसकी हालत मकडी के समान बन गई जो स्वय अपने चारो ओर जाल का निर्माण कर उसी मे फस जाती है। हम और आप भी मकडी की तरह ही इस जाल मे उलझ रहे है। जितना परिग्रह बढ रहा है उतना ही तनाव बढता जा रहा है। व्यक्ति आज सामाजिक प्राणी से अपने दायरे मे बद होता जा रहा है। उसका पारि-वारिक दायरा सीमित होता जा रहा है, बूढे माता-पिता पर किया जाने वाला

खर्च बोझ बनता जा रहा है, प्रेम की गगा सूख रही है, कोई किसी की सहायता करने को तैयार नही है। कचन व कामिनी के चक्कर मे वह भूल गया है कि पैसा पलग व मखमली गद्दे दे सकता है, पर नीद नही, वह दवाइयाँ दे सकता है पर स्वास्थ्य नही, भोजन सामग्री दे सकता है पर भूख नही, लेकिन इसकी चकाचौध इतनी गजब की है कि हमारी सोचने-विचारने की शक्तियाँ कुठित हो रही है। आज पश्चिम के लोगो के उदाहरण हमारे सामने है। उनके पास सब कुछ है लेकिन चैन नही। वहाँ पति को पत्नी पर विश्वास नही और पत्नी को पति पर विश्वास नही, बच्चो को माता-पिता पर विश्वास नही और माता-पिता को बच्चो पर विश्वास नही। वे अब उस द्वन्द्व मे से निकलकर, फकीर की तरह बनकर 'हरे कृष्ण हरे राम' मे लगे है और हम 'हरे कृष्ण हरे राम' के स्थान पर 'हाय पैसा' की ओर लगे है।

हमारे आचार्य भगवन्तो ने छद्मस्थो की इसी कमजोरी को देखते हुए उस परिग्रह रूपी अजगर की पूँछ छोटी करने के लिये उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत का निरूपण किया। परिग्रह का या तो भोग किया जा सकता है या उपभोग। भोग का अर्थ है उसे एक वार उपयोग करना तथा उपभोग का अर्थ है वार-वार उपयोग कर सकना जैसे मकान, वस्त्र आदि।

भोग-उपभोग की वस्तुएँ २६ प्रकार की है—उल्लणविहि, दतणविहि, सचित्तविहि, द्रव्यविहि आदि। इन वस्तुओ की मर्यादा करने से हमारी आकाश के समान फैली इच्छाएँ थाली मे चन्द्रमा के समान हो जायेगी। हम निश्चित सुखी जीवन का सूत्रपात कर सकेंगे। हमारा श्रम व शक्ति का ह्रास नही होगा, स्वास्थ्य की रक्षा कर पायेगे, चैन की नीद सो पायेगे। सामाजिक दृष्टि से भी परिग्रह परिमाण व्रत व उपयोग परिभोग-परिमाण व्रत बहुत लाभकारी है। व्यक्तियो से ही समाज बनता है। स्वार्थी व्यक्तियो से समाज ऐसे कगार पर आ जायेगा जहाँ दूसरे के दु ख-दर्द की किसी को परवाह भी नही होगी। सामाजिक हित गोल हो जायेगा। इसी परिग्रह की वृत्ति से समाज मे आज दहेज आदि प्रवृत्तियो को वढावा मिला है। जिसके परिणामस्वरूप आज कई लडकियो को जीवन भर कुआरी रहने को मजबूर होना पड रहा है तथा दूसरी ओर पैसे के वल से हजारो लडकियो का कौमार्य नष्ट किया जा रहा है। यदि भोग-उपभोग की वस्तुओ को सयमित कर लिया जाय तो यह अनाचार, अत्याचार व सामाजिक जीवन को तहस-नहस करने वाली कुप्रथाएँ अपने आप नष्ट हो जायेगी।

विज्ञान के विकास के साथ भोग-उपभोग की वस्तुओ मे दिनोदिन वढोतरी हो गई है अतएव दहेज जैसी सात्विक सास्कृतिक परम्परा विषम वन गई है। अखवारो मे रोज दहेज के कारण मरने-मारने की घटनाये पढने को मिलती है।

बलात्कार जैसी निकृष्ट घृणित घटनाएँ भी भोग-उपभोग की इच्छा का असयमित होना ही है और तो और इसी भोग-उपभोग की इच्छा ने निरीह पशुओ को मौत के घाट उतारने पर मजबूर कर दिया है। लिपिस्टिक, शेम्पो, चमडे व फर की बनी हुई वस्तुओ के कारण हजारो जानवरो की बलि रोज चढाई जाती है, हजारो मासूम गाये सरे आम कट रही है। इस तरह सामाजिक अपराध व हिसा का बहुत बडा कारण हमारी भोग-उपभोग की इच्छा का विस्तार है।

भोग-उपभोग की इच्छा व्यक्ति व समाज के लिए ही नही राष्ट्र के लिए भी अहितकर है। भोग-उपभोग की वस्तुओ का सग्रह करने के लिये पैसो की आवश्यकता है। इसे एकत्रित करने के लिये राष्ट्र तक की बलि चढा दी जाती है। पजाब मे आज जो कुछ हो रहा है, उसके मूल मे भी यही प्रवृत्ति है जिसका फायदा उठाकर समृद्ध राष्ट्र पैसे के बल पर कुछ लोगो को खरीदकर राष्ट्र विरोधी कार्य करवाते है। सरकारी कार्यालयो से फाइले गायब होना, झूठे अभियोग लगाकर गरीबो को फँसाना व अभियुक्त की रक्षा करना, वस्तु मे मेल-समेल करना, देश के गुप्त रहस्यो को प्रकट करना, योग्य, ईमानदार व्यक्तियो की हत्या करवा देना जैसे अनैतिक कार्य इसी के आधार पर होते है। पैसे से किसी भी व्यक्ति को कभी भी खरीदा जा सकता है।

हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गाधीजी ने इन सारे रोगो की दवा ट्रस्टीशिप बताई। वे सच्चे अर्थो मे जैनी थे। उन्होने भोग-उपभोग की वस्तुओ को व्यक्ति, समाज व राष्ट्र के लिए बीमारी माना और उसका इलाज सम्पत्ति पर स्वामित्व की भावना को समाप्त करना बताया। हम सम्पत्ति के मालिक बनकर नही, उसके ट्रस्टी बनकर रहे। यही उनकी भावना थी।

• □ •

□ सब शुद्धियो मे धन की पवित्रता हो श्रेष्ठ कही गयी है, क्योकि जो धन मे शुद्ध है वही शुद्ध है। —मनु

□ धन जमा करने मे अपनी उम्र को मत खो। धन ठीकरी है और उम्र मोती। —सादी

□ जो जल्दी धनवान वन रहा है, निर्दोष नही हो सकता। —बाइबिल

□ सवसे वड़ा अमीर वह है जो गरीवो का दु.ख दूर करता है और सवसे अच्छा फकीर वह है जो अपने गुजारे के लिए अमीरो का मुँह नही देखता। —सादी

६४ जीवन-व्यवहार में अपरिग्रह

☐ डॉ० अमृतलाल गाँधी

आज विश्व में अशांति का एक बहुत बडा कारण भोग-उपभोग की तीव्र लालसा तथा अधिकाधिक सचय की वृत्ति है। उत्पादन की एक सीमा है परन्तु भोगो की इच्छा असीम है। वास्तव मे मानव की असीम इच्छाओ और तृष्णा की विभीषिका ही परस्पर कलह और सघर्ष का कारण बनती है। हमने सुख बाह्य वस्तुओ मे मान लिया है और हमारी विकृत मनोदशा इस भोग प्रधान विश्व मे चारों ओर फैली हुई परिस्थितियो के कारण और भी वेग से भोगोपभोग की ओर दौडती है। भोगो की प्राप्ति के लिये हमे दूसरो से सघर्ष की स्थिति मे रहने तथा भोग्य वस्तुओ की निरन्तर चिता करने को बाध्य होना पडता है। इससे व्याकुलता बढती है और निराकुलता, जो कि वास्तविक सुख है, हमसे दूर होती जाती है।

परिग्रह परिमाण व्रत

भगवान् महावीर ने इसी कारण समस्त मानवता के सुख के लिये अपरिग्रहवाद का उपदेश दिया जिसकी प्रारम्भिक सीढी परिग्रह परिमाण व्रत है। इसके अनुसार मानव को अपनी आवश्यकताओ की एक सीमा निर्धारित कर उसमे सतुष्ट रहना चाहिये। वस्तुतः अपरिग्रह की चरम परिणति तो दिगम्बरत्व है जहाँ लगोटी तक मे भी ममत्व नही रह जाता है तथापि परिग्रह परिमाण द्वारा इन्द्रियो के विषय एव कषायो पर नियत्रण लगाया जा सकता है। यह स्वेच्छया परिमाण-परिणति ही अपरिग्रहवाद है। यह महावीर द्वारा उपदिष्ट समाजवाद है जिसे व्यक्ति को स्वय लागू करना है। वरबस किसी बाह्य शक्ति द्वारा वलपूर्वक लादा हुआ नियत्रण सुखानुभूति नही करा सकता। परन्तु जो काम अतरग इच्छा से किया जाता है, वही वास्तविक सुख की अनुभूति का कारण बन सकता है। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति को स्वत. ही अपनी इच्छाओ एव आवश्यकताओ को सीमित करते हुए वास्तविक सुख-शांति का मार्ग प्रशस्त करना चाहिये। महात्मा गाँधी द्वारा प्रतिपादित हृदय परिवर्तन का सिद्धान्त इसी से उद्गमित होता है।

महावीर का अपरिग्रह का सदेश

भगवान् महावीर ने आर्थिक विषमता, भोगवृत्ति और शोषण की

बलात्कार जैसी निकृष्ट घृणित घटनाएँ भी भोग-उपभोग की इच्छा का असयमित होना ही है और तो और इसी भोग-उपभोग की इच्छा ने निरीह पशुओ को मौत के घाट उतारने पर मजबूर कर दिया है। लिपिस्टिक, शेम्पो, चमडे व फर की बनी हुई वस्तुओ के कारण हजारो जानवरो की बलि रोज चढाई जाती है, हजारो मासूम गाये सरे आम कट रही है। इस तरह सामाजिक अपराध व हिसा का बहुत बडा कारण हमारी भोग-उपभोग की इच्छा का विस्तार है।

भोग-उपभोग की इच्छा व्यक्ति व समाज के लिए ही नही राष्ट्र के लिए भी अहितकर है। भोग-उपभोग की वस्तुओ का सग्रह करने के लिये पैसो की आवश्यकता है। इसे एकत्रित करने के लिये राष्ट्र तक की बलि चढा दी जाती है। पजाब मे आज जो कुछ हो रहा है, उसके मूल मे भी यही प्रवृत्ति है जिसका फायदा उठाकर समृद्ध राष्ट्र पैसे के बल पर कुछ लोगो को खरीदकर राष्ट्र विरोधी कार्य करवाते है। सरकारी कार्यालयो से फाइले गायब होना, झूठे अभियोग लगाकर गरीबो को फँसाना व अभियुक्त की रक्षा करना, वस्तु मे मेल-समेल करना, देश के गुप्त रहस्यो को प्रकट करना, योग्य, ईमानदार व्यक्तियो की हत्या करवा देना जैसे अनैतिक कार्य इसी के आधार पर होते है। पैसे से किसी भी व्यक्ति को कभी भी खरीदा जा सकता है।

हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गाधीजी ने इन सारे रोगो की दवा ट्रस्टीशिप बताई। वे सच्चे अर्थो मे जैनी थे। उन्होने भोग-उपभोग की वस्तुओं को व्यक्ति, समाज व राष्ट्र के लिए बीमारी माना और उसका इलाज सम्पत्ति पर स्वामित्व की भावना को समाप्त करना बताया। हम सम्पत्ति के मालिक बनकर नही, उसके ट्रस्टी बनकर रहे। यही उनकी भावना थी।

• □ •

□ सब शुद्धियो मे धन की पवित्रता ही श्रेष्ठ कही गयी है, क्योकि जो धन मे शुद्ध है वही शुद्ध है। —मनु

□ धन जमा करने मे अपनी उम्र को मत खो। धन ठीकरी है और उम्र मोती। —सादी

□ जो जल्दी धनवान बन रहा है, निर्दोष नही हो सकता। —बाइबिल

□ सबसे बड़ा अमीर वह है जो गरीबो का दु:ख दूर करता है और सबसे अच्छा फकीर वह है जो अपने गुजारे के लिए अमीरो का मुँह नही देखता। —सादी

६४

जीवन-व्यवहार में अपरिग्रह

☐ डॉ० अमृतलाल गाँधी

आज विश्व मे अशांति का एक बहुत बडा कारण भोग-उपभोग की तीव्र लालसा तथा अधिकाधिक सचय की वृत्ति है। उत्पादन की एक सीमा है परन्तु भोगो की इच्छा असीम है। वास्तव मे मानव की असीम इच्छाओ और तृष्णा की विभीषिका ही परस्पर कलह और सघर्ष का कारण बनती है। हमने सुख वाह्य वस्तुओ मे मान लिया है और हमारी विकृत मनोदशा इस भोग प्रधान विश्व मे चारों ओर फैली हुई परिस्थितियो के कारण और भी वेग से भोगोपभोग की ओर दौडती है। भोगो की प्राप्ति के लिये हमे दूसरो से सघर्ष की स्थिति में रहने तथा भोग्य वस्तुओ की निरन्तर चिता करने को बाध्य होना पडता है। इससे व्याकुलता बढती है और निराकुलता, जो कि वास्तविक सुख है, हमसे दूर होती जाती है।

परिग्रह परिमाण व्रत

भगवान् महावीर ने इसी कारण समस्त मानवता के सुख के लिये अपरिग्रहवाद का उपदेश दिया जिसकी प्रारम्भिक सीढी परिग्रह परिमाण व्रत है। इसके अनुसार मानव को अपनी आवश्यकताओ की एक सीमा निर्धारित कर उसमे सतुष्ट रहना चाहिये। वस्तुतः अपरिग्रह की चरम परिणति तो दिगम्बरत्व है जहाँ लगोटी तक मे भी ममत्व नही रह जाता है तथापि परिग्रह परिमाण द्वारा इन्द्रियो के विषय एव कषायो पर नियत्रण लगाया जा सकता है। यह स्वेच्छया परिमाण-परिणति ही अपरिग्रहवाद है। यह महावीर द्वारा उपदिष्ट समाजवाद है जिसे व्यक्ति को स्वय लागू करना है। बरबस किसी वाह्य शक्ति द्वारा बलपूर्वक लादा हुआ नियंत्रण सुखानुभूति नही करा सकता। परन्तु जो काम अतरग इच्छा से किया जाता है, वही वास्तविक सुख की अनुभूति का कारण बन सकता है। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति को स्वतः ही अपनी इच्छाओ एव आवश्यकताओ को सीमित करते हुए वास्तविक सुख-शांति का मार्ग प्रशस्त करना चाहिये। महात्मा गाँधी द्वारा प्रतिपादित हृदय परिवर्तन का सिद्धान्त इसी से उद्गमित होता है।

महावीर का अपरिग्रह का सदेश

भगवान् महावीर ने आर्थिक विषमता, भोगवृत्ति और शोषण की

समाप्ति के लिये मानव जाति को अपरिग्रह का महान् सदेश दिया। उन्होने कहा—'इच्छाहु आगाससमा अणतया' कि इच्छाएँ आकाश के समान अनत है और यदि व्यक्ति अपनी इच्छाओ पर नियत्रण नही रखता है तो वह शोषक बन जायेगा। सग्रह वृत्ति पाप है। अत यदि मनुष्य अपनी आवश्यकताओ से अधिक वस्तुओ का सग्रह करता है तो वह समाज मे अपवित्रता का सूत्रपात करता है। जैन दर्शन की दृष्टि से सभी परिग्रह हिसा से प्रत्युत्पन्न है क्योकि सग्रह वृत्ति द्वारा व्यक्ति दूसरो के हितो का हनन करता है और इस रूप मे सग्रह या परिग्रह हिसा का ही एक रूप बन जाता है। अत सही अर्थो मे एक अपरिग्रही ही अहिसक होता है। जैन दर्शन मे व्यक्ति की माँग, वासना और शोषण की वृत्ति के नियत्रण के लिये ब्रह्मचर्य, उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत तथा अस्तेय व्रत का विधान किया गया है। वस्तुत: परिग्रह समाज के लिये एक अभिशाप है क्योकि वह समाज मे विषमता उत्पन्न करने वाला है। ईर्ष्या, द्वेष, कलह, असयम आदि इसी की शाखाये-प्रशाखाये है और आज प्रत्येक व्यक्ति इनका शिकार है। अत आधुनिक युग के सदर्भ मे इस सिद्धान्त का महत्त्व सर्वाधिक है।

जैन दर्शन मे दान का महत्त्व

इतना ही नही, महावीर ने तो जिनके पास सग्रह है उन्हे दान का उपदेश दिया है। दान को जैन दर्शन मे अतिथि सविभाग कहा गया है जिसका अभिप्राय है कि जिनके पास है, वे उसे जिनके पास नही है, उन्हे उनका हिस्सा दान कर दे। दान अभावग्रस्त पर कोई अनुग्रह नही है अपितु यह उनका अधिकार है। अत. जिन्हे दान दिया जा रहा है उन्हे वह साधन-सामग्री प्रेम पूर्वक, आदर के साथ व नि स्वार्थ भाव से दी जाय। दान के लिये सम विभाग शब्द का प्रयोग किया गया है। महावीर ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है "असविभागी न हु तस्स मोक्खो" अर्थात् जो व्यक्ति सम विभाग और सम वितरण नही करता, उसकी मुक्ति सम्भव नही है। वस्तुत समविभाग और समवितरण सामाजिक न्याय और आध्यात्मिक विकास के अनिवार्य अग है। जब तक जीवन मे सम-विभाग और समवितरण की वृत्ति नही आती है और अपने सग्रह का विसर्जन नही किया जाता है, तब तक आध्यात्मिक जीवन या समत्व की उपलब्धि भी सम्भव नही होती। महात्मा गाँधी द्वारा प्रतिपादित ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त भी इसी विचारधारा से उद्गमित है।

आवश्यकताओ को सीमित करें

व्यक्ति को अपनी दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति कम-से-कम वस्तुओ का उपयोग करके करनी चाहिये। इन सवके सम्वन्ध मे भी यथाशक्ति नियम लेने चाहिये तथा आत्मा के विकास एव उन्नति की दृष्टि से नियमो मे सशोवन एव

[illegible] इस प्रकार के व्रत आध्यात्मिक और सामाजिक तथा नैतिक और [illegible] दृष्टिकोणों से उपयोगी हैं क्योंकि इससे व्यक्तिगत चरित्र का विकास होता है तथा समाज की समस्याएं सुलझती हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र की गाथा २।१०६ इस प्रकार है—

> "असंतोषम विश्वासमारम्भं. दुःख कारणम् ।
> मत्वा मूर्च्छाफलं कुर्यात्. परिग्रह नियंत्रणम् ॥"

अर्थात् परिग्रह का परिमाण न करने से लोभ-तृष्णा का प्रसार बढ़ने लगता है और इस तरह विशेष आरम्भ-समारम्भ एवं कषायों के बढ़ने से आत्मा की अधोगति होती है। तृष्णा का यदि समुचित नियंत्रण हो तो परिग्रह की उपाधि कम हो सकती है और यह उपाधि जितनी कम होगी उतनी ही आत्मा में शांति होगी और परोपकार, सेवा, स्वाध्याय तथा भगवत्स्मरण का अधिकाधिक लाभ लिया जा सकता है।

परिग्रह परिमाण यदि सामाजिक दृष्टि और सामाजिक सिद्धान्त बन जाय तो साम्यवाद अथवा समाजवाद का विवाद सरलता से शांत हो सकता है। वस्तुतः यह धर्म व्रत अच्छी से अच्छी समाज व्यवस्था का सर्जन करने वाला व्रत है। आधुनिक विश्व मे भी सोवियत रूस, जनवादी चीन आदि साम्यवादी देशो मे उत्पादित वस्तुओ की किस्मे (Varieties) कम हैं अतः वे संग्रह को स्वत ही हतोत्साहित करती है। परन्तु यह बाह्य प्रयोग है जबकि भोगोपभोग का व्रत आभ्यन्तर प्रयोग होने से स्वत. ही अधिक प्रभावशाली होगा।

अपरिग्रह और अहिंसा

वस्तुत महावीर के अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांत ये तीनों सिद्धान्त एक दूसरे से घनिष्ठतया सम्बन्धित है। अहिंसा और अपरिग्रह तो एक ही सिक्के के दो पहलू है। अहिसा का सिद्धान्त अपरिग्रह के आधार में ही लागू पड़ता है। वस्तुत. हमारा जीवन व्यवहार ही इस प्रकार का होना चाहिये कि अहिंसा हमारे जीवन का अग बन जाय।

जैन दर्शन मे अहिसा से अपरिग्रह का मार्ग प्रशस्त किया गया है। यह बात सही है कि गृहस्थ जीवन में रहते हुए हिंसा और परिग्रह आदि से बचा नही जा सकता किन्तु इस सम्बन्ध मे महावीर का उपदेश है कि श्रावक अपनी दृष्टि को ठीक रखे। जो काम वह करे, उसके परिणामों से भलीभांति परिचित हो, आवश्यकता की उसे सही पहचान हो। जीवनयापन के लिए कितनी व किन वस्तुओ की आवश्यकता है? उनको प्राप्त करने के साधन [illegible]

समाप्ति के लिये मानव जाति को अपरिग्रह का महान् सदेश दिया। उन्होने कहा—'इच्छाहु आगाससमा अणतया' कि इच्छाएँ आकाश के समान अनत हैं और यदि व्यक्ति अपनी इच्छाओ पर नियत्रण नही रखता है तो वह शोषक बन जायेगा। सग्रह वृत्ति पाप है। अत. यदि मनुष्य अपनी आवश्यकताओ से अधिक वस्तुओ का सग्रह करता है तो वह समाज मे अपवित्रता का सूत्रपात करता है। जैन दर्शन की दृष्टि से सभी परिग्रह हिसा से प्रत्युत्पन्न है क्योकि सग्रह वृत्ति द्वारा व्यक्ति दूसरो के हितो का हनन करता है और इस रूप मे सग्रह या परिग्रह हिसा का ही एक रूप बन जाता है। अत सही अर्थो मे एक अपरिग्रही ही अहिसक होता है। जैन दर्शन मे व्यक्ति की माँग, वासना और शोषण की वृत्ति के नियत्रण के लिये ब्रह्मचर्य, उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत तथा अस्तेय व्रत का विधान किया गया है। वस्तुत. परिग्रह समाज के लिये एक अभिशाप है क्योकि वह समाज मे विषमता उत्पन्न करने वाला है। ईर्ष्या, द्वेष, कलह, असयम आदि इसी की शाखाये-प्रशाखाये है और आज प्रत्येक व्यक्ति इनका शिकार है। अत. आधुनिक युग के सदर्भ मे इस सिद्धान्त का महत्त्व सर्वाधिक है।

जैन दर्शन में दान का महत्त्व

इतना ही नही, महावीर ने तो जिनके पास सग्रह है उन्हे दान का उपदेश दिया है। दान को जैन दर्शन मे अतिथि सविभाग कहा गया है जिसका अभिप्राय है कि जिनके पास है, वे उसे जिनके पास नही है, उन्हे उनका हिस्सा दान कर दे। दान अभावग्रस्त पर कोई अनुग्रह नही है अपितु यह उनका अधिकार है। अत. जिन्हे दान दिया जा रहा है उन्हे वह साधन-सामग्री प्रेम पूर्वक, आदर के साथ व नि.स्वार्थ भाव से दी जाय। दान के लिये सम विभाग शब्द का प्रयोग किया गया है। महावीर ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है "असविभागी न हु तस्स मोक्खो" अर्थात् जो व्यक्ति सम विभाग और सम वितरण नही करता, उसकी मुक्ति-सम्भव नही है। वस्तुत: समविभाग और समवितरण सामाजिक न्याय और आध्यात्मिक विकास के अनिवार्य अग है। जब तक जीवन मे सम-विभाग और समवितरण की वृत्ति नही आती है और अपने सग्रह का विसर्जन नही किया जाता है, तब तक आध्यात्मिक जीवन या समत्व की उपलब्धि भी सम्भव नही होती। महात्मा गाँधी द्वारा प्रतिपादित ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त भी इसी विचारधारा से उद्‌गमित है।

आवश्यकताओं को सीमित करें

व्यक्ति को अपनी दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति कम-से-कम वस्तुओ का उपयोग करके करनी चाहिये। इन सबके सम्बन्ध मे भी यथाशक्ति नियम लेने चाहिये तथा आत्मा के विकास एव उन्नति की दृष्टि से नियमो मे सशोधन एव

परिवर्तन करते रहना चाहिये। इस प्रकार की बात व्यक्तिगत और सामाजिक तथा भौतिकता और नैतिकता सभी दृष्टिकोणो से उपयोगी है क्योकि इससे व्यक्तिगत चरित्र का विकास होता है तथा समाज की समस्याये सुलझती है। इस सम्बन्ध मे आचार्य हेमचन्द के 'योगशास्त्र' की गाथा २/१०६ इस प्रकार है—

"असतोपम विश्वासभारम्भ, दु.ख कारणम्।
मत्वा मूर्च्छाफल कुर्यात्, परिग्रह नियत्रणम्॥"

अर्थात् परिग्रह का परिमाण न करने से लोभ-तृष्णा का दबाव बढने लगता है और इस तरह विशेष आरम्भ-समारम्भ एव कषायो के बढने से आत्मा की अधोगति होती है। तृष्णा का यदि समुचित नियत्रण हो तो परिग्रह की उपाधि कम हो सकती है और यह उपाधि जितनी कम होगी उतनी ही आत्मा मे शाति होगी और परोपकार, सेवा, स्वाध्याय तथा भगवत्स्मरण का अधिकाधिक लाभ लिया जा सकता है।

परिग्रह परिमाण यदि सामाजिक दृष्टि और सामाजिक सिद्धान्त बन जाय तो साम्यवाद अथवा समाजवाद का विवाद सरलता से शात हो सकता है। वस्तुतः यह धर्म व्रत अच्छी से अच्छी समाज व्यवस्था का सर्जन करने वाला व्रत है। आधुनिक विश्व मे भी सोवियत रूस, जनवादी चीन आदि साम्यवादी देशो मे उत्पादित वस्तुओ की किस्मे (Varieties) कम है अत वे सग्रह को स्वतः ही हतोत्साहित करती है। परन्तु यह बाह्य प्रयोग है जबकि भोगोपभोग का व्रत आभ्यन्तर प्रयोग होने से स्वत. ही अधिक प्रभावशाली होगा।

अपरिग्रह और अहिसा

वस्तुत महावीर के अहिसा, अपरिग्रह और अस्तेय के तीनो सिद्धान्त एक दूसरे से घनिष्ठतया सम्बन्धित है। अहिसा और अपरिग्रह तो एक ही सिक्के के दो पहलू है। अहिसा का सिद्धान्त अपरिग्रह के व्यवहार मे ही लागू पडता है। वस्तुतः हमारा जीवन व्यवहार ही इस प्रकार का होना चाहिये कि अहिसा हमारे जीवन का अग बन जाय।

जैन दर्शन मे अहिसा से अपरिग्रह का मार्ग प्रशस्त किया गया है। यह बात सही है कि गृहस्थ जीवन मे रहते हुए हिसा और परिग्रह आदि से बचा नही जा सकता किन्तु इस सम्बन्ध मे महावीर का उपदेश है कि श्रावक अपनी दृष्टि को ठीक रखे। जो काम वह करे, उसके परिणामो से भलीभाँति परिचित हो, आवश्यकता की उसे सही पहचान हो। जीवनयापन के लिये कितनी व किन वस्तुओ की आवश्यकता है? उनको प्राप्त करने के क्या साधन

है ? तथा उनके उपभोग से दूसरे के हितो की क्या हानि है ? आदि बातो पर विचार कर वह परिग्रह करने में प्रयुक्त हो तो इससे कम से कम कर्मो का बन्ध उसे होगा। श्रावक के बारह व्रतो का पालन गृहस्थ को इसी निस्पृही वृत्ति का आभास कराता है और इसी से उसके आत्मज्ञान की समझ विकसित होती है।

अत: हम निष्कर्ष रूप से इस बात को कह सकते है कि अपरिग्रह की विचारधारा का आधार प्रजातात्रिक, धर्म निरपेक्षता एव समाजवाद है। इसी विचारधारा पर महात्मा गाँधी ने अपने हृदय परिवर्तन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।

□ □ □

□ सबसे बड़ा दान आदमी को इस लायक बना देना है कि उसे दान न लेना पड़े।

—तालमुद

□ जो हाथ दुआ के वक्त खुदा की तरफ उठाये जाते है और मदद के वक्त बगलो मे दबा लिये जाते है, उनसे क्या फायदा ?

—सादी

□ जो कुछ हम दूसरों को देते है, वास्तव मे वह सब हम अपने आपको दे रहे है। अगर इस तथ्य को पहचान लिया तो फिर ऐसा कौन होगा जो दूसरों को न दे ?

—महर्षि रमण

□ जो किसी को न देकर आप ही खाता है, वह नष्ट हो जाता है।

—सामवेद

□ दानी का धन घटता नही।

—ऋग्वेद

□ दानी के चरित्र का पता दान की अपेक्षा दान देने के तरीके से अधिक लगता है।

—लैवेटर

६५

भूख जो अतृप्त ही रही*

श्री लादूलाल जैन

प्राकृतिक सौदर्य से परिपूर्ण एक छोटा सा गाँव था। वहाँ के निवासी सरल, शात एव सुखी जीवनयापन करते थे। वही एक छोटा सा परिवार था— एक कृषक, उसकी पत्नी और तीन बच्चे। कृषक तथा उसकी पत्नी बड़े परिश्रमी थे। अपनी ४० बीघा जमीन मे कृषि करते, प्राप्त उपज से गृहस्थी चलाते। जो कुछ मिलता, सतोषपूर्वक जीवन बिताते। जीवन का क्रम आनदपूर्वक निराबाध गति से चल रहा था।

एक दिन उस कृषक परिवार मे उनका एक सम्बन्धी मिलने आया। कृषक ने आगन्तुक की आवभगत की। काफी समय पश्चात् मिलकर दोनो को अत्यधिक प्रसन्नता हुई। रात्रि मे बहुत समय तक बातचीत का दौर चलता रहा। बातो ही बातो मे कृषक ने अतिथि से पूछा, "इस समय आप कहाँ होकर आये है ?" उसने कहा, "मै इस समय स्वर्णभूमि से होकर आ रहा हूँ।"

"स्वर्णभूमि ! यह कौन सी भूमि है तथा कहाँ पर है ?" कृषक ने पूछा।

अतिथि बोला, "प्रिय बन्धु, वह भूमि वास्तव मे स्वर्णभूमि ही है। वह सोना उगलती है। वह यहाँ से लगभग पचास मील दूर है।"

"आप वहाँ क्यो गये थे ?"

"सुना था वह भूमि बहुत उपजाऊ है, वहाँ के लोग बहुत सीधे-सादे है। वहाँ चाहे जितनी भूमि बिना किसी मूल्य के प्राप्त की जा सकती है। इच्छानुसार चाहे जितनी भूमि प्राप्त कीजिए, किसी प्रकार की बाधा नही।"

"आश्चर्य, महान् आश्चर्य ! आपने कितनी भूमि वहाँ पर प्राप्त की ?"

"बीस बीघा।"

---

*टालस्टाय की कहानी 'How much land does a man need ?' के आधार पर लिखित।

बातचीत चलती रही। अर्द्ध-रात्रि पश्चात् दोनों सोये। प्रातःकाल होने पर आगन्तुक अपने स्थान पर लौट गया।

× × ×

कृषक के मन में काफी उथल-पुथल मच गई। "स्वर्णभूमि! वह भी बिना मूल्य के। कैसे है वहाँ के लोग जो बिना मूल्य के ही भूमि यो ही लुटा देते है? क्या यह बात सत्य हो सकती है? एक बार प्रयास किया जावे?"

"अभी मेरे पास किस बात की कमी है। जीवन सुख से बीत रहा है। क्यो व्यर्थ की झझट मे पड़ूँ?"

"पगले, ऐसा स्वर्ण अवसर कब प्राप्त होने वाला है? तू ही क्यों तेरे बेटे-पोते तक चैन की बंसी बजायेगे। तेरा क्या जाता है? एक बार प्रयास तो कर।"

अतर्द्वन्द्व चलता रहा। तृष्णा ने सतोष पर विजय पाई।

कुछ दिन गृहस्थी तथा कारोबार ठीक करने मे लग गये। स्वय की भूमि मे से आधी भूमि बेचकर नकद राशि अपनी अण्टी मे ली, शायद नई भूमि लेने मे आवश्यकता पड़ जावे। पत्नी तथा बच्चो को आश्वासन दिया कि वह स्वर्ण-भूमि मे कुछ भूमि प्राप्त कर शीघ्र लौटेगा।

× × ×

चल पड़ा राही अपनी मंजिल पर! मन अनेक आशाओ एव उमगो से ओत-प्रोत था। भविष्य के सुनहले स्वप्न उसके पैरो को द्रुत गति दे रहे थे। कल्पना के अश्व बेलगाम दौड रहे थे। "खूब भूमि होगी मेरे पास। कुछ ही वर्षो मे लक्ष्मी मेरे चरणो मे लौटेगी। एक विशाल भवन बनाऊँगा जिसमे मेरे पौत्र-प्रपौत्र सुख से रहेगे। रोजमर्रा के झझटो से छुट्टी मिल जावेगी। समाज में मेरे समान कौन वैभवशाली होगा?"

दो दिन की पद-यात्रा के बाद कृषक जा पहुँचा स्वर्णभूमि में। बाग-बगीचो, हरे-भरे खेतों को देख उसका मन-मयूर नाच उठा। चारो ओर पक्षी चह-चहा रहे थे। एक अद्भुत सौन्दर्य-साम्राज्य वहाँ व्याप्त था। दो दिन की थकान न जाने कहा लुप्त हो गई?

ग्राम मे पहुँचते ही ग्रामवासी आ पहुँचे उसका स्वागत करने। उन्मुक्त हृदय से उन्होने उसका स्वागत किया। पारस्परिक अभिवादन के बाद वार्ता का सिलसिला चल पडा। कृपक बोला, "मैंने सुना है कि आपके यहाँ भूमि

मिलती है। भूमि कैसी है, किस भाव से मिलती है ? एक व्यक्ति को आप कितनी भूमि दे सकते है ? कृपा करके सभी बाते विस्तार से बताने का कष्ट करे।"

ग्राम के प्रमुख ने कहा, "आप भूमि के लिए चिता न करें। आप रात्रि शांति से व्यतीत करे। कल जैसा आप चाहेगे, वैसा हो जाएगा।"

पर कृषक को चैन कहाँ था ? बोला, "मै बड़ा आभारी हूँ आपका। यदि आपको कोई बाधा न हो तो भूमि के बारे मे बताने की कृपा करे।"

प्रमुख कहने लगा, "गॉव के पास ही स्वर्ण रूपा नदी बहती है। उसके पार अथाह भूमि है। यह भूमि थोड़े से परिश्रम से ही सोना उगलती है। वर्ष मे तीन फसले देती है। उपज की कोई सीमा नही। रही मूल्य की बात। हम भूमि का कुछ भी मूल्य नही लेते। जो बोता है, भूमि का वही स्वामी होता है।"

"मुझे कितनी भूमि मिल सकेगी ?" कृषक ने उत्सुकता से पूछा।

प्रमुख ने कहा, "जैसा मैने आपको बताया। यहॉ भूमि की कोई कमी नही है। आप चाहे जितनी ले सकते है। न उसका कुछ मूल्य है। आप कल प्रात: सूर्योदय से पूर्व उस सामने वाले पहाड़ पर आ जाइए। सूर्योदय होते ही उस पहाड से नीचे उतर कर सूर्यास्त होने से पूर्व तक जितनी भूमि आप चल कर पार कर लेगे तथा लौटकर पहाड़ के शिखर को छू लेगे, वह सब भूमि आपकी हो जावेगी। न भूमि का कोई मूल्य, न कोई लगान। शर्त केवल यही है कि आप दिन भर चलकर चाहे जितनी भूमि पार कर ले, आपको सूर्यास्त से पूर्व पहाड़ पर पहुँच कर शिखर को छूना है, तभी आप उसके स्वामी हो सकेगे।"

कृषक ने सुना और दग रह गया। कितने भोले-भाले और सांसारिक प्रपचो से शून्य है ये ग्रामवासी ! उसने सोचा। उनकी बात विश्वास में आने लायक कम ही थी। पर जिस सहजता से वह कही गई थी, उस पर अविश्वास भी नही किया जा सकता था।

कृषक ने रात मे गहरी निद्रा लेने की कोशिश की ताकि प्रात. तरो-ताजा होकर उठे। पर मन में अनेक सकल्प-विकल्प उठ रहे थे। सुखद भविष्य की कल्पना उसकी निद्रा मे वाधा डाल रही थी। अपने जीवन की परम आकांक्षा पूरी करने वह जा रहा था। उसने जैसे—तैसे रात्रि पूरी की। पौ-फटने से पूर्व वह जाग उठा।

सूर्योदय के पूर्व ही वह पहाड़ के शिखर पर जा पहुँचा। अनेक ग्रामवासी

तथा प्रमुख वहाँ आ पहुँचे थे। प्रमुख ने सारी प्रक्रिया कृषक को फिर से समझा दी तथा उसके प्रति अपनी हार्दिक शुभ कामनाएँ व्यक्त की।

× × ×

भगवान् भास्कर के उदय होते ही चल पडा कृषक अपनी मंजिल पर। आशाओ एव उमगो का अथाह समुद्र हृदय मे उमड रहा था। भगवान् ने वह दिन आज ला ही दिया, जब वह अपार भूमि का स्वामी हो जावेगा। वह किस तरह अपनी कृतज्ञता भगवान् के प्रति व्यक्त करे ?

द्रुतगति से पहाड से नीचे उतरा। अपने चारो ओर फैली हुई विशाल शस्य-श्यामल भूमि का अवलोकन किया। सोचा—धीरे-धीरे चलकर तो वह बहुत कम भूमि पार कर पायेगा। अत पूरी गति से दौडकर पार करने का निश्चय किया। पूरी शक्ति लगाकर तेज दौडना प्रारम्भ किया। प्रातःकाल का समय था। दस बजते-बजते बहुत सी भूमि दौडकर पार करली। भूख की कुछ बाधा हुई। साथ मे रोटी बधी हुई थी। पर सोचा—रोटी खाने मे समय क्यो नष्ट किया जावे ? इतने समय मे कई बीघा भूमि पार कर लूँगा। अतः दौड चालू रही।

मध्याह्न का प्रखर सूर्य अपनी तेज ज्वाला से पृथ्वी को झुलसाने लगा। कृषक पसीने से तर-बतर हो रहा था। भूख भी बढती जा रही थी। पर विश्राम के लिए फुरसत कहाँ थी ? तीसरा प्रहर हुआ। एकदम कृषक को ध्यान आया कि अभी तो उसने भूमि की केवल लम्बाई ही पार की है। बिना चौडाई के भूमि का क्षेत्र कैसे बनेगा ? अत वह चौडाई पार करने के लिए दौडने लगा। पर जितनी लम्बाई वह अब तक दौडकर पार कर चुका था, उतनी चौडाई पार करने के लिए न समय था और न शक्ति ही। अत थोड़ी सी चौड़ाई पार करने के अलावा कोई चारा न था। एक ओर सूर्य की प्रचड गर्मी, दूसरी ओर भूख और थकान उसे दौडने में बाधक हो रही थी। पर रुके तो कैसे ? समय भागा जा रहा था।

पर अनन्त का राही भागा जा रहा था। कभी वह सूर्य की ओर देखता और कभी पहाड के शिखर की ओर। पूरा साहस बटोर कर अपने गतव्य तक पहुँचने का प्रयास कर रहा था वह। सूर्य ज्यो-ज्यो अस्ताचल की ओर बढ रहा था, आशाओ-निराशाओ के उतार-चढाव उसके मन मे उथल-पुथल मचा रहे थे।

"क्यो मैने वैठे-ठाले यह झंझट मोल लिया। क्या कमी थी मेरे जीवन मे ? यदि सूर्यास्त के पूर्व पहाड के शिखर पर नही पहुँचा तो जीवन के सारे

अरमान धरे-धराये रह जायेंगे। क्या करूँ, किससे अपनी व्यथा कहूँ ? खैर, अब तो मजिल निकट ही है। हे भगवन्! मुझे शक्ति दो, गति दो जिससे मै अपनी यात्रा मे सफल हो सकूँ।"

राही हॉफ रहा था। पैर साथ नही दे रहे थे। एक बार फिर पहाड़ की चोटी की ओर देखा। ऊपर खडे ग्रामवासी तथा प्रमुख उसे जल्दी से ऊपर पहुँचने का सकेत कर रहे थे। राही ने पूरा दम लगाकर प्रयास किया। जा पहुँचा चोटी के पास। लेटकर उसे छू ही लिया। चारो ओर हर्ष की तालियाँ बज उठी। पर ज्यो ही उसने चोटी को छुआ, उसके पैर के नीचे का एक पत्थर खिसक गया। उसके खिसकने के साथ ही, उसका पैर फिसला और वह अबाध गति से लुढकता हुआ पहाड़ की तलहटी मे गहरे गड्ढे मे जा गिरा और उसके प्राण पखेरू उड़ गये।

स्वर्ण भूमि के वासी तथा प्रमुख नीचे आये और मृत कृषक को देखा और शोक व्यक्त किया। प्रमुख ने आदेश दिया, "इसको यही गाड दो। इसे इतनी ही भूमि की आवश्यकता है।"

□ □ □

□ नौका जल मे रहते हुए पार कर सकती है, परन्तु नौका मे जल आते ही उसकी पार करने की क्षमता नष्ट हो जाती है, इसलिए सावधान रहना चाहिए कि कही नौका में जल न आने पाये। इसी प्रकार साधक ससार मे भले ही रहे, किन्तु संसार का माया-मोह साधक के मन मे नही रहना चाहिये।

□ श्रीमन्त तिजोरियाँ भरते जा रहे है, परन्तु इन तिजोरियो की फूटी-कौड़ी भी साथ नही जाने वाली है। अगर साथ ले जाना है तो कर्तव्य-धन, सेवा-धन, दया-धन और परोपकार-धन से अपनी तिजोरियाँ भर लो। यही धन साथ जाने वाला है; रुपयो, रत्नो और मुहरो से भरी तिजोरियाँ साथ जाने वाली नही है।

□ **साध्वी श्री विचक्षणश्रीजी**

विभिन्न धर्मों में अपरिग्रह

○ जो आदमी खुद सजीव या निर्जीव चीजो का संग्रह करता है, दूसरो से ऐसा संग्रह कराता है या दूसरों को ऐसा संग्रह करने की सम्मति देता है, उसका दु ख से कभी भी छुटकारा नही हो सकता।

—जैन धर्म : सूत्रकृतांग १/१/१/२

○ तृष्णा की नदियाँ मनुष्य को वहुत प्यारी और मनोहर लगती है। जो इनमे नहाकर सुख खोजते है, उन्हे बार-बार जन्म, मरण और बुढापे के चक्कर में पड़ना पड़ता है।

—बौद्ध धर्म तण्हावग्गो २४/८

○ तू जब भोज दे तो अपने मित्रों, भाइयों, कुटुम्बियो या धनी पडौसियों को मत खिला। कही वे तुझे भोज देकर अपना बदला न चुका दे। तू भोज दे कगालो, लूलो, लगडो और अन्धो को। उनके पास वदला देने को कुछ न होगा, पर तुझे उसका पुण्यफल मिलेगा।

—ईसाई धर्म : लूका १४/१२

○ जो लोग बेईमानी से अनाथों की दौलत हडप लेते हैं, वे अपने पेट में आग भर रहे है और उन्हे दोजख की आग मे जलना पड़ेगा।

—इस्लाम धर्म : कुरान शरीफ़ ४/१०

○ जो पैसा दान या दया के कामों मे खर्च नही किया जाता, वह दुष्ट का खजाना है।

—पारसी धर्म : पहेलवी टैक्स्ट्स

○ जब तू अपने पके खेत को काटे और भूल से खेत मे एक पूला छूट जाय तो उसे लेने के लिए मत लौट। उसे परदेशी, अनाथ और विधवा के लिए पड़ा रहने दे ताकि परमेश्वर तेरे सब कामो मे तुझे आशीर्वाद दे।

—यहूदी धर्म : व्यवस्था विवरण २४/१९

○ तू सन्तोष की मुद्रा धारण कर। श्रम की झोली ले ध्यान की विभूति लगा। काल ही तेरी गुदड़ी है। काया तेरी कुंवारी रहे, निष्कलक रहे, पवित्र रहे। विश्वास ही तेरा डडा हो। सवको तू अपनी जमात का मान। मन को तू जीत ले, मानो तूने सारा जग जीत लिया।

—सिक्ख धर्म : जपुजी साहिब

○ **संकलन—तृप्ति मेहता**

प्रवचनकार/लेखक

१. **आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा०**—प्रसिद्ध जैन आचार्य, आगमवेत्ता और शास्त्रज्ञ। इनके विचार 'गजेन्द्र व्याख्यानमाला' से संकलित है।

२ **आचार्य श्री नानालालजी म० सा०**—प्रसिद्ध जैन आचार्य, आगमवेत्ता और शास्त्रज्ञ। इनके विचार 'जिणधम्मो' से सकलित है।

३ **आचार्य श्री जीतमलजी म० सा०**—जैन आचार्य, आगमवेत्ता और शास्त्रज्ञ। 'जैन धर्म की मौलिक उद्भावनाएँ' से विचार सकलित।

४. **पं० रत्न श्री हीरामुनि**—प्रबुद्ध चिन्तक और वक्ता, आचार्य श्री हस्तीमल जी म० सा० के विद्वान् शिष्य। 'व्रत प्रवचन सग्रह' से विचार सकलित।

५. **मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'**—जैनमुनि, लेखक और कवि। स्व० युवाचार्य श्री मधुकर मुनि के शिष्य।

६. **श्री राजेन्द्र मुनि शास्त्री**—जैनमुनि, शास्त्रज्ञ, लेखक। उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि के शिष्य।

७. **श्री सत्यनारायण गोयनका**—प्रमुख तत्त्व चिन्तक और प्रखर वक्ता, विपश्यना-साधना के आचार्य। इनके विचार 'धर्मज्योति' से सकलित है।

८ **स्वामी रामसुखदास**—रामस्नेही सम्प्रदाय से सम्बद्ध अनुभवी सत और प्रखर वक्ता। इनके विचार 'कल्याणकारी प्रवचन' से संकलित है।

९ **आचार्य रजनीश**—मौलिक चिन्तक, तेजस्वी वक्ता, प्रसिद्ध ध्यान योगी। इनके विचार 'महावीर : परिचय और वाणी' से सकलित है।

१०. **श्री जी० एस० नरवानी**—उप सचिव, राज्यपाल, राजस्थान, जयपुर।

११. **डॉ० महेन्द्रसागर प्रचण्डिया**—प्रसिद्ध जैन विद्वान्, चिन्तक और वक्ता। वार्ष्णेय कॉलेज, अलीगढ़ (उ० प्र०) मे हिन्दी प्राध्यापक।

१२. **डॉ० दयानन्द भार्गव**—प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक, प्रोफेसर एव अध्यक्ष, सस्कृत विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर।

१३. **श्री हरिभाई कोठारी**—तत्त्वचिन्तक और प्रखर वक्ता, जयांक प्रकाशन ८१/६, मलाबार हिल रोड, मुलुण्ड कॉलोनी, वम्वई–४०००८२।

१४. **श्री धर्मचन्द जैन**—टीचरफैलो, सस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

१५ **डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'**—लेखक, कवि और समीक्षक, मंगल कलश, ३९४, सर्वोदय नगर, आगरा रोड, अलीगढ (उ० प्र०)।

१६ **श्री जशकरण डागा**—तत्त्व चिन्तक और स्वाध्यायी, संघपुरा, टोंक।

१७. **डॉ० शान्ता भानावत**—प्रिन्सिपल, वीर बालिका कॉलेज, जयपुर ।

१८. **श्री अरुण जोशी**—प्राध्यापक और लेखक, पुष्प सोसायटी, हिल ड्राइव, भावनगर-३६४००२ (गुजरात) ।

१९. **श्री रमेश मुनि शास्त्री**—जैनमुनि, लेखक और चिन्तक, उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि के विद्वान् शिष्य ।

२० **श्री कन्हैयालाल लोढ़ा**—प्रबुद्ध चिन्तक, लेखक और स्वाध्यायी साधक, अधिष्ठाता—श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान, बजाज नगर, जयपुर ।

२१. **डॉ० भीकमचन्द प्रजापति**—प्राध्यापक, बागड़ कॉलेज, डीडवाना ।

२२. **डॉ० नेमीचन्द जैन**—प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक, सपादक 'तीर्थंकर', पत्रकार कॉलोनी, इन्दौर ।

२३. **श्री फूलचन्द मेहता** चिन्तक और स्वाध्यायी, अशोकनगर, उदयपुर ।

२४. **डॉ० रामजीसिंह**—प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक, अध्यक्ष, गाधी विचार विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर (बिहार) ।

२५. **महात्मा गाँधी**—राष्ट्रपिता, सत्य और अहिसा के अनूठे प्रयोग-शिल्पी, इनके विचार 'मगल प्रभात' पुस्तक से सकलित है ।

२६. **श्री मदनलाल कटारिया**—अध्यापक और लेखक, अरणोद ।

२७. **डॉ० सी० एम० जैन**—प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक, निदेशक-पत्राचार अध्ययन महाविद्यालय, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर ।

२८. **डॉ० नरेन्द्र भानावत**—चिन्तक और लेखक, 'जिनवाणी' के सपादक, राज० विश्वविद्यालय, जयपुर के हिन्दी विभाग मे एसोशिएट प्रोफेसर ।

२९. **श्री चाँदमल कर्णावट**—प्रसिद्ध तत्त्वचिन्तक, लेखक और स्वाध्यायी साधक, ३५, अहिसापुरी, उदयपुर ।

३०. **श्री केशरीकिशोर नलवाया**—लेखक, ५२८/७, नेहरूनगर, इन्दौर ।

३१. **पं० शोभाचन्द्र जैन**—लेखक, ७३, राजमहल कॉलोनी, इन्दौर ।

३२. **श्री केवलमल लोढ़ा**—प्रमुख स्वाध्यायी, ए-८, महावीरनगर, जयपुर ।

३३. **डॉ० ए० बी० शिवाजी**—विचारक और लेखक, दर्शन शास्त्र के प्राध्यापक, २७, रवीन्द्रनगर, उज्जैन ।

३४ **डॉ० निजामुद्दीन**—प्रमुख लेखक और समीक्षक, इस्लामिया कॉलेज, श्रीनगर (कश्मीर) मे हिन्दी विभागाध्यक्ष ।

३५. **श्री श्रीचन्द गोलेछा**—प्रमुख रत्न व्यवसायी, तत्त्व चिन्तक और स्वाध्यायी, सी-२३, भगवानदास रोड, सी-स्कीम, जयपुर ।

३६. **युवाचार्य श्री मधुकर मुनि**—प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक। इनके विचार 'साधना के सूत्र' से सकलित है।

३७. **श्री रतन मुनि**—जैनमुनि, प्रबुद्ध चिन्तक, लेखक और वक्ता। इनके विचार 'साधना का राजमार्ग' से संकलित है।

३८. **स्वामी शरणानन्द**—मौलिक विचारक और तत्त्व चिन्तक, अनुभवी सत। इनके विचार 'दर्शन और नीति' से संकलित है।

३९. **श्री केदारनाथ**—प्रबुद्ध चिन्तक और मौलिक विचारक। इनके विचार 'विवेक और साधना' से सकलित है।

४०. **श्री कि० घ० मशरूवाला**—प्रमुख सर्वोदयी विचारक और लेखक। इनके विचार 'संसार और धर्म' से सकलित है।

४१. **श्री भगवानदास केला**—प्रमुख विचारक और लेखक। इनके विचार 'मालकियत का विसर्जन' से संकलित है।

४२. **श्री जवाहरलाल जैन**—सर्वोदयी विचारक और लेखक। विनोबा ज्ञान मन्दिर, बापूनगर, जयपुर–१५।

४३. **श्री रणजीतसिंह कूमट**—प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक। शिक्षा सचिव, राजस्थान सरकार, जयपुर।

४४. **डॉ० सी० एस० बरला**—चिन्तक और लेखक, राजस्थान विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग मे एसोशिएट प्रोफेसर।

४५. **दादा धर्माधिकारी**—प्रमुख सर्वोदयी विचारक और मौलिक लेखक। इनके विचार 'सर्वोदय दर्शन' से सकलित है।

४६. **श्री नारायण देसाई**—प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक, प्राचार्य, सम्पूर्ण क्राति विद्यालय, बेड़छी–३९४६४१।

४७. **डॉ० उम्मेदमल मुनोत**—चिकित्सक और लेखक, सआदतगज, लखनऊ।

४८. **डॉ० विश्वंभरनाथ उपाध्याय**—प्रबुद्ध लेखक और समीक्षक, सेवानिवृत्त प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, राज० विश्वविद्यालय, जयपुर।

४९. **डॉ० प्रेमसुमन जैन**—प्रबुद्ध लेखक और चिन्तक, अध्यक्ष, जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग, सुखाडिया वि० वि०, उदयपुर।

५०. **श्री आनन्द काश्यप**—प्रबुद्ध चिन्तक और लखक, प्राध्यापक, समाजशास्त्र विभाग, राजस्थान वि० वि०, जयपुर।

५१. **डॉ० नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम'**—प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक, प्राध्यापक, अग्रेजी विभाग, लालबहादुर शास्त्री कॉलेज, जयपुर।

५२. **श्री के० एल० पोकरना**– व्याख्याता, स्वास्थ्य शिक्षा, निवारक एवं सामाजिक चिकित्सा विभाग, सवाई मानसिंह मेडिकल कॉलेज, जयपुर।

५३. **श्री संजीव भानावत**—सहायक प्रोफेसर, पत्रकारिता विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर–३०२००४

५४. **श्री उदय जैन**—चिन्तक और लेखक, ब–८, विश्वविद्यालय शिक्षक आवास, ए-बी. रोड, इन्दौर।

५५. **श्री धन्ना मुनि**—आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० के सुशिष्य

५६. **श्री सौभाग्यमल श्रीश्रीमाल**– प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक, बी-८१, राजेन्द्र मार्ग, बापूनगर, जयपुर–३०२०१५

५७. **मुनि श्री रूपचन्द**—जैन मुनि, प्रबुद्ध चिन्तक, लेखक और कवि

५८. **श्री काशिनाथ त्रिवेदी**—प्रबुद्ध विचारक, लेखक और शिक्षाविद्, गाँव पीपल्याराव, इन्दौर-४५२००१

५९. **डॉ० राजेन्द्रस्वरूप भटनागर**—चिन्तक और लेखक, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के दर्शन शास्त्र विभाग मे एसोशियेट प्रोफेसर

६०. **डॉ० धनराज चौधरी**—लेखक और कथाकार, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के भौतिक शास्त्र विभाग मे सहायक प्रोफेसर।

६१. **डॉ० वीरेन्द्र शेखावत**—चिन्तक और लेखक, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के दर्शन शास्त्र विभाग में सहायक प्रोफेसर।

६२. **श्री मानमल कुदाल**—प्रभारी, आगम,अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान, सुन्दरवास, उदयपुर।

६३. **श्रीमती सुशीला बोहरा**—स्वाध्यायी एव लेखिका, परियोजना निदेशक, जिला महिला विकास अभिकरण, जोधपुर

६४. **डॉ० अमृतलाल गाँधी**—विचारक और लेखक, जोधपुर विश्वविद्यालय के राजनीति शास्त्र विभाग मे रीडर।

६५. **श्री लादूलाल जैन**—लेखक, एस-६ (५६) ज्योति मार्ग, बापूनगर, जयपुर।

□ □ □

परिग्गह निविट्ठाणं वेर तेसि पवड्ढई

—सूत्रकृतांग १/९/३

जो परिग्रह (संग्रहवृत्ति) में फँसे है, वे संसार में अपने प्रति वैर ही बढ़ाते है।